UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186644

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No H2494/D234 Accession No. H2857

Author दत्त, जोगेशचन्द्र, बाजपेयी, कृष्णदत्त

Title उत्तरप्रदेश में जाट इतिहास का विकास

This book should be returned on or before the date last marked below.

उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास

हिंदी परामर्श समिति ग्रंथमाला—६

उत्तर प्रदेश में
बौद्ध धर्म का विकास

डा० नलिनाक्ष दत्त, एम. ए, पी-एच. डी.,
अध्यक्ष, पाली विभाग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय
तथा
श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम. ए.,
अध्यक्ष, पुरातत्त्व संग्रहालय,
मथुरा

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बसन्टेण्ड,) हैदराबाद ८
प्रकाशन शाखा
उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९५६

मूल्य
छः रुपये

मुद्रक—पृथ्वीनाथ भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस

प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप में हिंदी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किंतु इसमें हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विशेष उत्तरदायित्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। हमें संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिंदी को न केवल सभी राज-कार्यों में व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिंदी में वाङ्मय के सभी अवयवों पर प्रमाणित ग्रंथ हों और यदि कोई व्यक्ति केवल हिंदी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अंतर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिंदी के ग्रंथों के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता में एक हिंदी परामर्श समिति की स्थापना की गई है। यह समिति विगत वर्षों में हिंदी के ग्रंथों को पुरस्कृत करके साहित्यकारों का उत्साह बढ़ाती रही है और अब इसने पुस्तक-प्रणयन का कार्य आरंभ किया है।

समिति ने वाङ्मय के सभी अंगों के संबंध में पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन-कार्य अपने हाथ में लिया है। इसके लिए एक पंच-वर्षीय योजना बनाई गई है, जिसके अनुसार ५ वर्षों में ३०० पुस्तकों का प्रकाशन होगा। इस योजना के अंतर्गत प्रायः वे सब विषय ले लिए गए हैं जिन पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य में ग्रंथ प्राप्त हैं। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से प्राथमिकता उसी विषय अथवा उन विषयों को दी जाय जिनकी हिंदी में नितांत कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरभ करने का यह आशय नही है कि व्यवसाय के रूप मे यह कार्य हाथ मे लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रथ प्रकाशित करना चाहते है जिनका प्रकाशन कतिपय कारणो से अन्य स्थानों से नही हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रो से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भडार को परिपूर्ण करने मे उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित् योगदान देने मे समर्थ होगा।

प्रस्तुत पुस्तक हिंदी परामर्श समिति-ग्रथमाला का छठा ग्रथ है। बौद्ध धर्म के सर्वांगीण उन्नयन मे उत्तर प्रदेश का अत्यत महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इस प्रदेश मे बौद्ध धर्म, दर्शन, साहित्य एव कला के उद्भव तथा विकास का विवेचन अधिकारी विद्वानो द्वारा प्रथम बार विस्तृत रूप मे उपस्थित किया गया है।

भगवती शरण सिंह
सचिव
हिंदी परामर्श समिति

विषय-सूची

	विषय	पृष्ठ
१	उत्तर प्रदेश के प्राचीन राज्य	१
२	बुद्ध के पूर्व धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति	१५
३	गौतम बुद्ध का प्रारंभिक जीवन	२८
४	बुद्ध का धर्म-प्रचार	५३
५	कोसल के ब्राह्मण	९५
६.	बुद्ध तथा राजा प्रसेनजित् और उदयन	१०७
७	उपासको की साधना	११६
८.	भिक्षुओ की क्रमिक साधना-पद्धति	१२५
९	निर्वाण-प्राप्ति के साधन	१३२
१०.	दार्शनिक समस्याएँ	१४६
११	विहार-चर्या	१७१
१२	उपगुप्त और अशोक	१९५
१३	उत्तर प्रदेश मे सर्वास्तिवादी और सम्मितीय	२०३
१४	बौद्ध धर्म और चीनी परिव्राजक	२३३
१५	उत्तर प्रदेश के मुख्य बौद्ध केंद्र तथा स्मारक	२४७
१६	बौद्ध मूर्तिकला	२७५
१७	बौद्ध वास्तुकला	२९४
१८	अशोक और उसके अभिलेख	२९८

संकेत-सूची

अ०	= अध्याय
आ० स० रि०	= आर्केआलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट
आर्के०	= आर्केआलॉजिकल
अगुत्तर०	= अगुत्तर निकाय
ई० पू०	= ईसवी पूर्व
उप०	= उपनिषद्
ऐ० रि०	= ऐनुअल रिपोर्ट
ज० रा० ए० सो०	= जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी
जा०	= जातक
जि०	= जिला
तुल०	= तुलनीय
दीघ०	= दीघ निकाय
दे०	= देखिए
द्रष्ट०	= द्रष्टव्य
पो० हि० ऐ० इ०	= पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशेंट इंडिया
पृ०	= पृष्ठ
मज्झिम०	= मज्झिम निकाय
विनय०	= विनय पिटक
शतपथ०	= शतपथ ब्राह्मण
सं०	= संख्या , संस्कृत
सयुत्त०	= सयुत्त निकाय
सै० बु० ई०	= सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट

चित्र-सूची

फलक १—सारनाथ में अशोक-स्तम्भ के ऊपर का ओपयुक्त शीर्ष (परगहा) जिस पर सिंहों तथा अन्य पशुओं का कलापूर्ण चित्रण है। ई० पूर्व तीसरी शती।

फलक २—अभयमुद्रा में बुद्ध की सर्वांगपूर्ण मूर्ति जिसकी चौकी पर ई० दूसरी शती का ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। मथुरा शैली की लाल बलुए पत्थर की प्रतिमा, अहिच्छत्रा (जि० बरेली) में प्राप्त। (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)

फलक ३—बाएँ हाथ में अमृत-घट लिये हुए प्रभामंडल सहित बोधिसत्व मैत्रेय की प्रतिमा। समय ई० तीसरी शती, मथुरा शैली, अहिच्छत्रा में प्राप्त। (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)

फलक ४—धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में स्थित बुद्ध की अत्यन्त कलापूर्ण प्रतिमा, समय ई० पाँचवीं शती। (सारनाथ संग्रहालय)

फलक ५—अलंकृत प्रभामंडल संयुक्त बुद्ध की खड़ी हुई मूर्ति। समय ई० पाँचवीं शती, मथुरा में प्राप्त। (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)

फलक ६—सिंहनाद अवलोकितेश्वर। समय ई० ११वीं शती, महोबा में प्राप्त। (राजकीय संग्रहालय, लखनऊ)

फलक ७—बौद्ध देवी वज्रतारा की प्रतिमा, ई० १०वीं शती। (सारनाथ संग्रहालय)

फलक ८—धर्मेख (धर्मेक्षा) स्तूप, सारनाथ।

फलक ९—उत्तर-प्रदेश का ऐतिहासिक मानचित्र।

अध्याय १

उत्तर प्रदेश के प्राचीन राज्य

यद्यपि बौद्ध धर्म का जन्म बिहार में हुआ था, किंतु उसके बाद उसका संपूर्ण विकास, शैशव से लेकर प्रौढ़ता तक, कोशल (अवध) में ही हुआ। वर्तमान उत्तर-प्रदेश राज्य देशांतर ७७ ३' (मुजफ्फरनगर) से ८४·३८' (बलिया) तक तथा अक्षांश २१ १८' (टेहरी गढ़वाल) से २३ ५२' (मिर्जापुर) तक विस्तृत है। इसके उत्तर में नेपाल और हिमाचल प्रदेश पूर्व में बिहार राज्य, दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम में मध्यभारत और मध्यप्रदेश राज्य, तथा पश्चिम में पंजाब और राजस्थान हैं। इसका संपूर्ण क्षेत्रफल १,१३,४१५ वर्गमील है। इस प्रकार इस विस्तृत क्षेत्र के अंतर्गत प्राचीन काल के राज्यों में से कोशल, काशी, वत्स, पंचाल और शूरसेन के अतिरिक्त शाक्यों, कोलियों, मल्लों और भर्गों के गणतंत्र राज्य भी आ जाते हैं। राजकुमार सिद्धार्थ गौतम की जन्मभूमि कपिलवस्तु (कपिलवस्तु) यद्यपि उत्तर प्रदेश की सीमा से कुछ मील दूर है, किंतु उसकी भी चर्चा इस पुस्तक में की गई है, क्योंकि ६०० पू० छठी शताब्दी में वह प्रसेनजित् (पसेनदि) के राज्य में सम्मिलित था। वर्तमान उत्तर-प्रदेश के अंतर्गत ब्राह्मण-उपनिषत्काल के नौ राज्यों[1] में से तीन तथा बुद्ध के समय के सोलह महाजनपदों[2] में से छ की विस्तृत भूमि अंतर्भुक्त है।

काशी-कोशल

काशी के लोगों का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद में पाया जाता है। शांखायन श्रौतसूत्र (१६।२९५) में काश्यों का वर्णन विदेहों और कोशलों के साथ हुआ है। इन तीनों राज्यों के पुरोहित जातुकर्ण्य थे, जो राजा जनक तथा उपनिषदों के प्रसिद्ध

१. नवों राज्यों के नाम ये हैं—गंधार, केकय, मद्र, उशीनर, मत्स्य, कुरु, पंचाल, काशी और कोशल।

२. सोलह महाजनपदों के नाम इस प्रकार हैं—काशी, कोशल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेदि, वंश, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अस्सक, अवंति, गंधार तथा कंबोज।

ऋषि श्वेतकेतु के समकालीन थे। उपनिषदो[1] मे तत्त्वज्ञानी अजातशत्रु का वर्णन राजा जनक के समसामयिक एवं काशी के राजा के रूप मे किया गया है। पाली मे कई जातको का आरभ इन शब्दो से होता है—"अतीते बारानसिय ब्रह्मदत्ते रज्ज करेन्ते", जिससे सूचित होता है कि काशी के शासको की उपाधि 'ब्रह्मदत्त' थी, जो पुराणो (मत्स्य और वायु) और महाभारत (२।८।२३) मे भी उल्लिखित है। ये ब्रह्मदत्त-उपाधिधारी शासक किस प्राचीन कुल (या कुलो) के थे, इसका जातको मे कुछ भी पता नही चलता। कुछ जातको मे ब्रह्मदत्त विदेहवशी कहे गए हैं। महा-गोविंद सुत्त[2] मे काशी के राजा को धृतराष्ट्र (धतरट्ठ) कहा गया है, जो भरत-वशी था। इसका समर्थन पुराणो[3] मे भी होता है। ब्राह्मणो[4] मे धृतराष्ट्र नाम के काशी के राजा का वर्णन आया है जिसका यज्ञ का घोडा भरतवशी राजकुमार शतानीक सत्रजित्[5] द्वारा पकड लिया गया था, जिसके कारण काशी मे शतपथ ब्राह्मण[6] के समय तक यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित नही की गई थी। महावग्ग[7] और जातको मे, विशेषत दीघीति और उसके पुत्र दिघावु की कथा मे, यह स्पष्ट है कि बुद्ध-पूर्व काल मे काशी का शासक बहुत शक्तिमान् था और कुछ समय तक उसने कोशलो और अन्य पडोसी प्रदेशो को अधीन कर रखा था। काशी का राज्य किसी समय ऐसा धनसपन्न और शक्तिशाली था कि उससे सभी पडोसी शासको को ईर्ष्या होती थी। परतु बुद्ध के समय मे उसका आकर्षण और उसकी ख्याति नष्ट हो गई। वह कोशल का अधीन राज्य हो गया और कोशल-सम्राट् के ही द्वारा शासित भी होने लगा।

बौद्ध ग्रथो मे सामान्य रूप से यह उल्लेख मिलता है कि राजा पसेनदि के पिता महाकोसल ने अपनी कन्या कोसलदेवी का विवाह बिबिसार से किया और काशिग्राम (कासिग्राम) उसे यौतुक मे दिया था। बिबिसार की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अजातशत्रु (अजातसत्तु) और पसेनदि के बीच यह झगडे की जड हो गया और इसके

१. बृहदारण्यक।

२. दीघ० २,२३५; महावस्तु ३, पृ० १९७ और आगे।

३. एच. सी. राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्यंट इंडिया, छठा संस्करण, पृ० ७५।

४. शतपथ, १३,५,४,१९-२३।

५. सत्रजित् का अर्थ 'सफलतापूर्वक सत्र या यज्ञ संपन्न करनेवाला' हो सकता है।

६. रायचौधरी, वही, पृ० ४४, ७५, ९७।

७. विनय०, १,१०,२,३।

लिए दोनों में युद्ध भी हुआ। एक बार पसेनदि ने अजातशत्रु को हराया, दूसरी बार अजातशत्रु ने पसेनदि को पराजित किया।[1] अंततः पसेनदि ने अपनी कन्या वजिरा का विवाह अजातशत्रु से कर दिया और काशिग्राम उसे दहेज के रूप में दे दिया[2], तब जाकर [illegible]। ऐसा जान पड़ता है कि काशी की पृथक् सत्ता बराबर बनी रही, क्योंकि यद्यपि काशी और कोशल का उल्लेख प्राय साथ ही साथ पाया जाता है, तथापि पसेनदि को बराबर केवल कोशल का ही राजा कहा गया है। महावग्ग (पृ० २८१) मे किसी काशिक राजा का उल्लेख है, जो सभवत. कोशल-नरेश के अधीन कोई सामत था।[3]

बनारस काशी की राजधानी था। निश्चय ही वह व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र रहा होगा, क्योंकि वहाँ कुछ श्रेष्ठिगण (सेट्ठि) निवास करते थे जिनमें से एक यश भी था, जो बुद्ध का छठा शिष्य था। बनारस के पास इसिपत्तन (= ऋषिपत्तन), जैसा कि उसके नाम से विदित होता है, निस्सदेह ऋषियो का प्रिय आश्रम-स्थान था। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि बुद्ध के पाँचो साथी तपस्वियों ने, जो कि सर्व-प्रथम बुद्ध के अनुयायी हुए, इस स्थान को अपने निवास के लिए चुना। बनारस के निकट खेमियंब वन नाम का एक आम्रवन था, जहाँ बौद्ध भिक्षु कभी-कभी ठहरा करते थे। इसिपत्तन और खेमियब वन के अतिरिक्त भिक्षुओ के दो अन्य स्थान थे—किटागिरि और मच्छिकासड। ये दोनों ग्राम अथवा पुर बनारस से सावत्थी को जाने-वाले मुख्य मार्ग पर स्थित थे। धम्मपदट्ठकथा में लिखा है कि मच्छिकासड सावत्थी से तीस योजन (९० मील) दूर था और किटागिरि एक गाँव था जहाँ अस्सजी और पुनब्बसु निवास करते थे, जो कि विनय के नियमो का यथोचित पालन नही करते थे। बुद्ध को कई अवसरो पर उन्हे उचित मार्ग पर लाना पडा था और उनके सदाचरण के लिए नियम निश्चित करने पडे थे। वासभगाम नाम का एक अन्य ग्राम भी था, जहाँ भिक्षुगण निवास करते थे।

१. संयुत्त, १, पृ० ८२-८४।

२. संयुत्त १, पृ० ८२ और आगे; जा० २, ४०३; ४, ३४२।

३. डा० राय चौधरी ने संयुत्त निकाय (१, पृ० ७९) के उस कथन को कुछ महत्त्व दिया है जिसमें पसेनदि को पाँच राजाओं का प्रमुख (पमुखम्) कहा गया है। परंतु जान पड़ता है कि 'पंच' संख्या का प्रयोग वहाँ पाँच ज्ञानेंद्रियों के लिए किया गया है, जो बाद का प्रस्तुत विषय है। उसे पसेनदि के पाँच राजाओं का प्रमुख होने के प्रमाण के रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिए।

कोसल[1] (कोशल)—इसका सबसे प्राचीन उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[2] मे पाया जाता है, जिसमे राजा का नाम 'हैरण्यनाभ कौशल्य' दिया है, जिसका वर्णन कौशल्य आश्वलायन के समसामयिक के रूप मे प्रश्नोपनिषद्[3] मे भी हुआ है। मज्झिम निकाय[4] मे आश्वलायन का वर्णन सावत्थी के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य तथा स्वय बुद्ध के एक शिष्य के रूप मे मिलता है। उपनिषद् और निकाय दोनो मे उल्लिखित नामो का एक ही होना असभव नही है, परन्तु नामो की इस एकता के आधार पर यह नही कहा जा सकता कि दोनो ग्रथो मे एक ही व्यक्ति का निर्देश है। बुद्धकाल अथवा रामायण-महाभारत-काल के पहले कोसल को विशिष्टता प्राप्त नही हुई, क्योकि उसने समय-समय पर काशी का प्रभुत्व स्वीकार किया। दीघीति की कथा[5] मे कोसल का वर्णन एक ऐसे दरिद्र देश के रूप मे किया गया है जिसमे सपत्ति और सुख-सामग्रियो का अभाव था, जिसके पास सेना बहुत थोड़ी थी और जिसका कोष कभी पूर्ण नही रहता था। रामायण-काल मे इसे कुछ महत्त्व प्राप्त हुआ था। रामायण[6] मे कोसल की राजधानी अयोध्या थी, जो सरयू नदी के तट पर स्थित थी और बारह योजन विस्तृत थी। इस प्रदेश पर इक्ष्वाकुओ का शासन था जिनमे प्रसेनजित् और शुद्धोदन ऐतिहासिक व्यक्ति है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिरण्यनाभ को कोसलराज बनाया गया है, परन्तु वह इक्ष्वाकुवशी था या नही, इसका पता नही चलता। ब्राह्मण ग्रथो एव रामायण-महाभारत मे इक्ष्वाकुवश के अनेक राजाओ के नाम आए है, जैसे—हरिश्चद्र और उनके पुत्र रोहित के तथा भगीरथ, अबरीष, ऋतुपर्ण, राजा दशरथ और उनके पुत्र राम के। शाक्य जाति भी अपने इक्ष्वाकुवशी[7] होने का दावा करती थी।

बुद्ध के समय मे कोसल राज्य का विस्तार आधुनिक अवध की भूमि पर था जिसकी पूर्वी सीमा गडक नदी और पश्चिमी सीमा गोमती नदी थी। सई नदी, जो प्राचीन काल मे सभवत स्यदिका वा सुदरिका के नाम से प्रसिद्ध थी, इसकी दक्षिणी सीमा पर बहती

१. आगे इसी रूप का प्रयोग किया गया है, जो कि बौद्ध साहित्य में मिलता है।
२. शतपथ०, १३,५,४,४।
३. प्रश्न उप० १,१।
४. मज्झिम० २, पृ० १४७ तथा आगे।
५. विनय० १,१०,२,३; 'दीघीति नाम कोसलराजा अकोसि दलिद्दो अप्पभोगो अप्पबाहनो अपरिपुण्ण-कोस-कोट्ठागार।'
६. रामायण, १,५५,७; २,१८,३८
७. महावस्तु १, पृ० ९८।

थी और इसकी उत्तरी सीमा नैपाल के सीमावर्ती पहाड़ी क्षेत्रों को स्पर्श करती थी। ई० पू० पाचवीं शती में अयोध्या ने अपना महत्त्व खो दिया और उसके स्थान पर श्रावस्ती (सावत्थी) प्रधान नगर एवं राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित हुई। सावत्थी के बाद दूसरा महत्त्व का नगर साकेत था। ऐसे बहुत से ग्राम और नगर थे जिनमें बौद्ध भिक्षु जाया करते थे, जैसे-सेतव्य, आलवि, इच्छानगल, उकट्ठ, एकसाला, ओपसाद, केसपुत्त, चडालकप्प तोरणवत्थु दडकप्प, नगरविंद, मनसाकट, नालकापन, पकधा, वेनागपुर, वेलुद्वार, साल, सालवतिका, आनुमा, अग्गालवचेतिय, उजुञ्ञा, कट्ठवाहनगर, भुसागार, पट्टपुर, साधुका। परन्तु इन सभी स्थानों की पहचान करना सभव नहीं है।

सावत्थी (श्रावस्ती)—की पहचान कनिंघम ने सहेत-महेत से की है, जो गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा के पास राप्ती नदी के तट पर स्थित है। फाह्यान और हुएन-सांग इस स्थान पर गये थे। उस समय यह ध्वस्त हो चुका था। बुद्ध ने अकेले इस नगर में ही पचीस वर्षाएँ व्यतीत की थीं और अनेक व्याख्यान दिए थे।

सावत्थी में तीन प्रसिद्ध विहार थे—जेतवन, पुब्बाराम और राजकाराम। इन तीनों में जेतवन सबसे भव्य और विशाल था। इसका स्थान सारिपुत्त के द्वारा चुना गया था, जिन्हें बौद्ध भिक्षुओं के रहने योग्य एक विहार के निर्माण के हेतु आवश्यक आदेश देने के लिए बुद्ध ने नियुक्त किया था। वह स्थान राजकुमार जेत के राजकीय उद्यान का एक भाग था। जेत उसे बेचना नहीं चाहता था, इसलिए उसने उसका अत्यधिक मूल्य मांगा और कहा कि मैं उतनी ही भूमि बेचूंगा जितनी उसका क्रेता 'कहापणों' (कार्षापण मुद्राओं) से ढक देगा। अतुल धनराशि के स्वामी अनाथपिंडिक ने यह शर्त स्वीकार कर ली और विहार के लिए जितनी भूमि अभीष्ट थी उतनी भूमि पर अपने कोष से गाड़ी भर मुद्राएँ लाकर बिछा दीं। अतः राजकुमार को भूमि बेचनी पड़ी। यह जानने पर कि इस भूमि पर महात्मा बुद्ध के रहने के लिए एक विहार का निर्माण होगा, राजकुमार जेत ने कहा कि मैं केवल भूमि का ही मूल्य लूंगा, उसमें उगे वृक्षों का नहीं। वह उन वृक्षों को भिक्षुसंघ को दान करके महात्मा बुद्ध के प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करना और कुछ पुण्य अर्जन करना चाहता था।

जेतवन विहार अवश्य ही बहुत विशाल रहा होगा, क्योंकि उसमें अनेक रहने के कमरे और कोठरियां, द्वार-प्रकोष्ठ, उपासनागृह, अग्निकुंड-युक्त शालाएँ, भांडारगृह, एकांत कोठरियाँ, दालान, टहलते हुए ध्यान करने के लिए शालाएँ, कूप, कूपखंड,

स्नानागार, जलाशय और मडप बने हुए थे।[1] उसका फाटक राजकुमार जेत ने बनवाया था। जब इस विशाल विहार का निर्माण-कार्य पूरा हो गया तब अनाथ-पिंडिक ने यथोचित समारोह के साथ, अवसर के अनुरूप विधियो को संपन्न करते हुए, उसे बुद्ध को सकल्पित कर दिया। कुछ भवनों को विशेष नाम दिए गए थे, जैसे महागधकुटी, करेरमडल माला, कोसंबकुटी, चंदनमाला, और सललघर।[2] कुंजों से घिरा हुआ एक बडा तालाब भी था और संपूर्ण स्थान एक वन-सा दिखाई देता था। जेतवन मे ही सारिपुत्त और मोग्गलायन की अस्थियो पर स्तूप बनाए गए थे, जिन्हे बाद मे सम्राट् अशोक ने खुदवाया था।

भव्यता मे जेतवन के बाद दूसरा स्थान पुब्बाराम विहार या मिगारमातुपासाद का था, जिसे विशाखा ने, जो अनाथपिंडिक से कम संपन्न नही थी, सावत्थी के पूर्वी फाटक के बाहर बनवाया था। उसके निर्माण की कथा इस प्रकार है—

एक दिन विशाखा बुद्ध का प्रवचन सुनने जेतवन गई और भूल से अपना रत्न-जटित हार व्याख्यानशाला मे छोड आई (गुरु के पास जाने पर वह हार उतार दिया करती थी)। आनंद ने उसे पाया और एक सुरक्षित स्थान मे रख दिया। जब विशाखा को इसकी सूचना दी गई तब उसने उसे बेचकर उसके मूल्य से एक विहार बनवाने का निश्चय किया। जब उसका कोई खरीदार न मिला तो उसने उसे कुछ करोड मुद्राओं में स्वय खरीद लिया और उस धन का उपयोग पुब्बाराम के निर्माण मे किया। कहते हैं कि यह विहार दुतल्ला था और उसमे बहुत से कमरे थे। उसकी बनावट इतनी आलंकारिक थी कि भिक्षुओ को संदेह हुआ कि उनका उसमे रहना आश्रम के निर्माण के संबंध मे बुद्ध द्वारा निर्धारित नियमो के अनुकूल होगा या नही। इसका निर्माण मोग्गलायन की देख-रेख मे हुआ था, जिसे बुद्ध ने इस कार्य के लिए नियुक्त किया था।

सावत्थी मे तीसरा विहार राजकाराम था, जो जेतवन के पास के एक स्थान पर पसेनदि द्वारा बनवाया गया था। कहा जाता है कि वह स्थान पहले बौद्धेतर धर्मोपदेशकों और उनके शिष्यो के लिए विश्रामगृह बनवाने के निमित्त चुना गया था,

१. चूलवग्ग, ६,४,१०; महावग्ग ३,५,६—विहार, परिवेण, कोट्ठक इत्यादि। तिब्बती ग्रंथों से विदित होता है कि उसमें ६० बृहत् शालाएँ और ६० छोटे कक्ष थे (रॉकहिल, लाइफ़ ऑव बुद्ध, पृष्ठ ४८)।

२. कहा जाता है कि यह राजा पसेनदि की प्रेरणा से बनवाया गया था।

परंतु बुद्ध ने जेतवन विहार के निकट उनका रहना स्वीकार नहीं किया। राजा पहले तो बुद्ध की इच्छा का पालन करने के लिए तैयार नहीं हुआ, परंतु अंत में उनके स्वयं हस्तक्षेप करने पर उसने उक्त विश्रामगृह अन्यत्र बनवाना स्वीकार कर लिया और उस स्थान पर बौद्ध भिक्षुणियों के निवास के लिए एक विहार बनवाने का निश्चय किया। इन्हीं भिक्षुणियों में एक सुमना भी थी, जो राजा पसेनदि की बहन थी।[1]

एक और विश्रामशाला थी जिसका नाम मल्लिकाराम था और जिसका निर्माण सभवत पसेनदि की पट्टमहिषी मल्लिका की इच्छा से हुआ था। यह आराम परिव्राजकों (परिब्बाजका) का एक केंद्र हो गया, जहाँ समय-समय पर बुद्ध और उनके शिष्यगण आया करते थे। इसका वर्णन 'समयप्पवादुक–तिण्डुकाचिर–एकसालक' अर्थात् तिंदुक वृक्षों से घिरा हुआ एकशालक (जिसमें एक ही शाला हो) कहकर किया गया है। यह विभिन्न सिद्धांतवाले आचार्यों के पारस्परिक विचार-विमर्श एवं शास्त्रार्थ के लिए बनवाया गया था।[2]

साकेत––कोसल का यह दूसरा बड़ा नगर था। इस स्थान का महत्त्व बढ़ा विशाखा के पिता सेट्ठि धनंजय के निवास के कारण, जो मूलत मगध का निवासी था परंतु पसेनदि के अनुरोध पर यहीं आकर बस गया था। साकेत सावत्थी से सात योजन पर था। उसके भीतर अंजनवन नामक एक मृगवन था, जो पसेनदि के मृगया खेलने का स्थान था। कनिंघम[3] का अनुमान था कि साकेत और अयोध्या एक ही हैं, परंतु यत. इन दोनों नगरों का वर्णन निकायों में हुआ है, अतएव ये अवश्य ही दो भिन्न स्थान रहे होंगे। साकेत की पहचान उन्नाव जिले में सई नदी के तट पर स्थित सुजानकोठ के ध्वंसावशेष से की गई है। यहाँ कुछ अबोद्ध भी रहा करते थे। इसी स्थान पर सुजाता बुद्ध के उपदेशों को श्रवण कर अर्हत् हो गई थी।[4] यहाँ कुछ सन्यासी रहा करते थे, जिनमें गणपति भी था। साकेत और सावत्थी के बीच तोरणवत्थु था, जहाँ राजा पसेनदि की खेमा थेरी से भेंट हुई थी।

अयोज्झा––(अयोध्या) यह नगर गंगा-तट पर अवस्थित था। बुद्ध इस स्थान पर पधारे थे और वहाँ उन्होंने तीन व्याख्यान दिए थे,[5] जिनमें से एक सर्वास्तिवाद

१. विनय० २, पृ० १६९।
२. थेरीगाथा, पृ० २२; संयुत्त० १, पृ० ९७; अंगुत्तर० ३, पृ० ३२।
३. ज्याग्रफ़ी ऑव ऐंश्यंट इंडिया, पृ० ४०५।
४. थेरीगाथा, १४५–१५०।
५. संयुत्त निकाय, ३, पृ० १४०; ४, पृ० १७९।

विनय[1] में भी दिया हुआ है। उसके अनुसार अयोध्या गगा-तट पर अवस्थित थी और बुद्ध दक्षिण पचाल मे प्रव्रजन करते हुए वहाँ पहुँचे थे। यह सदेहास्पद है कि यह अयोज्झा और रामायण की अयोध्या एक ही है। रामायण मे अयोध्या का वर्णन एक विशाल नगर के रूप मे किया गया है जो प्रशस्त मार्गोंवाला तथा प्रचुर धान्यादि से परिपूर्ण था। उसमे विशाल भवन थे और वह कोसल की राजधानी था।

बौद्ध ग्रथो मे अयोज्झा को दक्षिण कोसल की राजधानी बताया गया है।

संकस्स (साकाश्य)—यह सावत्थी से तीस योजन पर अवस्थित था। इस नगर की पहचान 'सकिसा' से की गई है, जो फर्रुखाबाद जिले मे एक छोटा गांव है। यह फतेहगढ से २३ मील पश्चिम और कनौज से ४५ मील उत्तर-पश्चिम है। बौद्ध परपरा के अनुसार इसका महत्त्व इस कारण बढा कि बुद्ध त्रयस्त्रिश स्वर्ग मे अपनी माता को अभिधम्म का उपदेश देने के बाद यहाँ अवतरित हुए थे। शक्र ने तीन सीढियाँ प्रदान की थी—एक इद्र के लिए, एक ब्रह्मा के लिए और बीचवाली भगवान् बुद्ध के लिए। चीनी यात्रियो ने इस स्थान के विहारो को भिक्षुओ से भरा पाया था।

आलवी—यह सावत्थी से राजगृह जानेवाले मार्ग पर अवस्थित था और सावत्थी से इसकी दूरी तीस योजन थी। कनिंघम ने इसकी पहचान उन्नाव जिले के नेवल स्थान से की है और एन०एल० डे ने इटावा के पास आविवा से। यहाँ अग्गालवचेतिय नाम का एक आश्रम था, जहाँ कभी-कभी बुद्ध और अन्य भिक्षुगण रहा करते थे। यह परपरा से प्रसिद्ध है कि बुद्ध ने आलवी के यक्ख (यक्ष) को वश मे कर लिया था। उन्होंने इस स्थान के दो प्रमुख निवासियो—हत्थक और सेला को अपने सघ मे भिक्षु और भिक्षुणी के रूप मे प्रविष्ट कर लिया था और कुछ अन्य लोगो को भी अपना अनुयायी बनाया था। उन्होंने सोलहवी वर्षा यहीं व्यतीत की थी। यहा उन्होंने कई व्याख्यान दिए थे और कुछ विनय के नियम बनाए थे।

वत्स या वंस—इनका अधिकार कोसल और अवन्ती के बीच के छोटे से प्रदेश पर था। कौशाबी वत्स की राजधानी थी। यह बडी प्राचीन नगरी थी; इसकी पहचान इलाहाबाद के पास कोसम से की गई है। कहा जाता है कि जनक के समकालीन कौरव राजा निचक्षु ने अपनी राजधानी हस्तिनापुर से हटाकर कोशाबी को बनाया था। शतपथ ब्राह्मण[2] मे एक आचार्य का उल्लेख है जिसकी जन्मभूमि कौशाबी थी और

१. गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, ३, १, पृ० ४९।
२. शतपथ०, १२,२,२,१३।

जो उपनिषदों में प्रसिद्ध ऋषि उद्दालक आरुणि का समसामयिक था। निचक्षु जनमेजय की वंश-परंपरा में थे और उन्होंने ही भरत-वंश को इस स्थान में लाकर प्रतिष्ठित किया। यह असंभव नहीं कि शतानीक परंतप[1] इसी वंश का रहा हो। उसका पुत्र राजा उदयन (उदेन) हुआ, जो बुद्ध का समसामयिक था। बुद्ध के समय यह बड़ा महत्त्वशाली नगर था। बनारस से नदी के रास्ते यह तीस योजन दूर था। इस स्थान के भिक्षु बड़े झगड़ालू और संघ को फोड़नेवाले थे। कुक्कुट देवदत्त और छन्न यहीं रहते थे। यहां तीन विहार थे जिनके नाम थे—कुक्कुटाराम, घोषिताराम और पावारिक अंबवन। ये कुक्कुट, घोषित और पावारिक नाम के तीन सेट्ठियों द्वारा बनवाए गए थे, जो बुद्ध के अनुयायी हो गए थे। यहीं पंडोल भरद्वाज रहते और राजा उदेन को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया करते थे। वत्सों का शासन सुसुमारगिरि के भग्गों पर भी था। उन्होंने चंड पज्जोत (प्रद्योत) की कन्या रानी वासुलदत्ता (वासवदत्ता) के गर्भ से उत्पन्न राजा उदेन के पुत्र बोधिराजकुमार को यहां का उपराज नियुक्त किया था।

शाक्य—शाक्य प्रदेश नेपाल की तराई में था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी, जिसकी पहचान रिज डेविड्स और पी० सी० मुकर्जी ने तिलोराकोट से की है। रुम्मिनदेई स्तंभ लुंबिनी वन के स्थान पर है जहां बुद्ध का जन्म हुआ था। शाक्य लोग अपने को इक्ष्वाकुवंशी बतलाते थे। इस वंश के एक राजा ने अपनी एक रानी से उत्पन्न पुत्रों को इसलिए निर्वासित कर दिया था कि राज्य दूसरी रानी से उत्पन्न पुत्र को मिले। राजपुत्र अपनी बहनों के साथ राजधानी से निकलकर हिमालय-क्षेत्र में जा बसे। उन्होंने वहां कपिलवस्तु नगर बसाया। अपने वंश की शुद्धता की रक्षा के लिए उन्होंने अपनी बहनों से विवाह कर लिया, जिसके कारण वे प्रायः तिरस्कृत किए जाते थे। उनकी एक बहन, जो किसी असाध्य रोग से पीड़ित थी, बनारस के राम नामक निर्वासित राजा से ब्याही गई थी, जो स्वयं उसी रोग से पीड़ित था। उनके वंशज कोलिय नाम से प्रसिद्ध हुए। कोलियों का देश शाक्यों के देश से ही सटा हुआ था, दोनों के बीच केवल रोहिणी नामक छोटी-सी नदी का अंतर था। एक बार रोहिणी नदी के जल का प्रवाह मोड़ने के प्रश्न पर इन दोनों जातियों में भारी झगड़ा हो गया था। शाक्यों का कुल गणतंत्रवादी था और वे अपने राज्य का शासन-कार्य परिषदों

१. द्रष्ट० पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्यंट इंडिया, पृ० ४०, ७०, १३२; तथा मूल सर्वास्तिवाद विनय।

द्वारा चलाया करते थे, जिनकी बैठकें परिषद्-भवन (संथागार) में हुआ करती थीं। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शाक्य लोग कोसल के राजा पसेनदि की प्रभुता स्वीकार करते थे।

परंतु शाक्य लोगों को अपनी वंश-शुद्धता का बड़ा अभिमान था, जिससे उन्होंने राजा पसेनदि को अपने कुल की कन्या देना अस्वीकार कर दिया और उसका विवाह दासी के गर्भ से उत्पन्न महानाम की एक कन्या से कर दिया। इस रानी का नाम वासभ-खत्तिया था और उससे पसेनदि के विडडाभ या विडूडभ नाम का एक पुत्र हुआ। पसेनदि ने उसे अपने सिंहासन का उत्तराधिकार न देकर उसको अपना सेनापति बनाया। विडूडभ ने षड्यंत्र करके सिंहासन पर अधिकार कर लिया और शाक्यों का संहार करके उनसे अपने पिता के प्रति विश्वासघात करने का बदला लिया।

शाक्य लोग ब्राह्मणों के पक्षपोषक थे, इस कारण आरंभ में उन्होंने बुद्ध और उनके उपदेशों का उचित स्वागत नहीं किया। पहले कुछ प्रसिद्ध शाक्यों को बुद्ध ने अपना धर्मानुयायी बनाया और इस प्रकार शाक्य प्रदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार का श्रीगणेश हुआ। बुद्ध वहाँ अनेक अवसरों पर उपदेश देने तथा विनय के नियमों का निर्देश करने के लिए गए थे। इस प्रदेश में बहुत थोड़े-से नगर और ग्राम थे, जहाँ बुद्ध गए; यथा—चानुमा, खोमदुस्स, सामगाम, देवदह, सिलावती, नगरक, मेदलुंप या उलुंप तथा सक्खर। इनमें से चानुमा में एक गणभवन था और खोमदुस्स ब्राह्मणों का एक गाँव था। सामगाम वह स्थान था जहाँ एक बार बुद्ध पधारे थे और निगंठ नाटपुत्त की मृत्यु का समाचार सुना था। देवदह महामाया, महाप्रजापति गौतमी और यशोधरा का स्वदेश था। लुंबिनी वन देवदह के निकट ही था।

मल्ल—एक दूसरी जाति थी जो शाक्यों और कोलियों के ही पड़ोस में बसती थी। उनका प्रदेश कपिलवस्तु से बारह योजन दूर था। मल्ल लोग दो वर्गों में बँटे हुए थे—पावा के मल्ल और कुसीनारा के मल्ल। पावा की पहचान पडरौना से की गई है, जो कसिया के उत्तर-पूर्व में बारह मील पर है। पावा में ही जैन तीर्थंकर महावीर ने देहत्याग किया था। कुसीनारा की पहचान देवरिया जिले के कसिया स्थान से की गई है। इस पहचान की पुष्टि एक ताम्रपत्र से हो गई है जिसपर 'परिनिर्वाण-चैत्ये-ताम्रपट्ट' खुदा हुआ है। जब बुद्ध ने कुसीनारा को अपने देहत्याग के लिए चुना, उस समय वह एक छोटा-सा गाँव था। बुद्ध पावा और कुसीनारा दोनों स्थानों में गए थे। पावा में ही उन्होंने मल्लों के गणभवन उब्भटक को पवित्र किया और चुंद के घर अपना अंतिम भोजन ग्रहण किया था। पावा से वे कुसीनारा गए, जहाँ उन्होंने अपना शरीर

त्याग कर उसे अमर कर दिया। कुसीनारा और पावा के अतिरिक्त मल्ल राज्य में कुछ अन्य स्थान भी थे जहाँ बुद्ध गए थे, जैसे—भोगनगर, अनुपिय और उरुवेल-कप्प-महावन। अनुपिय राजगृह से छत्तीस योजन पर अनोमा नदी के किनारे था। राजकुमार सिद्धार्थ अपने प्रव्रज्या-ग्रहण की रात्रि में यहाँ पहुँचे थे।

पंचाल[1] और **शूरसेन**[2] यद्यपि उत्तरप्रदेश की सीमा के भीतर ही थे, परंतु इसके अतिरिक्त कि बुद्ध के कुछ प्रसिद्ध अनुयायी इन्हीं स्थानों के थे, बौद्ध धर्म के प्रारंभिक इतिहास में इनका विशेष महत्त्व नहीं है। प्राचीन काल में पंचाल के दो भाग थे—उत्तर और दक्षिण पंचाल। कपिल्ल[3] (कापिल्य) दक्षिण पंचाल की राजधानी था और कभी-कभी उत्तर पंचाल की भी राजधानी हो जाता था। एक बार कुरुरट्ठ[4] के कुरुओं ने उसे अपने अधीन कर लिया था। कनिंघम ने इसकी पहचान कायमगंज से लगभग पाँच मील उत्तर गंगा किनारे स्थित आधुनिक कपिल से की है। पाली ग्रंथों में हमें कण्णकुज्ज (कान्यकुब्ज, कनौज) नाम का स्थान मिलता है, जो वेरंज से बनारस जानेवाले अथवा सकस्स से सहजाति जानेवाले मार्ग पर एक पड़ाव था। सर्वास्तिवाद विनय[5] में अयोध्या दक्षिण पंचाल में गिनी गई है।

शूरसेन—यूनानियों का सौरसेनाइ (Sourasenoi)—पंचाल के पश्चिम में था। इसकी राजधानी मथुरा को अशोक के बाद के बौद्ध इतिहास में बहुत महत्त्व प्राप्त हुआ। पाली ग्रंथों में दक्षिण की मथुरा से भेद करने के लिए इसे 'उत्तर मथुरा' नाम दिया गया था। घट जातक में मथुरा को कृष्ण का लीलास्थल कहा गया है।

यातायात के मार्ग

पाली ग्रंथों में विभिन्न प्रसिद्ध स्थानों के बीच यातायात के कुछ मार्गों का भी निर्देश किया गया है। बुद्ध ने जिन स्थानों में यात्राएँ कीं और धर्म का प्रचार किया

१. यह बरेली, बदायूँ, फर्रुखाबाद, रुहेलखंड के पड़ोसी जिलों तथा मध्य दोआब का क्षेत्र था (एच० सी० रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐंश्यंट इंडिया, पंचम संस्करण, पृ० १३५)। कनिंघम के मत से पंचाल का विस्तार हिमालय पहाड़ से चंबल नदी तक था।

२. यह यमुना-तट पर मथुरा के आसपास का भू-भाग था।

३. जातक, ३, पृ० ३७९।

४. वही, ५, पृ० ४४४; महाभारत, १, पृ० १३८।

५. गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, ३, १, पृ० ४८।

उनका क्षेत्र अधिकाश मे भारत के मध्य एव पूर्वीय भागो तक,अर्थात् पश्चिम मे कौशाबी मे पूर्व मे कुसीनारा और राजगिर तक तथा उत्तर मे श्रावस्ती (बहराइच के निकट सहेत-महेत) से दक्षिण मे वनारस तक, सीमित था। स्पष्टत यह क्षेत्र ब्राह्मणो के प्रभाव मे कम आया था और अधिकाश मे यह ब्राह्मण धर्म के (जिसका केद्र कुरु-क्षेत्र था) गढ के बाहर था। जिन स्थानो मे बुद्ध ने यात्राएँ की थी वे एक-दूसरे से ऐसे मार्गो द्वारा सबद्ध थे जिनपर अधिकतर व्यापारियो के दल यात्रा किया करते थे। सुरक्षा तथा भोजन आदि की सुविधाएँ मिलने के कारण इन व्यापारी दलो के साथ प्राचीन काल के साधु-सन्यासी भी प्राय यात्रा किया करते थे, क्योंकि उन दिनो वे भी लुटेरो के भय से मुक्त नहीं थे। पाली ग्रथो मे कुछ ऐसे मार्गों का निर्देश है जिनसे होकर लोग महात्मा बुद्ध के दर्शनार्थ जाते थे। बावरी, जो पहले कोसल का निवासी और राजा पसेनदि के पुरोहित का पुत्र था, सन्यासी हो गया और कुछ समय तक पसेनदि के उद्यान मे रहने के बाद उस स्थान को छोड गोदावरी तट पर जाकर एक आश्रम मे रहने लगा। उसके अनेक शिष्य थे, जिनमे से कुछ को उसने बुद्ध के पास भेजा था। जिस मार्ग से इन शिष्यो ने यात्रा की वह पतिट्ठान[1], माहिस्मती[2], उज्जेनी[3], गोनद्ध, विदिसा[4] वनसाह्वय, कोसबी[5], साकेत[6] होते हुए सावत्थी[7] को जाता था। फिर सावत्थी

१. वर्तमान पैठन जो हैदराबाद के औरंगाबाद जिले मे गोदावरी नदी के उत्तरी तट पर है।

२. इसकी पहचान मांधाता के चट्टानी स्थान से की गई है। द्रष्टव्य पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐश्यंट इंडिया पृ० १४५।

३. वर्तमान उज्जैन (मध्य भारत)।

४. पुराना बेसनगर, भेलसा से दो मील पर।

५. कोसम, इलाहाबाद जिला।

६. संभवतः यह बहराइच के पास सरयू नदी पर स्थित था। कोसबी से साकेत तेतालीस योजन (=१२९ मील; १ योजन=३ मील) दूर था। साकेत की पहचान उन्नाव जिले में सई नदी के तटवर्ती सुजानकोट के खंडहरो से की गई है। उल्लिखित नदी संभवतः सरयू है। सावत्थी और साकेत के बीच एक चौड़ी नदी, संभवतः घाघरा, बहती थी (विनय, पृ० ६५, २२८)।

७. गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर अचिरवती या राप्ती नदी के किनारे स्थित सहेत-महेत। (पो० हि० ऐ० इं०,पृ० १००)। साकेत से सावत्थी की दूरी सात योजन अर्थात् इक्कीस मील के लगभग बताई गई है (विनय, १,२५३)।

से वे सेतव्य, कपिलवत्थु[१], कुसीनारा[२], पावा,[३] भोगनगर और वेसाली[४] होते हुए राजगह[५] पहुँचे, जहाँ उस समय बुद्ध विराजमान थे।[६] सावत्थी और राजगह के बीच की दूरी पैंतालीस योजन अथवा एक सौ पैंतीस मील थी। इस मार्ग का कोसंबी से पावा तक का अंश उत्तर प्रदेश की सीमा के भीतर पड़ता है।

विनय पिटक (३,११) में एक अन्य मार्ग का वर्णन है जिससे होकर स्वयं बुद्ध गए थे। यह पश्चिम में वेरंज से आरंभ होकर सोरेय्य, सकस्स[७], कण्णकुज्ज[८], पयाग-तित्थ[९] होते हुए बनारस जाता था, जिनमें सोरेय्य को छोड़कर शेष सभी उत्तर प्रदेश के अंतर्गत है। द्वितीय बौद्ध-परिषद् के वर्णन में भी एक ऐसे ही मार्ग का निर्देश है। यस थेर रेवत थेर से मिलने के लिए सोरेय्य गया। परंतु रेवत पहले ही वहाँ से प्रस्थान कर चुका था, अतः यस ने सकस्स–कण्णकुज्ज-उद्दंबर–अग्गालपुर के मार्ग से उसका अनुसरण किया और सहजाति में उससे जा मिला, जो गंगातट पर अवस्थित था। यस कण्णकुज्ज से पूरब की ओर वेसाली जानेवाले मार्ग से चला। सहजाति संभवतः कनौज से अनतिदूर गंगा के दूसरे तट पर कहीं था। एक तीसरा मार्ग सावत्थी से राजगह को किंटागिरि और आलवि होते हुए जाता था, जिसकी दूरी सावत्थी[१०] से तीस योजन और बनारस से बारह योजन थी।[११] कनिंघम और हार्नले

१. नौतनवाँ से बारह मील पर।

२. कसिया (प्राचीन कुशीनगर)।

३. पड़रौना जो कसिया से बारह मील दूर है।

४. बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में गंडक के पूर्व आधुनिक बसाढ़।

५. पटना के निकट वर्तमान राजगिर (प्राचीन राजगृह)।

६. सुत्तनिपात, ९७६-११४६।

७. इसकी पहचान कनौज से पैंतालीस मील पर अतरजी और कनौज के बीच सकिसा-असतपुर से की गई है। सकिसा से मथुरा की दूरी चार योजन (कच्चायन. ३।१) और श्रावस्ती से तीस योजन थी (जातक, ४, २६५)।

८. कनौज।

९. इलाहाबाद। कोसंबी से बनारस की दूरी यमुना से होकर तीस योजन अर्थात् लगभग ९० मील थी, जो अनुमान प्रायः ठीक जान पड़ता है।

१०. विनय महावग्ग।

११. विनय, २, पृ० १७०–५।

१२. वाटर्स, २,६१; फाहियान, पृ० ६०, ६२।

ने आलवि की पहचान उन्नाव जिले के नेवल से की है, परंतु बौद्ध अनुश्रुतियो के अनुसार उसे कही सुलतानपुर और जौनपुर के बीच होना चाहिए।

उस समय अन्य भी अनेक छोटे-छोटे मार्ग रहे होगे, क्योकि बौद्ध ग्रंथो मे ऐसे बहुत से स्थानो के नाम आते है जो अधिकतर कपिलवस्तु, श्रावस्ती, कौशाबी और बनारस के आसपास थे। उनमे से अधिकाश सभवत गाँव या छोटे-छोटे नगर थे, जहाँ से बुद्ध को अनेक अनुयायी प्राप्त हुए। बौद्ध ग्रंथो मे स्थानो के बीच की दूरियाँ अनुमान से दी गई थी, परतु वास्तविक माप से उनमे अधिक अतर नही पाया जाता।

अध्याय २

बुद्ध के पूर्व धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति

ई० पूर्व सातवीं–छठी शती का समय उत्तर भारत के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण है। न केवल राजनैतिक क्षेत्र मे, अपितु धार्मिक एव सामाजिक क्षेत्रो मे इस काल मे क्राति हुई। वैदिक कर्मकाड और जीवहिंसा के विरुद्ध जो विचारधारा इस काल मे बनी उसने समाज को बहुत प्रभावित किया।[1] उपनिषदो के अध्यात्मवाद मे तत्त्वदर्शन का उच्च रूप दिखाई पडता है। कर्मकाड की जटिलता के स्थान मे अब ब्रह्म की उपासना तथा आत्मा-परमात्मा के गूढ विषयो का चिंतन समाज के विचारशील व्यक्तियो मे अधिक मान्य हुआ। पुरोहित-ब्राह्मणो की वरिष्ठता को इस सक्रातिकाल मे धक्का पहुँचा। उनके दुरूह एव व्यय-साध्य याज्ञिक अनुष्ठानो से जनता के एक बड़े भाग का विश्वास उठने लगा। अब क्षत्रिय लोग अध्यात्म-चिंतन के क्षेत्र मे अग्रसर हुए। यहाँ तक कि वे तत्त्वज्ञान की उच्च शिक्षा ब्राह्मणो को भी देने लगे। जनक, प्रवाहण जैबलि, अजातशत्रु आदि क्षत्रिय शासको के उदाहरण हमारे सामने है। बृहदारण्यक[2] तथा छादोग्य[3] उपनिषदो मे आया है कि उद्दालक आरुणि नामक विद्वान् ब्राह्मण के पुत्र श्वेतकेतु पचाल के शासक प्रवाहण जैबलि की सभा मे अपने ज्ञान की परीक्षा देने गए। जैबलि ने उनसे आत्मा और परलोक सबधी कतिपय प्रश्न पूछे, जिनका सतोषजनक उत्तर श्वेतकेतु न दे सके। उन्होंने लौटकर यह बात अपने पिता से बताई। इसपर उद्दालक आरुणि स्वय प्रवाहण जैबलि के यहाँ गए और उनसे पिता-पुत्र दोनो ने तत्त्वज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त की।

उपनिषदो के उच्च दार्शनिक ज्ञान के साथ-साथ वैदिक कर्मकाड भी चल रहा था। श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र इसके प्रमाण है। इस साहित्य मे अनेक प्रकार के यज्ञो

१. ऋग्वेद (१०, १२९) मे भी इस विचारधारा की ओर कुछ संकेत मिलता है।

२. बृहदारण्यक०, ६,१,१।

३. छान्दोग्य०, ५, ३, १। कुछ क्षत्रिय शासक अपने पुत्रो को ब्राह्मणों से शिक्षा न दिलाकर स्वयं देने लगे थे। गामणिचंड जातक (२, २९७) में मिलता है कि किस प्रकार एक क्षत्रिय राजा के द्वारा अपने पुत्र को स्वयं वेदों तथा सांसारिक बातों की शिक्षा दी गई––'तयो वेदे सब्बं च लोके कत्तब्बं।'

और उनकी प्रणालियों का विस्तृत कथन मिलता है। ब्राह्मणों का एक अच्छा समुदाय अब भी इन यज्ञों का सचालन कर रहा था, यद्यपि उनमें पहले-जैसी व्यापक आस्था न रह गई थी। बुद्ध के पहले के तथा उनके समसामयिक अनेक शासक वैदिक कर्मकांड के प्रबल समर्थक एवं सरक्षक थे।

ब्राह्मण वर्ग का कोई बड़ा केंद्रीय सगठन बुद्ध के पूर्व न था। ब्राह्मणों के ऐसे कोई मदिर भी न थे जिनमें लोग विधिवत् पूजा-आराधना कर सकते। प्राय साधारण जनसमाज वृक्षों की पूजा करता था, जिनमें देवत्व की भावना मानी जाती थी। वृक्षों के अतिरिक्त साधारण लोगों में नाग-पूजा भी प्रचलित थी। ये नाग जल के निवासी और प्रभूत सपत्ति के स्वामी माने जाते थे। लोग उनसे भय खाते थे। इन नागों की सर्पविग्रह[1] तथा मानवविग्रह[2] इन दोनों रूपों में पूजा होती थी।

यक्षों तथा गधर्वों की भी पूजा इस काल में प्रचलित थी। यक्षों के अनेक बड़े केंद्र मथुरा, आलवी आदि स्थानों में थे। ये यक्ष महान् शक्तिशाली तथा धन के अधिपति माने जाते थे। यक्षों तथा यक्षिणियों की पूजा में लोगों का विश्वास बड़ा चढ़ा था। उनके अनेक रूपों की कल्पना की गई थी। यक्षों के पराक्रमी रूप के प्रति लोगों में भय-जनित श्रद्धा उत्पन्न हुई। यक्षिणियों की साधना प्राय. उनके कल्याणप्रद सुदर-मोहक रूप में की जाती थी, उनका दूसरा रूप भयावना होता था। प्राचीन साहित्य में यक्षों के सबध में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। महाभारत में यक्ष द्वारा युधिष्ठिर से अनेक प्रश्न पूछने की बात प्रसिद्ध है। इस यक्ष-प्रश्न की वैदिक गाथा 'ब्रह्मोद्य'[3] थी। उत्तर भारत में यक्ष-पूजा का कितना अधिक प्रचार हो गया था, इसका विशेष पता हमें बौद्ध और जैन-साहित्य से चलता है। इस साहित्य में उबरदत्त, सुरवर, माणिभद्र, भडीर, शूलपाणि

१. इससे तात्पर्य साँप के आकारवाली मूर्तियों से है। कभी-कभी केवल फण की आकृति बनाकर उसकी पूजा होती थी। सर्पविग्रह-प्रतिमाओं को प्रायः संतान की इच्छा रखनेवाली स्त्रियाँ पूजती थीं।

२. इसमें नाग-नागी को पुरुष-स्त्री रूप में दिखाया जाता था। सिर के ऊपर सात या पाँच फण रहते थे।

३. यजुर्वेद, ३२, ९ तथा ४५। यक्ष के लिए वैदिक साहित्य में 'ब्रह्म' नाम प्रायः मिलता है। इसकी पूजा का प्रचलन 'बरम' तथा 'बरमदेव' नाम से आज तक प्रचलित है। बीर, जखैया आदि की पूजा भी प्राचीन यक्ष-पूजा के आधुनिक रूप हैं। इसी प्रकार यक्षिणी-पूजा के प्रकार माता, जोगिनी, डाकिनी आदि की पूजा में देखे जा सकते हैं।

सुरप्रिय, घटिक, पूर्णभद्र आदि कितने ही शक्तिशाली यक्षों के नाम मिलते हैं। इसी प्रकार कुनी, नटा, भट्टा, रेवती, तमसुरी, लोका, मेखला, आलिका, बेन्दा, मघा, तिमिमिका आदि अनेक यक्षियों या यक्षिणियों के नाम भी प्राप्त होते हैं,[1] जिनसे लोग बहुत भय खाते थे। अंतिम चारों यक्षिणियाँ मथुरा की थीं। बुद्ध ने उन्हें दुष्प्रवृत्तियों से निवृत्त किया। मथुरा में गर्दभ नामक यक्ष बड़ा शक्तिशाली था। इसका दमन कर बुद्ध ने मथुरा के निवासियों का कष्ट दूर किया।[2] इसी प्रकार आलवि का दुर्दांत यक्ष भी बुद्ध द्वारा विनम्र बनाया गया।

इस काल की अनेक लौकिक मान्यताओं तथा अंधविश्वासों का भी पता चलता है। इनमें से कुछ इस प्रकार थे—हस्त-ज्योतिष, सब प्रकार के दैव-कथन, दैवी घटनाओं से फलों का कथन, स्वप्न-फल, मूषकों द्वारा काटे हुए कपड़े का फल-कथन, अग्नि-बलि, विभिन्न प्रकार के देवों को बलि-प्रदान, भाग्यप्रद स्थानों का अभिज्ञान, मंत्र-तंत्र, प्रेतविद्या, सर्प तथा विविध पशु-पक्षियों का वशीकरण, फलित ज्योतिष, विविध प्रकार की भविष्य वाणियाँ, किसी लड़की में देव को बुलाकर या दर्पण की सहायता से रहस्य का उद्घाटन, गुप्त धन को खोजने की विद्या, सर्वशक्तिमान् की उपासना, 'सिरि' या लक्ष्मी देवी का आह्वान, देवों की आन या सौगंध तथा वशीकरण और इंद्रजाल की विद्याएँ।

इस प्रकार लोक में अनेक प्रकार के चमत्कारपूर्ण क्रिया-कलापों तथा मंत्र-तंत्रों में श्रद्धा विद्यमान थी। वैदिक देवताओं—अग्नि, इंद्र आदि—की पूजा अब भी प्रचलित थी। परंतु इसके साथ ही मातृदेवी, वृक्ष-देवता, यक्षों, नागों तथा असुरों की पूजा भी होती थी। इन लौकिक देवताओं में कुछ तो दयालु थे और कुछ कठोर और क्रोधी। अनेक देवता वायु, मेघ, गर्मी, प्रकाश आदि के प्रतीक थे और कुछ मानसिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते थे।

अनेक मत-मतांतर इस काल में फूल-फल रहे थे। इस संक्रांति काल में धार्मिक मान्यताओं के संबंध में लोगों को विचार-स्वातंत्र्य प्राप्त था। कुछ आधुनिक विद्वानों का

१. द्रष्टव्य डा० मोतीचंद्र, 'सम ऐस्पेक्ट्स ऑव यक्ष कल्ट' (बुलेटिन ऑव दि प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, बंबई, १९५४), पृष्ठ ४३ तथा आगे।

२. इस यक्ष के संबंध में विस्तृत विवरण के लिए देखिए नलिनाक्ष दत्त, गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३, भाग १, पृ० १४–१७।

३. द्रष्टव्य रिज डेविड्स बुधिस्ट इंडिया (कलकत्ता संस्करण, १९५०), पृ० १४३–४४।

यह विचार कि बुद्ध के पूर्व भारतीय समाज ब्राह्मणो द्वारा पैदा की गई धार्मिक रूढ़ियों मे जकड़ा हुआ था, युक्तिसंगत नही है। वास्तव में इस काल के लोग धार्मिक विषयो मे स्वतंत्र थे,जिसके फलस्वरूप चिंतन की कितनी ही धाराएँ एव संप्रदाय अस्तित्व मे आ गये थे। पाली साहित्य के अनुसार बुद्ध के धर्म-प्रचार के पूर्व ६२ सप्रदाय विद्यमान थे। ये आजीवक, परिव्राजक, जटिलक, मुड श्रावक, वैदडिक आदि थे। जैन ग्रथो मे इन सप्रदायो की सख्या ३६३ दी हुई है। इनमें मे कितने ही वैदिक धर्म मे या जैन एव बौद्ध धर्म मे समा गये होंगे। बुद्ध के समय मे विविध धर्मों के कितने ही विद्वान् प्रचारक मौजूद थे। इनमे पुराण कस्सप, मक्खलि गोसाल, निगठ नाटपुत्त, अजित केशकम्बलिन्, अमित ऋषि, पकुद्ध कच्चायन, मोग्गलान, सजय वेलट्ठपुत्त, आडार कालाम, उद्दक रामपुत्त (रुद्रक रामपुत्र) आदि अनेक विद्वानो के नाम साहित्य मे मिलते है।

इस काल की सामाजिक स्थिति का भी यहाँ परिचय देना आवश्यक है। बुद्ध के पूर्व समाज मे रंग वा वर्ण (वन्न) के आधार पर बडाई-छुटाई थी। पर उसने परवर्ती काल की 'जाति-प्रथा' का रूप नही ग्रहण किया था। जन्म ही उच्चता या लघुता का निर्णायक है, यह बात समाज के एक अल्प वर्ग मे ही मान्य थी। कर्म की प्रधानता की ओर अब लोगो का ध्यान गया था और यह स्वीकार किया जाने लगा था कि छोटे समझे जानेवाले लोग अच्छे कर्मो से ऊँचे उठ सकते है। उपनिषदो मे तथा बुद्ध द्वारा दिये गये कई उत्तरो मे इसकी अभिव्यक्ति मिलती है।[1]

वश-परपरागत कर्मों को छोडकर लोग अन्य पेशो को भी अपनाते थे। जातक साहित्य मे ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते है। एक जातक[2] मे एक क्षत्रिय पहले कुभकार का काम और फिर डलिया बनानेवाले का काम अपनाता है। उसके बाद वह क्रमश वशकार, मालाकार तथा रसोइया बनता है। पर इन बातो मे उसकी उच्च जाति मे कोई अतर नही आता। इसी प्रकार एक सेट्ठि, दर्जी तथा कुम्हार का पेशा अपनाने पर भी उच्च वर्ग का ही माना जाता है।[3] कुछ ब्राह्मणो के द्वारा जब यह देखा गया कि यज्ञादि कर्मों द्वारा जीविकोपार्जन नही हो पाता तब वे अन्य कार्य करने लगे। बौद्ध साहित्य मे खेती करनेवाले ब्राह्मण[4] (कस्सक), वाणिज्य मे लग्न

१. द्रष्टव्य जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०१, पृ० ८६८।
२. जातक, ५, २९०।
३. जातक, ६, ३७२।
४. जातक, ३, १६३; ५, ६८।

ब्राह्मण[1] बढ़ई (वड्ढकि)[2] ब्राह्मण तथा शिकारी ब्राह्मणो[3] के उल्लेख मिलते हैं। कुछ ब्राह्मण विद्यार्थियो को पढ़ाने, भविष्य-कथन तथा मत्र-तत्र का काम भी करने लगे थे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा सेट्ठि (वैश्य)—इन तीन उच्च वर्णों के अतिरिक्त हीन जातिवाले लोग भी थे। जिनके पेशो ('हीनसिप्पानि') का उल्लेख बौद्ध साहित्य मे मिलता है। ये लोग चिडीमार, नट, चमार, जुलाहे, डलिया बनानेवाले, बढई, नाई, कुम्हार आदि थे। इन हीन जातियो के भी नीचे चडाल, पुक्कुस आदि थे।[4] इनके अतिरिक्त दास भी थे, जिनकी सतान भी प्राय दास समझी जाती थी। ये लोग अधिकतर घरेलू नौकर होते थे और उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। इनकी सख्या अधिक न थी।

तत्कालीन समाज मे अनुलोम तथा प्रतिलोम—दोनो प्रकार के विवाह प्रचलित थे। दो असवर्ण स्त्री-पुरुषो के सयोग से उत्पन्न सतान प्राय उच्च वर्ग की मानी जाती थी।[5] आपस मे खानपान भी प्रचलित था, पर चडालो, पुक्कुसो आदि के साथ उच्च वर्ग के लोगो का भोजन करना गर्हित समझा जाता था।

इस काल की एक उल्लेखनीय व्यवस्था आश्रमो की थी। आरण्यको तथा प्राचीन उपनिषद्-ग्रथो मे केवल तीन आश्रम बताए गए है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ। ये तीनो आश्रम जीवनरूपी वृक्ष की तीन शाखाओ के रूप मे माने जाते थे, न कि जीवन की क्रमिक धाराओ के रूप मे। परवर्ती उपनिषदो मे तथा महाभारत एव धर्मसूत्रो मे आश्रमो का पिछला स्वरूप मिलने लगता है और चौथा सन्यास आश्रम भी तीनो आश्रमो के साथ जुड जाता है।

वनो मे निवास करनेवाले वानप्रस्थी लोग प्राय वैदिक कर्मकाड से विरत रहने लगे थे। उन्होने ज्ञान-मार्ग को अधिक श्रेयस्कर समझा। धर्म-प्रचारको के रूप मे इन लोगो की मान्यता बढी। अनेक विदुषी महिलाओ ने भी वैदिक कर्मकाड के स्थान पर दार्शनिक विचारधारा के प्रचार मे योग दिया। फलस्वरूप कर्मकाड की अपेक्षा ज्ञान-मार्ग की ओर प्रवृत्ति बढने लगी।

१. **जातक**, ५,४७१; २, १५।
२. **जातक**, ४, २०७।
३. **जातक**, २, २००।
४. **अंगुत्तर निकाय**, १, १६२; **याकोबी, जैनसूत्रज**, २, ३०१।
५. **जातक**, ४, ३८; १४६ तथा ६, ३४८।

बुद्ध के पूर्व उत्तर भारत की जनभाषा पाली थी। इसका प्रचार तक्षशिला से लेकर चपा[1] तक था। सस्कृत का प्रयोग उच्च वर्ग के कुछ लोगो तक ही सीमित था। यह सस्कृत प्राचीन वैदिक सस्कृत से भिन्न हो चली थी। जनभाषा पाली मे वैदिक सस्कृत के कितने ही शब्द घुल-मिल गए थे। कुछ नये शब्द भी गढे गए या अनार्य भाषाओं से ग्रहण किए गए। बुद्ध ने इसी जनभाषा पाली को अपनाया। इस कारण भी ब्राह्मणों मे उनके प्रति विरोध की भावना पैदा हुई।

प्राक्-बुद्धकालीन समाज की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। अनेक प्रकार के उद्योग-धधे उन्नति पर थे। यातायात के साधनो का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। सडको के किनारे बडे नगर स्थापित थे, जिनमे विविध व्यवसाय प्रचलित थे। ये नगर चपा, राजगृह, वैशाली, वाराणसी, अयोध्या, साकेत, श्रावस्ती, कौशाबी, मथुरा, तक्षशिला आदि थे। जो मुख्य व्यवसाय इस काल मे प्रचलित थे वे वस्त्र-उद्योग, हाथी दाँत का काम, धातु का काम, बढईगीरी, कुम्हार का काम तथा पत्थर का काम थे। इनके अतिरिक्त रत्नकार, मालाकार (माली), सुराकार (मदिरा बनानेवाले), रगकार (रगरेज), चर्मकार (जते आदि बनानेवाले) भी थे।

इस काल मे शिल्पियो और व्यवसायियो ने अपने को ग्रामीण कृषक जनता पर पूर्णतया अवलबित रहने से बहुत-कुछ स्वतत्र कर लिया था। इससे उन्हे अपने व्यवसाय को एक निर्दिष्ट परिधि से आगे बढाने का मौका मिल गया। अब वे गाव के लोगो की आवश्यकताओं से कहीं अधिक सामान बनाने लगे और उसे बाहर भेजने लगे। उद्योगो की उन्नति एव सुरक्षा के लिए विविध व्यवसायवालो ने अपने-अपने सगठन बना लिए, जो निगम, सघ, श्रेणि, पूग, निकाय आदि नामो से प्रसिद्ध हुए। प्रत्येक निगम का एक प्रधान या अध्यक्ष होता था जो 'पमुख' (प्रमुख) या 'जेट्ठक' (ज्येष्ठक) कहलाता था। जातको मे 'कुमारजेट्ठक' (स० ३८७), 'मालाकार जेट्ठक' (स० ४१५), 'वड्ढकिजेट्ठक' (स० ४६६) आदि के उल्लेख मिलते है। व्यापारियो के समुदायो के प्रधान 'सत्थवाह जेट्ठक' (स० २५६) कहलाते थे। जातको से पता चलता है कि चोरो के भी समुदाय अपने जेट्ठक नियुक्त करते थे। ५०० चोरो के एक जेट्ठक का वर्णन सत्त-पत्त जातक (स० २७९) मे मिलता है। समुद्दवाणिज जातक (स० ४६६) से लिखा है कि एक गाँव मे बढइयो के १,००० मकान थे। इनमे से प्रत्येक ५०० बढइयो के ऊपर

१. यह बिहार प्रांत के जिला भागलपुर म है। प्राचीन अंग राज्य की चंपा नगरी राजधानी थी।

एक अध्यक्ष था।[1] कहीं-कहीं अध्यक्ष के लिए सेट्ठि (श्रेष्ठि) शब्द मिलता है। विभिन्न निगमों में सदस्यों की संख्या पृथक्-पृथक् होती थी। शिल्पियों और व्यापारियों के निकाय अपने-अपने व्यवसायों के संरक्षण एवं प्रवर्धन के प्रति सचेष्ट रहते थे। इनके जेट्ठकों का शासन में प्राय महत्त्वपूर्ण भाग रहता था। निकायों के अपने नियम थे, जो राज्य द्वारा मान्य थे। धर्मसूत्र ग्रंथों से पता चलता है कि राजा संघों के नियमों का आदर करता था और किसी प्रकार की अव्यवस्था होने पर विविध वर्गों को उनके नियमों में नियोजित करता था।[2] निगमों का शासन-कार्य में बड़ा हाथ रहता था। उग्ग-जातक[3] से ज्ञात होता है कि व्यावसायिक संघों के दो अध्यक्ष कोसल राज्य के महामात्य-पद पर आसीन थे। सूचीजातक में लोहकारों के प्रमुख को 'राजवल्लभ' (राजा का विशेष कृपापात्र) कहा गया है। तियोध जातक[4] में उल्लेख आया है कि एक जेट्ठक राज्य का कोषाध्यक्ष बनाया गया था।

बौद्ध साहित्य में 'सेट्ठि' (सेठ) का उल्लेख बहुत मिलता है। ये कई प्रकार के होते थे। सबसे बड़ा 'महासेट्ठि' कहलाता था। उससे छोटे 'अनुसेट्ठि' तथा 'उत्तरसेट्ठि' थे। समाज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। बुद्ध के समकालीन अनाथपिंडिक सेठ की कथा प्रसिद्ध है। उसका संबंधी राजगृह का महासेट्ठि था।[5] मगधराज बिंबिसार तक उसके यहाँ निमंत्रण में आया करते थे। इसी प्रकार मृगधर, यश, मेंडक, धनंजय आदि की गणना भी बड़े श्रेष्ठियों में थी। महावग्ग से ज्ञात होता है कि राजगृह का सेट्ठि वहाँ के राजा तथा वणिक-समुदाय के हित के लिए विविध कार्य करता रहता था। राजा लोग सेट्ठि का बड़ा आदर करते थे और उसकी सलाह राज्य के अनेक कार्यों में ली जाती थी। विशेष आवश्यकता पड़ने पर सेट्ठि राज्य के लिए धन भी प्रदान करता था। व्यापारिक वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में वह राजा से व्यावसायिक हितों की रक्षा कराता

१. "कुलसहस्से पञ्चन्न पञ्चन्न कुलसतान जेट्ठका द्वे वड्ढकि अहेसुं।" (जा० स० ४६६)। निगमों की विस्तृत सूची के लिए देखिए रमेशचंद्र मजुमदार, कारपोरेट लाइफ इन ऐंश्यंट इंडिया, पृ० ४, १८–१९, तथा रिज डैविड्स, बुधिस्ट इंडिया, पृ० ५७ तथा आगे।

२. देखिए गौतम धर्मसूत्र, ११,२१।

३. सं० १५४।

४. सं० ४४५।

५. चूलवग्ग, ६, ४, १।

६. "बहूपकारको देवस्स चेव नेगमस्स च।" (महावग्ग, ८, १, १६)।

था। विभिन्न निगमों के बीच कोई झगड़ा उपस्थित होने पर राजा सेट्ठि की सहायता से उसे निपटाता था। देश की आर्थिक योजनाओं के निर्माण में, उत्पादन-वितरण आदि की व्यवस्था में तथा श्रेणिधर्म पर विचार करने में राजा श्रेष्ठि से परामर्श करता था। श्रेष्ठि की अनुपस्थिति में उसका कार्य अनुश्रेष्ठि (अनुसेट्ठि) करता था।[1]

ये महासेट्ठि आदि के पद प्राय कुलक्रमागत होते थे। राजपरिवार उनके प्रति सम्मान का भाव रखते थे। अट्ठान जातक[2] में लिखा है कि बनारस का राजकुमार वहां के सेट्ठि-पुत्र के साथ एक ही गुरु के यहाँ पढ़ता था। बड़े होने पर भी इन दोनों की मैत्री में कमी नहीं आई। सेट्ठि लोग प्राय साहित्य तथा ललित कलाओं को सरक्षण प्रदान करते थे। उनके यहाँ कितने ही सगीतज्ञ, नर्तक-नर्तकियाँ, चित्रकार तथा अन्य कलाकार रहते थे। समय-समय पर उनके यहाँ विविध आमोद-प्रमोद के विशेष आयोजन हुआ करते थे। जातकों में 'असीतिकोटिविभवो सेट्ठि' (अस्सी करोड़ की सपत्तिवाले सेट्ठि) के वर्णन कई स्थानों में मिलते है।[3] नगरों के अतिरिक्त कुछ सेट्ठि गाँवों में भी रहते थे। सभवत उनके लिए ही साहित्य में 'जनपद सेट्ठि' शब्द का व्यवहार हुआ है।[4]

सेट्ठि लोग अपने लड़कों को ऊँची से ऊँची शिक्षा दिलाने का प्रयत्न करते थे। निग्रोध जातक से ज्ञात होता है कि राजगृह के सेट्ठि ने अपने दो लड़कों को तक्षशिला में अध्ययन के लिए भेजा और वहाँ के अध्यापक को २,००० मुद्राएँ भेंट में दीं। उस समय तक्षशिला के विश्वविद्यालय में विविध शिल्पों (सिप्पानि) की उच्च शिक्षा का प्रबध था।

शिल्पी तथा व्यवसायी लोग दान देने में अग्रणी थे। कितने ही मदिर, औषधालय, पुण्यशाला, विद्यालय तथा गरीब लोग उनके दान से चलते-पलते थे। विविध व्यवसाय-वालों तथा साधारण गृहपतियों को वे धन उधार देते या दिलाते थे। उस समय बैंक नहीं थे। जैसा कि जातकों से पता चलता है, लोग प्राय अपना धन जमीन में गाड़ देते थे।[5] बिना ब्याज के और ब्याज पर भी धन उधार दिया जाता था। पाणिनि ने द्वैगुणिक (दुगुने), त्रैगुणिक (तिगुने) और दशैकादशिक (दस-ग्यारह गुने) ब्याज का

१. रिचर्ड फिक, दि सोशल आर्गेनिज़ेशन इन नार्दर्न इंडिया इन बुद्धज टाइम्स, (कलकत्ता, १९२०), पृ० २५८ तथा आगे।

२. सं० ४७५।

३. जातक सं० १२८, ३००, ४४४ और ३८२।

४. निग्रोध जातक (सं० ४४५)।

५. उदाहरणार्थ देखिए जातक संख्या ३९,७३ तथा १३७।

उल्लेख किया है, जो वास्तव मे बहुत अधिक था। वशिष्ठ ने ब्याज की दर दो प्रतिशत से पाँच प्रतिशत तक लिखी है।[1] धर्मशास्त्रकारो ने ब्राह्मणो तथा क्षत्रियो के लिए ब्याज लेना निषिद्ध लिखा है। ब्याज की विभिन्न दरे प्राक्-बुद्धकाल मे भी प्रचलित रही होगी।

इस प्रकार हम देखते है बुद्ध के पूर्व वर्तमान उत्तर प्रदेश के कोसल, काशी, पचाल, शूरसेन आदि राज्य आर्थिक दृष्टि से समृद्ध थे। शिल्प तथा वाणिज्य की दशा अच्छी थी। इस काल मे कई बडे व्यापारिक मार्ग थे। एक बडी सडक श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक जाती थी। इसपर मुख्य बडे नगर साकेत, कौशाबी, विदिशा, गोनर्द, उज्जयिनी तथा माहिष्मती थे। दूसरा बडा मार्ग श्रावस्ती से राजगृह तक जाता था। व्यापारी लोग श्रावस्ती से तराई मे होते हुए वैशाली के उत्तर पहुँचते थे। फिर वहाँ से दक्षिण की ओर जाते थे। मार्ग मे ठहरने के स्थान सेतव्य, कपिलवस्तु कुशीनगर, पावा, हस्तिग्राम, भडग्राम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालदा थे।[2]

---

१. वशिष्ठ धर्मसूत्र, २, ४८-४९।

२. यातायात के अन्य मार्गों का वर्णन पिछले अध्याय (पृ० ११-१४) में किया जा चुका है।

अध्याय ३

गौतम बुद्ध का प्रारंभिक जीवन

भगवान् बुद्ध का जीवन कोसल में बौद्ध धर्म के इतिहास का एक सारभूत अंग है। बुद्ध पसेनदि की भाँति कोसलक थे, यह पसेनदि के ही शब्दों से इस प्रकार व्यक्त होता है—"भगवापि कोसलको अहं पि कोसलको।"[1] राजकुमार सिद्धार्थ का जन्म शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु में हुआ था और शाक्यों का देश राजा पसेनदि के राज्य में सम्मिलित था। अग्गञ्ञ सुत्तान्त[2] में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शाक्य गण पसेनदि कोसलक से अनुयुक्त (अनुयुत्तो) थे और उसके प्रति उचित आदर और प्रणति प्रकट करते थे। पसेनदि भी राज्य-कार्य से शाक्यों के प्रदेश में जाया करते थे।[3] अतः कोसल या उत्तर प्रदेश महात्मा बुद्ध का स्वदेश होने का पूरा दावा कर सकता है।[4] यद्यपि सिद्धार्थ ने बुद्धत्व (बोधि) गया में प्राप्त किया, परन्तु उन्होंने न केवल अपना प्रथम उपदेश बनारस के निकट इसिपत्तन में दिया अपितु वहीं उन्होंने अपने शिष्यों का प्रथम दल संघटित किया और उन्हें इस आदेश के साथ विभिन्न स्थानों में भेजा—"जाओ भिक्षुओ, भ्रमण करो, बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर अनुकंपा करने के लिए, देवों और मनुष्यों के हित एवं सुख के लिए। तुममें से कोई दो एक साथ मत जाओ। भिक्षुओ उपदेश करो धर्म का, जो आदि में कल्याणमय है, मध्य में कल्याणमय है, अन्त में कल्याणमय है" (चरथ भिक्खवे, चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकंपाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं, मा एकेन द्वे अगमित्थ, देसेथ भिक्खवे, धम्मं आदि कल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसान कल्याणं)।

बुद्ध के धर्म-प्रचार-कार्य का संपूर्ण उत्तरार्ध काल श्रावस्ती में ही बीता, जो उस समय कोसल की राजधानी थी। और उन्होंने अपना शरीर-त्याग किया कुसीनारा

१. मज्झिम० २, पृ० १२४।

२. दीघ० ३।

३. मज्झिम० २, पृ० ११८—"पसेनदि कोसलको नगरकं अनुपत्तो होति केनचिद् एव करणीयेन;" ३, पृ० १०४—"नंगरकं नाम सक्यानं निगमो।"

४. सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं—"हिमवंत-कोसल से सटे हुए हो आदिच्च-साक्य हैं। उसी साक्य-कुल से मैंने प्रव्रजन किया।"

(कसिया) में। बौद्धधर्मियों को स्वयं बुद्ध ने तीर्थयात्रा के लिए जो चार स्थान बतलाए थे उनमें से तीन उत्तर प्रदेश की सीमा के अंतर्गत अवस्थित हैं।[1]

इन सब साक्ष्यों के आधार पर असंदिग्ध रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौतम बुद्ध उत्तर प्रदेश के थे। आगे यह दिखाया जायगा कि उन्होंने उन्हीं स्थानों में अपने उपदेश सबसे अधिक दिए और विनय के अधिकांश नियम निर्मित किए जो उत्तर प्रदेश राज्य में ही सम्मिलित हैं। यह भी बताया जायगा कि श्रावस्ती और बनारस बुद्ध के प्रमुख शिष्यों के अत्यंत प्रिय स्थान थे, जहाँ वे प्रायः एकत्र हुआ करते थे।

बुद्ध के परंपराप्राप्त जीवन-चरित में उनकी बोधिसत्त्व तथा बोधिसत्त्व के पूर्व तक की अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। महावस्तु में बोधिसत्त्व के पूर्व की अवस्था को 'प्रकृति-चर्या' कहा गया है। इस चर्या (साधना-क्रम) में रहनेवाला व्यक्ति सामान्य मनुष्य (प्रकृति = पाली 'पुथुज्जन') ही रहता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह (१) अपने माता-पिता का आज्ञापालक हो, (२) श्रमणों और ब्राह्मणों के प्रति उदार रहे (३) गुरुजनों का आदर करे, और (४) दस प्रकार के सत्कर्मों (कुशल-कर्मपथ) को करता रहे। साथ ही उसे यह भी चाहिए कि वह (५) दूसरों को दान देने तथा पुण्यार्जन करने के लिए उत्साहित करे और (६) बुद्धों और अर्हतों की पूजा किया करे। परंतु इस चर्या में मनुष्य के हृदय में बुद्धत्व प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं जगती। निदानकथा में सामान्य मनुष्य के कर्तव्यों का विवरण नहीं दिया गया है और केवल यह कहा गया है कि बोधिसत्त्व अपनी बोधिसत्त्व के पूर्व की अवस्था में तण्हंकर मेधंकर तथा सरणंकर नामक बुद्धों के समकालीन थे। महावस्तु के अनुसार बोधिसत्त्व अवस्था एक प्राचीन शाक्यमुनि बुद्ध के समय से प्रारंभ हुई, जब कि हमारे बोधिसत्त्व ने बोधि प्राप्त करने का प्रथम निश्चय (प्रणिधान) किया, और बाद में यह निश्चय उन्होंने कई बार किया। केवल इन प्रणिधानों के समय को 'प्रणिधि या प्रणिधान चर्या' कहते हैं। बोधिसत्त्व की दूसरी चर्या जिसे 'अनुलोम' (अग्रसर होना) कहते हैं, गोतमबुद्ध के समय में प्रारंभ हुई, जब कि वे बोधिसत्त्व के लिए विहित

१. उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त, जो कि यह सिद्ध करते हैं कि बुद्ध कोसलक थे, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बुद्ध का सबसे पहला जीवनचरित उनके श्रावस्ती में दिये गये प्रवचनों में प्राप्त होता है, जैसे अरिय परियेसन सुत्त (मज्झिम० १, पृ० १६० तथा आगे) जो एक आत्मचरित है, तथा अच्छरियब्भुत धम्मसुत्त (मज्झिम० ३, पृ० ११८ तथा आगे) जिसमें ललितविस्तर में पाई जानेवाली कुछ अनुश्रुतियाँ दी हुई हैं।

अनिवार्य गुणों को प्राप्त करने में प्रवृत्त हुए। इसका विवरण कई जातकों में दिया हुआ है। महायान मत के अनुसार अनुलोम-चर्या में रहते हुए बोधिसत्त्व उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए प्रथम से अष्टम 'भूमि' तक पहुंच जाते हैं। अविवर्त वा अनिवर्तन (न लौटनेवाली) नाम की चतुर्थ चर्या हमारे बोधिसत्त्व ने दीपंकर बुद्ध के समय में ग्रहण की, जब कि उन्होंने मेघमाणव अथवा सुमेध ब्राह्मण के रूप में जन्म लिया।

महावस्तु में दी हुई मेघमाणव की कथा इस प्रकार है—'मेघमाणव ने जब अपनी ब्राह्मण-धर्म की शिक्षा समाप्त कर ली तब वे अपने गुरु को अध्ययन-समाप्ति की गुरु-दक्षिणा देने के लिए धन एकत्र करने के हेतु हिमवत के मैदानों में आए। एक उदार व्यक्ति ने उन्हें 'पुराण' नाम वाली पांच सौ मुद्राएं दीं। उनके मन में राजधानी दीपवती को देखने की इच्छा हुई और उन्होंने देखा कि नगर खूब सजाया गया है, जैसे कोई समारोह मनाया जा रहा हो। अपने हाथों में सात कमल पुष्प लिए हुए एक सुंदर युवती जा रही थी, उससे पूछने पर उन्हें पता चला कि नगर दीपंकर बुद्ध के स्वागत के लिए सजाया गया है। तब उन्होंने पांच सौ 'पुराण' मूल्य देकर उससे पांच कमल पुष्प क्रय करने की इच्छा प्रकट की। युवती ने उत्तर दिया कि वे पुष्प उन्हें तभी मिल सकते हैं जब वे उसे अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करें। उसके प्रस्ताव पर थोड़ा नानु-नच करने के बाद उसके यह विश्वास दिलाने पर कि वह उनकी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बाधक न बनेगी, उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। दीपंकर बुद्ध की दीप्तिमान् आकृति को देखकर उनके मन में गहरी श्रद्धा उत्पन्न हुई और उन्हें अद्वैत (अद्वय संज्ञा) का बोध हो गया। वे बुद्ध की दिव्य शक्तियों को देखकर उनके भक्त बन गए और अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रकट करने के लिए उन्होंने बुद्ध के कमलवत् चरणों की धूलि अपने केशों से पोंछी। जब वे ऐसा कर रहे थे उसी समय उनके हृदय में बोधि प्राप्त करने की अभिलाषा जाग उठी।'

दूरे निदान

निदान कथा के अनुसार बोधिसत्त्व अवस्था दीपंकर बुद्ध के समय से प्रारंभ हुई, न कि उसके पहले, जैसा महावस्तु में बताया गया है। उस समय हमारे बोधिसत्त्व का जन्म सुमेध ब्राह्मण के रूप में हुआ था, जिसकी कथा इस प्रकार है—'सुमेध का जन्म अमरावती के एक अभिजात एवं अत्यंत धनाढ्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनके माता-पिता का उनकी बाल्यावस्था में ही देहांत हो गया। उन्होंने ब्राह्मण-शास्त्रों का अध्ययन

किया। अपने माता-पिता द्वारा छोड़ी हुई अपार संपत्ति से वे ऊब गए और उसे दान कर दिया। अब वे संन्यास लेकर उस अमर अवस्था (अमत-महानिब्बान) की साधना में प्रवृत्त हुए जो जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख तथा रोग-क्लेश से सर्वथा मुक्त है। उन्हें अनुभव हुआ कि यत संसार में प्रत्येक वस्तु के धनात्मक (भावात्मक) और ऋणात्मक (अभावात्मक) दो पक्ष हैं, अतएव जन्म की भी कोई अभाव-सूचक वस्तु अवश्य होनी चाहिए जो जन्मरहित हो, और वह वस्तु उन्हें प्राप्त होगी। वे हिमालय में चले गए और केवल वृक्षों से गिरे हुए फलों से जीवन-निर्वाह करते हुए धम्मक पर्वत पर रहने लगे। उन्होंने शीघ्र ही ध्यान योग तथा पंच महाशक्तियों (अभिज्ञा)[1] में सिद्धि प्राप्त कर ली।

वे समय-समय पर नमक और फलों का रस लेने के लिए ग्रामों में जाया करते थे, सो एक दिन वे रम्मक नगर चले गए। उसी समय बुद्ध दीपकर उस प्रत्यंतदेशीय नगर (पच्चन्त-देसविसय) रम्मक में पहुँचे और सुदस्सन महाविहार में ठहरे। सुमेध तापस ने नगर-निवासियों को बुद्ध के स्वागत के लिए नगर की सफाई और सजावट में तत्पर पाया अतः वे भी उसमें हाथ बँटाने के लिए अग्रसर हुए। वे बुद्ध की दिव्य दीप्तिमान् आकृति पर मुग्ध हो गए और उनके मन में उनके निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग कर देने की इच्छा हुई। जब बुद्ध एक कर्दमयुक्त मार्ग से जा रहे थे तो उनके चरण मलिन न हों जायँ इसलिए सुमेध उस मार्ग पर रत्न-सेतु (मणिकफलक सेतु) के सदृश लेट गए, जिससे बुद्ध और उनके शिष्य जो सभी सिद्ध (अर्हत्) थे, उनके शरीर पर से चले जायँ। जब वे इस प्रकार लेटे हुए थे उस समय उनके हृदय में यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि मैं अपने मलिन कर्मों को नष्ट करके (जो कि वे सरलता से कर सकते थे) स्वयं मुक्ति न प्राप्त करूँ प्रत्युत मुझे बुद्धत्व प्राप्त हो, जिससे मैं असंख्य प्राणियों का जीवन-मरण के प्रवाह से उद्धार करने में समर्थ हो सकूँ। तब दीपकर ने ठीक उनके सिर के सामने खड़े होकर यह भविष्यवाणी की कि यह महान् जटिल तापस असंख्य कल्पों के अनंतर बुद्धत्व प्राप्त करेगा। वह कहाँ जन्म लेगा, कैसे परम ज्ञान (बोधि) प्राप्त करेगा और कौन उसके मुख्य शिष्य होंगे, इसका भी उन्होंने विस्तार से वर्णन किया। उस समय अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं ने उनकी भविष्यवाणी की पुष्टि की और एक भूकंप भी आया जिससे इस बात में कुछ भी संदेह नहीं रह गया कि सुमेध 'बुद्ध बीजकुर' है। सुमेध को भी इस सत्य का अनुभव हुआ और अपनी उच्च शक्तियों

१. द्रष्टव्य, पाली टेक्स्ट, पृ० १४।

(अभिज्ञा) के द्वारा उन्होंने उन दस पारमिताओ को प्राप्त किया जिन्हे पहले के बोधिसत्त्वो ने बुद्ध होने के लिए प्राप्त किया था।' सुमेध ब्राह्मण के रूप मे जन्म लेने के बाद (न कि पहले) के बोधिसत्त्व के सभी जन्मो को पाली-परपरा में उनकी 'अनुलोम-चर्या' माना गया है, जिसका उद्देश्य उन पारमिताओ या पारमियो मे सिद्धि प्राप्त करना था जिनका वर्णन जातकट्ठवण्णना' की ५५० कथाओ मे किया गया है। दसो पारमियो मे से प्रत्येक की सिद्धि निम्नलिखित जन्मो मे हुई--

१.	वेस्सतर जातक	दान पारमिता	(दान)
२	सखपाल जातक	शील पारमिता	(नीति-उपदेश)
३	चुलसुतसोम जातक	नेक्खम्म पारमिता	(निवृत्ति)
४	मत्तुभट्ट जातक	पञ्ञा पारमिता	(ज्ञान)
५	महाजनक जातक	विरिय पारमिता	(वीर्य)
६.	खन्तिवाद जातक	खन्ति पारमिता	(क्षान्ति, क्षमा)
७	महासुतसोम जातक	सच्च पारमिता	(सत्य)
८.	मुगपक्ख जातक	अधिट्ठान पारमिता	(दृढना)
९	एकराज जातक	मेत्ता पारमिता	(मित्रना)
१०	लोमहस जातक	उपेक्खा पारमिता	(उदासीन भाव)

अविदूरे निदान

महावस्तु के द्वितीय भाग निदानकथा के अविदूरे निदान मे तथा अन्य सभी जीवनचरित्रो मे बुद्ध के जीवन का आरभ उनके तुषित स्वर्ग के जीवन से होता है। जब बोधिसत्त्व अपने तुषित स्वर्ग के प्रासाद मे सिहासन पर विराजमान थे तब देवो ने उनसे बुद्ध-रूप धारण करने की (बुद्ध होने की) प्रार्थना की और उन्हे उनके पूर्व जन्मो का स्मरण कराया जिनमे उन्होने (बोधिसत्त्व ने) बोधिसत्त्व के दिव्य गुणो को प्राप्त करने के लिए विकट साधनाएँ की और घोर कष्ट सहे थे। देवो ने उन्हे उनकी बार-बार दुहराई गई उस दृढ प्रतिज्ञा का भी स्मरण दिलाया जो उन्होने पृथ्वी के ही नही, स्वर्ग एव नरक के भी समस्त जीवो को बारबार के जन्म-मरण के दु खो से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से बोधि प्राप्त करने के लिए की थी। समस्त देवो के इस प्रकार विनय करने पर बोधिसत्त्व ने घोषित किया कि अब बोधि प्राप्त करने के लिए मेरे मृत्युलोक मे अवतरित होने का उपयुक्त समय आ गया है और मै बारह वर्षों के अनतर ऐसा

करूँगा।' जबूद्वीप को उनके अवतरण के लिए तैयार करने के उद्देश्य से देवगण महापुरुषो के योग्य सातो रत्नो[२] सहित, ब्राह्मण आचार्यो के रूप मे स्वय वेद पढाने के लिए पृथ्वी पर आए, जिनका अध्ययन महापुरुषो का विशेष लक्षण है। देवो ने बोधिसत्त्व के भावी अवतार की सूचना प्रत्येकबुद्धो को दे दी, क्योकि जब सम्यक् सबुद्ध पृथ्वी पर प्रकट हो तो प्रत्येकबुद्धगण वहाँ नही रह सकते। सम्यक् सबुद्ध के भावी अवतार का समाचार सुनकर प्रत्येकबुद्धो ने ऋषिपत्तन-मृगदाव (वर्तमान सारनाथ, बनारस के निकट) मे योगाग्नि के द्वारा अपने पवित्र मर्त्य शरीरो को त्याग दिया।

बारह वर्ष पूरे हो जाने पर, यह निश्चय करने के लिए कि उनके मनुष्य-जन्म ग्रहण करने के हेतु कौन-सा समय उपयुक्त होगा तथा कौन सा महाद्वीप, देश एव कुल उनके योग्य होगा, बोधिसत्त्व ने सपूर्ण पृथ्वी का परिवीक्षण किया।

उनके अवतरण के लिए सबसे उपयुक्त समय सृष्टि का अतिम युग था, जब कि चारो ओर लोग जन्म, जरा, रोग एव मृत्यु के दु खो से पीडित थे। सबसे उत्तम महादेश जबूद्वीप था, पूर्वविदेह, अपर गोदान वा उत्तर कुरु नही। सबसे उपयुक्त स्थान जबूद्वीप के प्रत्यत देश मे नही, प्रत्युत उसके मध्य मे स्थित एक नगर मे था। इस मध्य देश[३] की सीमा इस प्रकार बताई गई है--

१. तुलनीय मज्झिम०, ३, पृ० ११९--सतो सम्पजानो बोधिसत्तो तुसित कायं उपज्जि, सतो सम्पजानो बोधिसत्तो तुसिते काये अत्यासि सतो सम्पजानो बोधिसत्तो तुसित काया चवित्वा मातु कुच्छि ओक्कमीति। 'अभिनिष्क्रमण सूत्र' मे यह वर्णन किया गया है कि तुषित भगवान् बोधिसत्त्व के मृत्युलोक में अवतरित होने के बारह वर्ष पूर्व उनके शरीर में जरा एवं मृत्यु के पूर्व लक्षण प्रकट हुए।

२. सातो रत्न ये हं--

(१) सपूर्ण पृथ्वी पर शासन करनेवाला चक्र (चक्र-रत्न)।
(२) अनत-शक्ति-सपन्न गजराज (हस्तिरत्न)।
(३) सर्वश्रेष्ठ अश्व (अश्व-रत्न)।
(४) रात को भी सूर्य का-सा प्रकाश फेंकनेवाला एक अत्यत दीप्तिमान् रत्न।
(५) एक परम रूपवती रानी (स्त्री-रत्न)।
(६) एक सुयोग्य अमात्य।
(७) एक अति बलवान् एवं बुद्धिमान् सेनापति (परिणायक-रत्न)।

३. 'मज्झिम-देश', विनय १, पृ० १९७; जातक, १, पृ० ४९, ८०; दिव्यावदान (पृ० २१) में इसकी सीमा पूर्व की ओर इतनी दूर तक जाती है कि पुंड्रवर्धन उसके अंतर्गत आ जाता है।

पूर्व में कजगल नगर, जिसके आगे महासाल था, दक्षिण-पूर्व में सललवती नदी; दक्षिण-पश्चिम में सतकण्णिक, पश्चिम में थूण नाम का ब्राह्मणों का ग्राम, उत्तर में उसिरद्धज पर्वत।

बोधिसत्त्व के दिव्य जन्म के अनुरूप वही कुल हो सकता था जो उस काल की सर्वश्रेष्ठ जाति का हो, न कि चडाल, धरिकार, बढ़ई, पुक्कुस या ऐसी किसी अन्य नीच जाति का। उस समय क्षत्रियों की जाति सबसे ऊँची मानी जाती थी, अत उन्होंने क्षत्रिय कुल में जन्म लेने का निश्चय किया।

इसके अनतर देवगण विचार करने लगे कि सोलह राजकुलों और जनपदों में से कौन-सा उनके जन्म के लिए उत्तम होगा। उन्होंने कोसल, वस, वैशाली, प्रद्योत, मथुरा के सुबाहु, हस्तिनापुर के पाडव, मिथिला के सुमित्र—इन सबकी परीक्षा की, परतु सबको किसी न किसी गुण में हीन पाया। तब एक धर्मवृद्ध बोधिसत्त्व ने उन्हें सुझाया कि केवल शाक्यकुल[1] ही एक ऐसा क्षत्रिय राजकुल है जो उनके जन्म से गौरवान्वित होने योग्य है, और बोधिसत्त्व ने इसका समर्थन किया।

१. शाक्यकुल की रक्तशुद्धता सिद्ध करने के लिये महावस्तु सृष्टि के आरभ तक जा पहुँचता है जब आदि राजा महासम्मत का प्रादुर्भाव हुआ था, जिसके पुत्र-वंश में शाक्यों की तथा कन्या-वंश में कोलियों की उत्पत्ति हुई। बोधिसत्त्व की माता और पत्नी कोलिय वंश की ही थीं। कथा इस प्रकार है—

बहुत समय पहले न पृथ्वी थी और न सूर्य, चंद्र और तारे थे। जीव केवल सूक्ष्म शरीरधारी थे, उनके स्थूल शरीर नहीं थे। इससे वे सर्वत्र विचरण करने में समर्थ थे। कालांतर में वे निर्मल आत्माएँ पृथ्वी से उत्पन्न अन्न के लोभ के वशीभूत हो गईं और शनैः शनैः पृथ्वी, सूर्य, चंद्र और तारों से युक्त यह विश्व अस्तित्व में आया। उन आत्माओं के सूक्ष्म वा मानस शरीर लुप्त हो गए और उन्होंने स्थूल भौतिक शरीर धारण किए। उनके लिए स्वतः उत्पन्न अन्न की कमी न थी, परतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, वे अधिक से अधिक सग्रह एवं सचय करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप एक दूसरे का अन्न बिना उससे पूछे ले लेने लगे। इस प्रकार सभी लोग अधर्मी हो गये। तब वे सब एक स्थान पर इकट्ठे हुए और उन्होंने अपने लिये एक नेता चुना जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए अन्न के खतों की सीमाएँ निश्चित कर दे। इस प्रकार सबके द्वारा चुने जाने के कारण वह नेता 'महासम्मत' कहलाया। वह राजा एवं पिता के समान सबका परिपालक बना। सर्वास्तिवाद विनय में कहा गया है कि इस राजा ने मथुरा के पास अपना सर्वप्रथम राज्य (आदि राज्य) स्थापित किया (गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३,

बोधिसत्त्व ने तब तुषित देवों को 'धर्मालोक' नाम के उपदेश दिए, जिनमें धर्म के समस्त मूलभूत तत्त्वों का निरूपण किया गया था। फिर उन्होंने अपने वियोग में शोकाकुल तुषित देवों का शोक दूर करने तथा धार्मिक विषयों में उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए मैत्रेय बोधिसत्त्व को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया।

तब देवगण यह विचार करने लगे कि बोधिसत्त्व का किस रूप में अपनी माता के गर्भ में प्रवेश करना उचित होगा, और इस परिणाम पर पहुँचे कि मासल शरीर, लाल मस्तक तथा छ दाँतोंवाले श्वेत हाथी के रूप में प्रवेश करना सबसे अच्छा होगा, क्योंकि फलित ज्योतिष के ग्रंथों में इसका फल यह बताया गया था कि इससे बत्तीस लक्षणों से युक्त एक महान् पुरुष का जन्म होगा। शाक्यों के देश में बुद्ध के जन्म लेने के पहले, मानो उनके जन्म की पूर्वसूचना देने के लिए, देश वृक्षों, लताओं और पुष्पों से परिपूर्ण हो गया, जिनपर पक्षी कलरव करने और भ्रमर गुंजार करने लगे तथा सभी

भाग ४)। उसके बाद बहुत से राजा हुए, जिनमें अंतिम इक्ष्वाकुवंशी सुजात था। उसकी राजधानी साकेत थी। उसके पाँच पुत्र और पाँच पुत्रियाँ थीं, तथा जेन्त नाम का एक पुत्र एक रखेली के गर्भ से था। उस रखेली से राजा इतना प्रसन्न था कि वह अपने इच्छानुसार जो कोई भी वर माँगे उसे देने का उसने वचन दे दिया। फलतः उसने यह वर माँगा कि उसका पुत्र जेन्त युवराज बनाया जाय और राजा के औरस पुत्र निर्वासित कर दिए जायँ। राजा को अपनी इच्छा के विरुद्ध उसे यह वर देना स्वीकार करना पड़ा, परंतु उसने अपनी प्रजा को अपने सुयोग्य निर्वासित पुत्रों के साथ जाने की अनुमति दे दी तथा उन पुत्रों की यात्रा के लिए समस्त आवश्यक वस्तुओं का समायोजन कर दिया। उन सबने शाक्य-देश छोड़ दिया; हिमालय की तराई में जाकर एक स्थान अपने रहने के लिए चुना, जहाँ कपिल मुनि का आश्रम था। अपने कुल की शुद्धता की रक्षा के लिए उन राजपुत्रों ने अपनी सौतेली बहिनों से विवाह कर लिया, जिसे ब्राह्मणों ने बहुत अनुचित समझा। उनकी संतान 'शाक्य' कहलाई। पाँचों भाइयों में जो ज्येष्ठ था उसके वंश में शुद्धोदन हुआ। एक भाई के एक अत्यंत रूपवती कन्या थी, परंतु उसे कुष्ठ हो गया था; इस कारण वह बहुत दिनों तक वन के भीतर एक गुफा में रखी गई और वहीं उसे भोजन पहुँचाया जाता रहा। कालांतर में एक बाघ ने धरती को खुरचकर बहुत सी मिट्टी गुफा के द्वार पर इकट्ठी कर दी जिससे गुफा बंद हो गई। राजर्षि कोल ने राजकुमारी को देखा और उन्होंने उसे पत्नी-रूप में ग्रहण किया। उसके अनेक पुत्र हुए, जिनकी संतान 'कोलिय' कहलाई और उस गुफा का स्थान 'व्यग्घपज्ज' नाम से प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि एक व्याघ्र ने उसका पता लगाया था।

प्रकार के भोज्य पदार्थों एवं फलों की भी प्रचुरता हो गई। रानी महामाया ने स्नान करके शरीर में सुगंधित पदार्थों का लेप किया और रत्न-अलंकार धारण किए। वह अपनी सखियों के संग राजा शुद्धोदन के पास गई और सिंहासन पर अपना नियत स्थान ग्रहण किया। तत्पश्चात् उसने राजा से प्रार्थना की कि 'हे आर्य, आप मुझे अनुमति दें कि मैं एक सप्ताह तक प्रेम एवं परोपकार से युक्त अष्टांग धर्म का पालन करते हुए ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत करूँ और उतने समय तक मेरे पास केवल मेरी सखियाँ, रक्षिकाएँ तथा परिचारिकाएँ ही रहें।' उसने राजा से बंदियों को मुक्त कर देने तथा सप्ताह भर दान-पुण्य करते रहने की भी प्रार्थना की। राजा ने सहर्ष उसकी सभी प्रार्थनाएँ स्वीकार कर लीं और उसकी इच्छा को पूर्ण करने के लिए राजकीय आदेश निर्गत कर दिए।

अब देवगण आपस में विचार करने लगे कि बोधिसत्त्व के गृह-जीवन, संन्यास, मार-विजय तथा बोधि-प्राप्ति के समय उनपर दृष्टि रखते हुए हमें किस प्रकार उनकी सेवा करनी चाहिए। देवांगनाओं को बड़ा कुतूहल होने लगा कि उस स्त्री की गढ़न और सुंदरता किस प्रकार की होगी जो उस तेजस्वी महापुरुष को अपने गर्भ में धारण करेगी। जब महामाया राजप्रासाद में अपनी सखियों के साथ सोई हुई थी उस समय अप्सराओं से घिरी हुई एक देवी का-सा उसका सुंदर रूप देखकर वे सब देवांगनाएँ मुग्ध हो गईं। जिस समय बोधिसत्त्व अपने सिंहासन सहित तुषित स्वर्ग को छोड़ने के लिये उद्यत हुए उस समय उनके शरीर से ऐसा तेज प्रस्फुटित होने लगा कि उससे समस्त विश्व उद्भासित हो उठा, पृथ्वी बारम्बार कंपित होने लगी तथा समस्त जीव रोग, शोक और दुःख को भूलकर आनंद में मग्न हो गए। अप्सराएँ उनकी स्तुति करने तथा उनके उस घोर त्याग-तप की प्रशंसा करने लगीं जो उन्होंने पूर्वजन्मों में पारमिताओं (दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा) की सिद्धि के लिए किया था।

बोधिसत्त्व का मर्त्यलोक में आगमन

वैशाख मास के पुण्य नक्षत्र में बोधिसत्त्व ने एक हाथी के रूप में दक्षिण पार्श्व से अपनी माता के गर्भ में प्रवेश किया। जिस समय वे गर्भ में प्रविष्ट होने लगे उस समय पृथ्वी कंपित होने लगी और समस्त विश्व एक दिव्य आलोक से देदीप्यमान हो उठा। उस आलोक की किरणें उन नारकीय जीवों तक भी पहुँचीं जो सदा अंधकार में ही निवास करने और सूर्य-चंद्र का दर्शन कभी नहीं कर पाते थे। प्रातःकाल रानी अपने शयन-कक्ष से बाहर निकली और अशोक-कुंज में जाकर आसन ग्रहण किया। उसने राजा

को संदेश भेजा कि वे वहाँ आकर उसे दर्शन दें। जब राजा अपने मंत्रियों और पारिषदों सहित रानी के समीप जाने लगे तो उनके मन तथा शरीर में ऐसा अनुभव होने लगा जैसे वे एक बड़े महान् व्यक्ति से मिलने जा रहे हों। देवों ने उन्हें बोधिसत्त्व के आगमन की सूचना दी और उनसे स्वप्नों का फल बतानेवाले विद्वान् ब्राह्मणों को बुलवाने की प्रार्थना की। ब्राह्मण लोग यथाविधि निमंत्रित किए गए और उन्होंने स्वप्न का फल विचार कर बतलाया कि रानी के गर्भ से एक चक्रवर्ती अथवा सम्यक्-संबुद्ध का जन्म होगा। बोधिसत्त्व के गर्भस्थिति-काल के दस महीनों में चार देव निरंतर उनकी माता की रक्षा करते रहे।

बोधिसत्त्व ने रानी के गर्भ में दस महीने एक रत्नजटित मंजूषा के भीतर रहकर व्यतीत किए, जिससे वे गर्भ के मलों से सर्वथा अस्पृष्ट रहे।[1] उनकी माता महामाया भी सदा सुख से रहीं, कभी किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं किया। बोधिसत्त्व अपने भोजन के लिए पौष्टिक तत्त्व माता के स्तनों से न लेकर एक कमल पुष्प से प्राप्त होनेवाले मधु से लेते थे, जिसकी नाल की लंबाई तालवृक्ष की सातगुनी थी। बोधिसत्त्व मंजूषा के भीतर आसीन होकर देवों तथा अन्य देव-योनिधारियों को उपदेश दिया करते थे। पृथ्वी पर के समस्त जीव सब प्रकार की आधि-व्याधियों से मुक्ति पाकर आनंदित हो गए। बोधिसत्त्व की माता के स्पर्श मात्र से लोगों का रोग-दुःख दूर हो जाता था।

बोधिसत्त्व की माता अपने मन पर पूर्ण संयम रखकर एक शुद्ध ब्रह्मचारिणी का जीवन व्यतीत करती थीं। कोई भी पुरुष अपनी कामुक दृष्टि उनकी ओर नहीं डालता था, न वे ही किसी पुरुष का दर्शन करती थीं। जब स्वप्न के अनंतर दस महीने व्यतीत हो गए तो रानी ने अनुभव किया कि अब उस महापुरुष के जन्म का समय आ गया है। अतः उन्होंने राजा के निकट जाकर प्रार्थना की—'अब वसंत ऋतु का आगमन हो गया है, वृक्ष पुष्पों से लदे हुए हैं, पक्षी सर्वत्र कलरव कर रहे हैं, और चारों ओर पराग उड़ रही है, अतः मुझे उपवन में जाने की अनुमति दी जाय।' राजा को बहुत दिनों तक विनय के नियमों का पालन करते रहने के कारण विश्राम की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी, और रानी भी दस महीनों तक भगवान् बोधिसत्त्व को धारण करने के कारण थकान का अनुभव कर रही थीं। रानी की इच्छा पूर्ण करने के लिए उन्होंने तुरंत आदेश निकाल दिए कि नगर के पथों, वीथियों और उद्यानों की सजावट की जाय, और अपने सेवकों

१. आनंद के प्रश्न करने पर कि स्त्रियों से विरक्ति रखनेवाले बुद्ध किस प्रकार एक स्त्री के गर्भ में रह सके, बुद्ध ने ही उक्त रहस्य को प्रकट किया था।

को आज्ञा दी कि वे उनका रथ भी खूब सजाकर तैयार रक्खें। रानी महामाया की लुंबिनी वन की यात्रा के लिए एक बृहत् समारोह का आयोजन किया गया। उस समय देव और अप्सराएं भी झुंड की झुंड स्वर्ग से उतर आईं और दिव्य मंगल-संगीत तथा स्वर्गीय पुष्पों की वर्षा से उन्होंने उस समारोह को अपूर्व शोभा प्रदान की।

वन में पहुंचकर रानी बहुत प्रसन्न हुई और उन्हें बड़ा सुख मिला। वह वृक्षों की शोभा निरखती और उनके कोमल स्पर्श का सुखद अनुभव करती हुई उनके बीच इधर उधर टहलने लगी। प्लक्ष तरु की एक शाखा झुककर रानी के हाथों में आ गई। जब वह अपने दाहिने हाथ से उस शाखा को पकड़े हुए खड़ी थी उसी समय बोधिसत्त्व उनकी दाहिनी ओर से धरती पर उतर पड़े। उनका शरीर स्वच्छ था, गर्भ का मल उन्हें छू भी नहीं गया था। उस महान् आत्मा को मनुष्य के हाथों का स्पर्श नहीं लगना चाहिए, इसलिए देवगण तुरत उस स्थल पर पहुंचे और बड़े आदर और श्रद्धा के साथ शिशु को रेशमी वस्त्रों में ले लिया। पृथ्वी में से एक कमल-पुष्प निकल पड़ा और नागराज नंदोपनंद ने दो स्रोत—एक उष्ण जल और एक शीतल जलवाला—प्रस्तुत किए, जिनमें बोधिसत्त्व और उनकी माता को स्नान कराया गया। शिशु सात पद चला और प्रत्येक पद पर छ दिशाओं में से प्रत्येक में एक कमल उत्पन्न हुआ जिसका अर्थ यह था कि बोधिसत्त्व छहों दिशाओं के देहधारियों में सर्वश्रेष्ठ होंगे।[1] उस समय वहां प्रत्येक वस्तु की प्रचुरता थी इस कारण उनका नाम 'सिद्धार्थ गौतम' रक्खा गया।

बोधिसत्त्व के जन्म के साथ-साथ विभिन्न शाक्य-कुलों में आनंद देवदत्त, अनिरुद्ध, छंदक इत्यादि अनेक पुत्रों और पुत्रियों का जन्म हुआ।

लुंबिनी वन में सात दिनों तक देवगण तथा उनकी देवियां बोधिसत्त्व की पूजा करती रहीं एवं शाक्य लोग जी-भर दान करते रहे। परंतु सातवें दिन रानी महामाया ने समस्त एकत्र समाज को असह्य शोकसागर में मग्न कर इस क्षणभंगुर संसार को त्याग त्रयस्त्रिंश स्वर्ग को प्रस्थान किया जहां उनका जन्म एक परम रूप-गुणवती देवी के रूप में हुआ।

इसके अनंतर राजा ने बोधिसत्त्व को कपिलवस्तु नगर में लाने के लिए बड़ी धूम-

१. मज्झिम ३, पृ० १२३ में यह भी लिखा है कि बोधिसत्त्व केवल सात पद चले ही नहीं, अपितु उन्होंने इन शब्दों का उच्चारण किया—"अग्गोहं अस्मि लोकस्स, सेट्ठोहं अस्मि लोकस्स, जेट्ठोहं अस्मि लोकस्स, अयं अन्तिमा जाति न अत्थि दानि पुनब्भवो ति।"

धाम में तैयारियां की। इस समारोह की शोभा रानीमहा माया की पिछली लुबिनी-यात्रा के उत्सव से हजारों गुना अधिक थी। एक सौ शाक्यों ने अपनी श्रद्धा और प्रेम को व्यक्त करने के लिए अपने एक सौ प्रासाद बोधिसत्त्व के निमित्त अर्पित किए और प्रत्येक ने प्रार्थना की कि बोधिसत्त्व उसके प्रासाद में रहें। उन सभी शाक्यों को संतुष्ट करने के लिए राजा शुद्धोदन ने बोधिसत्त्व को एक-एक दिन प्रत्येक प्रासाद में रक्खा और इस प्रकार चार मास व्यतीत हो गए। अंत में बोधिसत्त्व राजप्रासाद में ले जाए गए, जहां वयोवृद्ध शाक्यों द्वारा उनका यथाविधि अत्यंत भव्य स्वागत किया गया। इसके अनंतर उन सबने भली भांति सोच-विचारकर बोधिसत्त्व के पालन-पोषण का प्रबंध उनकी मातृस्वसा महाप्रजापति गोतमी की देखरेख में कर दिया।

ऋषि असित

उन दिनों हिमालय पर्वत में तपस्वियों में श्रेष्ठ असित ऋषि निवास करते थे, जिन्हें पांचों दिव्य शक्तियां (अभिज्ञा) प्राप्त थीं।[1] अपनी दिव्य दृष्टि के द्वारा उन्होंने महात्मा बोधिसत्त्व के जन्म को देख लिया और उनके वंदन के हेतु वे अपने भ्रातृज नरदत्त (अपर नाम नालक) सहित आकाश-मार्ग से उड़कर कपिलवस्तु पधारे।

राजा ने उनका यथोचित स्वागत एवं आदर-सत्कार किया और ऋषि ने राजा को राजकुमार के जन्म की बधाई देते हुए शिशु के दर्शनों के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। राजा ने यह सोचकर कि अभी राजकुमार शयन कर रहे हैं, ऋषि से उनके जागने तक प्रतीक्षा करने की प्रार्थना की। ऋषि ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि ऐसे महापुरुष बहुत देर तक नहीं सोया करते और प्रायः जागते ही रहते हैं। तब वे शिशु के निकट ले जाए गए और उन्होंने राजकुमार के बत्तीस लक्षणों[2] को देखकर कहा कि ये इस बात के सूचक हैं कि इन लक्षणों को धारण करनेवाला चक्रवर्ती राजा अथवा संन्यासी, तथागत वा सम्यक् संबुद्ध होगा। ऋषि के नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए, जिसे देख

१. दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र, परचित्तज्ञान, पूर्वनिवासज्ञान और ऋद्धिविधिज्ञान (= ध्यान के द्वारा साधारण आँख-कान की पहुँच के बाहर की बातें देखना और सुनना, दूसरों के मन की बात जान लेना, अपने पूर्व जन्म की बातों का स्मरण, और अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति)।

२. तीस मुख्य तथा आठ गौण लक्षणों के लिए द्रष्टव्य—ललित विस्तर, पृ० १२०-२; महावस्तु लक्खनसुत्त (दीघ, ३)।

राजा बड़े अधीर हुए और उन्होंने उनसे उनके नेत्रों से आँसू निकलने का कारण पूछा। तब असित ऋषि ने राजा को समझाया कि मेरे शोक का कारण यह नहीं है कि राजकुमार के सबध मे कोई अशुभ घटना घटने की आशका है, प्रत्युत मुझे यह सोचकर दु ख हुआ कि जब यह शिशु बड़ा होकर जन्म-मरण के चक्र एव दु खों के बधन से जीवों को मुक्त करने के लिए सत्यधर्म का उपदेश करेगा उस समय तक मै जीवित न रहूँगा। ऋषि के इस वचन को सुनकर राजा आश्वस्त हुए और शिशु की वदना की। तत्पश्चात् ऋषि ने अपने भतीजे को शिशु बोधिसत्त्व के बड़े होकर बुद्ध हो जाने पर उनका शिष्य बन जाने का आदेश दिया। फिर देवगण भी शुद्धोदन के राजप्रासाद मे आए और उन्होंने मनुष्यों के नेत्रों से अदृश्य रहकर बोधिसत्त्व की वदना की।

बालक सिद्धार्थ

शाक्यकुल की रीति के अनुसार महाप्रजापति गौतमी नवजात शिशु को देवमदिर मे ले गईं। इसपर शिशु के मुख पर मुस्कराहट झलक उठी। उसके मन मे यह भाव आया कि मैं तो स्वय देवाधिदेव हूं, मै मदिर के देव को क्या नमस्कार करूँगा! इसके पश्चात् ऐसी घटना घटी कि ज्योंही शिशु मदिर मे ले जाया गया त्योंही उसके भीतर की सब मूर्तियाँ यकायक सजीव-सी हो उठी और शिशु का अभिवादन करने के लिए झुक गईं। यह देखकर साथ मे आए हुए सभी लोग आश्चर्य-चकित रह गए।

इसके उपरात राजपुरोहित ने राजा को यह परामर्श दिया कि शिशु के लिए रीत्यनुसार आभूषण बनवा लिए जायँ। राजा ने भद्रिक शाक्यराज से सब आभूषण तैयार करा लिए, परतु जब वे शिशु के शरीर पर पहिनाए गए तो उनकी चमक जाती रही। साथ ही वहाँ जो अन्य शिशु लाए गए थे उनके शरीर पर के आभूषणों की भी वही दशा हुई।

जब शिशु बोधिसत्त्व कुछ बड़े हुए तो विधिपूर्वक उनका विद्यारभ सस्कार किया गया और शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्हे पाठशाला मे ले जाया गया। उनके शिक्षक गुरु विश्वामित्र थे, जो बोधिसत्त्व का दर्शन होते ही उनके तेज से ऐसे अभिभूत हुए कि मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। जब वे पुन स्वस्थ हुए तो बोधिसत्त्व ने उनसे पूछा कि मुझे यहाँ कौन सी लिपि पढाई जायगी—ब्राह्मी या खरोष्ठी, अथवा पुष्करसारी, अग, वग, मगध, शाकरी, ब्रह्मावर्ती, द्राविड़ी, किन्नरी, दक्षिण, उग्र, दरद, खस, चीन किंवा हूण? यह सुन विश्वामित्र किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए और उनसे कुछ उत्तर

देते न बना। तब बोधिसत्त्व के सब सहपाठियों ने अक्षर सीखना आरंभ किया, जिन्हें वे उनके प्रभाव से इस प्रकार पढ़ते थे —

अ = अनित्य	आ = आत्म-पर-हित
इ = इंद्रिय-वैपुल्य	ई = ईतिबहुल जगत्
उ = उपद्रवबहुल जगत्	ऊ = ऊनसत्त्व
ए = एषणा-समुत्थान दोष	ऐ = ऐरपथ श्रेयान्
ओ = ओघोत्तर	औ = औपपादुक

इत्यादि।

जब बोधिसत्त्व कुछ और बड़े हुए तो अपने सखागण के साथ वे एक दिन एक गाँव में खेतों की जुताई देखने के लिए गए।[1] वहाँ वे एक जंबूवृक्ष के नीचे एकांत स्थान पाकर वहीं बैठ गए और सांसारिक जीवन की कठिनाइयों पर विचार करते-करते ध्यानमग्न होकर ध्यान की चतुर्थ भूमिका पर पहुँच गए। उस समय दिव्य-शक्ति-संपन्न पाँच ऋषि आकाश में उड़े जा रहे थे। जब वे उस जंबूवृक्ष के ऊपर होकर जाने लगे तो अचानक उनकी गति अवरुद्ध हो गई। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और जब उन्होंने नीचे देखा तो वहाँ बोधिसत्त्व को ध्यान में मग्न बैठे हुए पाया। वे नीचे धरती पर उतर पड़े और यथोचित शब्दों में उनकी वंदना की। उनको ढूँढते-ढूँढते राजा शुद्धोदन वहाँ पहुँचे तो उन्हें ध्यानावस्थित देखकर उन्होंने तुरंत अपने राजचिह्न उतार दिए और उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

सिद्धार्थ का विवाह

जब बोधिसत्त्व युवा हुए तो सब शाक्यों ने सभा की और राजा शुद्धोदन से निवेदन किया कि अब राजकुमार का विवाह कर दिया जाय। यद्यपि बोधिसत्त्व की इच्छा किसी भी प्रकार के सांसारिक बंधनों में पड़ने के विरुद्ध थी, परंतु उन्होंने इस उद्देश्य से विवाह करना स्वीकार कर लिया कि इसके द्वारा लोक को यह विश्वास कराया जा सकेगा कि मनुष्य सांसारिक विलासों में डूबे रहकर भी उसी प्रकार उनसे ऊपर उठ सकता है जैसे पंक से उत्पन्न एक कमल का पुष्प जल के ऊपर उठ जाता है।

१. पाली अनुश्रुतियों के अनुसार यह समय खेतों की जुताई के आरंभ का था। इस अवसर पर यह रीति थी कि राजा स्वयं हल की मूँठ पर हाथ रखकर इस कार्य को विधिपूर्वक आरंभ करता था, जो कृषि के लिए शुभ समझा जाता था। राजकुमार इसी अवसर पर राजा के साथ गए थे।

उन्हे यह भी ज्ञात था कि पूर्व काल के बोधिसत्त्वों ने भी अपना विवाह किया था। अत उन्होंने अपने विवाह के लिए कन्या मे जो-जो गुण होने चाहिए उन्हे निश्चित कर बतला दिया। राजपुरोहित राजकुमार के लिए कन्या की खोज मे अनेक स्थानो मे गए और अत मे उन्होंने दडपाणि की कन्या को वैसे ही स्वभाव और उन्ही सब गुणो से सपन्न पाया जिन्हे बोधिसत्त्व चाहते थे। परतु राजा ने यह अधिक अच्छा समझा कि स्वय बोधिसत्त्व को ही अपने लिए कन्या-वरण करने का सुअवसर दिया जाय। अत उन्होंने सभी विवाह योग्य शाक्य कन्याओ को बोधिसत्त्व के हाथो से बहुमल्य धातुओ के पुष्पो की भेट ग्रहण करने के लिए राजप्रासाद मे निमत्रित किया। निमत्रण देने के सातवे दिन शाक्य-कन्याएँ प्रासाद मे एकत्र हुई। बोधिसत्त्व के सौदर्य और तेज से उनके नेत्र चौधिया गए। केवल दडपाणि की पुत्री गोपा ही उनके तेज को सहन करने मे समर्थ हुई और राजकुमार के रूप को निहारती हुई कुछ दूर पर खडी रही। जब राजकुमार के निकट जाने की उसकी बारी आई तो वह चुपचाप उनकी ओर बढी और उसे केवल सर्वोत्तम पुष्प ही नही मिले, राजकुमार की बहुमूल्य अंगठी भी प्राप्त हुई। वहा उपस्थित सभी लोगो को विदित हो गया कि राजकुमार ने गोपा को वरण किया है। गुप्त रूप से वहा भेजे गए राजा के दूतो ने भी इसे लक्ष्य किया और वे राजा को यह समाचार देने के लिए दौडे।

इसके पश्चात् राजा शुद्धोदन ने दडपाणि के पास राजपुत्र के विवाह का प्रस्ताव भेजा, परतु राजकुमार का पालन-पोषण राजप्रासाद के विलासमय वातावरण मे होने के कारण दडपाणि कुछ असमजस मे पड गए और उन्होंने उनके सामर्थ्य और गुणो के विषय मे पूछताछ की। इसपर राजा कुछ निराश-से हो गये, क्योंकि उन्होंने सोचा कि सभव है राजकुमार की शक्ति और योग्यता के विषय मे दडपाणि का सदेह साधार हो। राजा का विषाद देखकर राजकुमार ने उन्हे सूचित किया कि मै कला, शिल्प, रणकौशल अथवा बाहुबल के प्रदर्शन मे किसी से भी प्रतियोगिता कर सकता हूँ, तब राजा आश्वस्त हुए। राजकुमार ने राजा से प्रार्थना की कि सभी शाक्य युवको को अपना-अपना कौशल प्रदर्शित करने का अवसर देने के लिए उपयुक्त आयोजन किया जाय। राजा ने सहर्ष इसे स्वीकार कर लिया और प्रदर्शन के लिए आवश्यक तैयारियाँ कराई तथा समस्त शाक्य युवको को उसमे सम्मिलित होकर भाग लेने के लिए निमत्रित किया। इस प्रदर्शन मे इन विषयो मे प्रतियोगिता का आयोजन किया गया—(१) एक हाथी का शव उठाकर दूर फेकना, (२) लिपियो का ज्ञान प्रदर्शित करना, जिसके लिए निर्णायक विश्वामित्र चुने गए, (३) गणित के प्रश्नो को शीघ्र और शुद्ध-शुद्ध हल करना, जिसके लिए निर्णायक थे गणना-

विशारद अर्जुन, (५) बाण चलाना (जिसके लिए राजकुमार ने अपने पूर्वज सिंहहनु का भारी धनुष लिया), (६) मल्लयुद्ध, (७) संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं में वैशिष्ट्य, (८) काव्यों और ग्रंथों की रचना, (९) ज्योतिष तथा अन्य शास्त्रों का ज्ञान, और (१०) वेद आदि ब्राह्मण साहित्य तथा तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन एवं राजनीति का ज्ञान।

यह घोषणा की गई कि जो व्यक्ति इन सब प्रतियोगिताओं में विजयी होगा उसी से गोपा का विवाह होगा। गोपा भी जयपताका लिए हुए वहां उपस्थित थी और प्रदर्शन देख रही थी। देवदत्त, सुदर्शानंद तथा अन्य अनेक शाक्य युवक सभी अपने को सबसे योग्य सिद्ध करने के लिए परस्पर होड़ कर रहे थे। परंतु राजकुमार के सामने सबको नीचा देखना पड़ा। यहां तक कि राजकुमार की गणना-- [illegible] गणना के पंडित अर्जुन को भी मन ही मन उनकी विशिष्टता से पराभव का अनुभव करना पड़ा। यत राजकुमार सभी प्रतियोगिताओं में विजयी सिद्ध हुए, अतएव शुद्धोदन ने परम हर्षपूर्वक गोपा का विवाह उनके साथ कर दिया।

कुछ काल तक बोधिसत्त्व ने गोपा के साथ आनंदपूर्वक पारिवारिक जीवन व्यतीत किया। परंतु उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सांसारिक जीवन से विरत होने में बोधिसत्त्व को विलंब करते देख देवगण अधीर हो उठे। अतः वे बड़े विनय के साथ उनके निकट जा उपस्थित हुए और उन्हें उनके अनेक पूर्वजन्मों का स्मरण कराया जिनमें उन्होंने जीवों के कल्याण के लिए तथा पुण्यार्जन एवं छः पारमिताओं की सिद्धि के लिए घोर तप एवं त्याग किए थे। देवों ने उन्हें सांसारिक जीवों को जन्म, जरा, रोग एवं मृत्यु के दुःखों से मुक्त करने के लिए की गई उनकी पूर्व प्रतिज्ञाओं का भी स्मरण कराया। यद्यपि बोधिसत्त्व को किसी अन्य के परामर्श या पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं थी तथापि देवों और अप्सराओं ने उनके सम्मुख कुछ ऐसी गाथाओं का पाठ किया जिनमें यह प्रतिपादन किया गया था कि संसार का अस्तित्व स्वप्नवत् असार है, सांसारिक सुख मल-पात्र के सदृश वीभत्स एवं सर्पों से भरे जलाशय के समान भयानक है तथा संसार के समस्त दृश्य पदार्थ गुफा में हुई प्रतिध्वनि के समान, या जल में चंद्रमा के प्रतिबिंब के समान, अथवा रंगमंच पर अभिनय करनेवाले नटों के समान निस्सार हैं। उन्होंने और भी गाथाएं पढ़ीं जिनका भाव यह था कि यह भौतिक जगत् एक निर्वाणोन्मुख दीपशिखा के समान या कुछ निमित्त एवं उद्देश्यों--यथा मनुष्य के प्रयत्न और सृज--से बनी हुई रस्सी के समान अथवा मनुष्य के प्रयत्न एवं ईंधन (जिनमें स्वतः अग्नि का कोई चिह्न नहीं है) से

प्रस्तुत की गई अग्नि के सदृश है। उनके द्वारा पठित अन्य गाथाओं का आशय यह था कि जीवों का बारबार जन्म एक निरन्तर घूमनेवाले चक्र के समान अथवा बीज से अंकुर और फिर अंकुर से बीज की उत्पत्ति के सदृश है, जिसका कहीं आदि या अन्त नहीं। और सांसारिक सत्ताओं का कारण सत्य का अज्ञान (अविद्या) है, परन्तु स्वयं उन सत्ताओं में अज्ञान की सत्ता नहीं है, जिस प्रकार कि मुद्रा से छाप तो बन जाती है, परन्तु उस छाप में मुद्रा का अस्तित्व नहीं है। आंखों से रूप दिखाई पड़ते हैं, परन्तु आंखों के भीतर रूप का अस्तित्व नहीं है। यह संसार मिथ्या (शून्य), अल्पस्थायी (क्षणिक) एवं प्रतिध्वनि के समान (प्रतिश्रुत्कोपम) है। यह जन्म, जरा, रोग एवं मृत्यु-जनित दुःखों से भरा हुआ है।

बोधिसत्त्व को पुनः पुनः ऐहिक सुखों की निस्सारता एवं गृहस्थ-जीवन से निवृत्ति की श्रेष्ठता का स्मरण कराया गया।

जिस रात को देवगण तथा अप्सराएं गाथाओं का गान कर रही थीं उसी रात में राजा शुद्धोदन ने स्वप्न देखा कि उनका पुत्र देवों के मध्य, पीले वस्त्र धारण किए हुए राजप्रासाद छोड़ने को उद्यत है। वे अपनी शय्या से उठे और चिन्तित होकर अपने पुत्र के विषय में पूछताछ करने लगे। यह सूचना पाकर कि राजकुमार अपने शयनकक्ष में सोए हुए हैं, उनकी चिन्ता दूर हुई, परन्तु उन्होंने राजकुमार के लिए आमोद-प्रमोद के अधिक से अधिक साधनों का प्रबंध करा दिया और राजप्रासाद की सुरक्षा के लिए बहुत भारी फाटक लगवा दिए, जो सैकड़ों रक्षकों द्वारा मिलकर खोले और बंद किए जा सकते थे।

चार दृश्य

दूसरे दिन प्रातःकाल राजकुमार ने वन-विहार के लिए बाहर जाने की इच्छा प्रकट की और अपने सारथी को आज्ञा दी कि रथ प्रस्तुत करे। जब राजा को राजकुमार की इस इच्छा की सूचना मिली तब उन्होंने राजकुमार से एक सप्ताह प्रतीक्षा करने के लिए कहा। उन सात दिनों के भीतर राजा ने इस बात की पूरी सावधानी रखने के लिए प्रबंधकों को भली भाँति सहेज दिया कि राजकुमार के सामने किसी भी प्रकार का कोई अप्रिय दृश्य न आने पाए। जब नगर भली भाँति स्वच्छ करके सजा दिया गया तो सारथी राजकुमार को रथ पर बैठाकर विहार के लिए ले चला। जब वे नगर में से जा रहे थे, उसी समय देवों ने एक वृद्ध पुरुष को प्रस्तुत किया जिसके चमड़े पर झुर्रियां पड़ी हुई थीं, जिसके बाल पक गए थे, जो दंतहीन और कुबड़ा था और एक लठिया के सहारे चल रहा था। उन्होंने उसे केवल राजकुमार और उनके सारथी के दृष्टि-पथ में उपस्थित किया। राजकुमार ने सारथी से उस वृद्ध के विषय में पूछा

और उन्हें ज्ञात हुआ कि प्रत्येक मनुष्य की एक दिन यही गति होगी। उस दृश्य से उनका मन बहुत विचलित हो गया और वे प्रासाद में लौट आए। जब राजा ने राजकुमार के इतने शीघ्र लौट आने का कारण पूछा तो सारथी ने उस वृद्ध पुरुष के, तथा उसे देखकर राजकुमार के मन पर जो प्रभाव पड़ा उसके, विषय में उन्हें सब बातें बतला दीं। राजा ने और अधिक सतर्कता रखने की आज्ञा दी, परंतु दूसरे दिन जाने पर राजकुमार और सारथी ने एक ऐसे पुरुष को देखा जो ज्वर से पीड़ित होकर कराह रहा था और अपने ही मूत्र और विष्ठा में लथेड़ा हुआ था। पहले दिन की भाँति उस दिन भी उन्हें सारथी से ज्ञात हुआ कि एक दिन सबकी वैसी ही गति होनेवाली है, और वे प्रासाद में लौट आए। तीसरे दिन राजकुमार और सारथी ने कुछ लोगों को एक मृत मनुष्य का शव अर्थी पर श्मशान की ओर ले जाते हुए देखा जिसके कुटुंबी उसके लिए रो-पीट रहे थे। राजकुमार को फिर उसी प्रकार बताया गया कि प्रत्येक मनुष्य की एक न एक दिन मृत्यु होती है, तब उनको विहार के लिए जाने की इच्छा नहीं रह गई। चौथे दिन उन्होंने पीला वस्त्र धारण किए हुए एक शांत पुरुष को देखा, जिसने अपनी इंद्रियों को वश में कर ली थी और जो हाथ में भिक्षापात्र लिए धीर गति से जा रहा था। सारथी से पूछने पर राजकुमार को विदित हुआ कि वह पुरुष अपने गृहस्थ जीवन को त्याग कर संन्यासी हो गया है और जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने की साधना कर रहा है। राजकुमार को यह सोचकर बड़ा हर्ष हुआ कि मैं भी एक दिन संन्यास लेकर मुक्ति का मार्ग प्राप्त करूँगा। उस दिन उन्होंने वन में जाकर खूब जी भरकर आनंद मनाया। जब वे प्रमोदवन में इस प्रकार आनंद में रम रहे थे, उसी समय राजा के दूतों ने आकर उन्हें यह समाचार दिया कि राजकुमार के पुत्र उत्पन्न हुआ है। इस समाचार को सुनकर राजकुमार को बहुत प्रसन्नता नहीं हुई। उन्हें भय हुआ कि कहीं इससे उनके सांसारिक जीवन से निवृत्त होने के उद्देश्य में विघ्न न पड़े, अतः उनके मुख से निकला—'राहुलो जातो', अर्थात् एक विघ्न उत्पन्न हुआ। राजा ने राजकुमार के मुख से निकले हुए इन शब्दों की सूचना पाकर नवजात शिशु का नाम 'राहुल' रक्खा। जब राजकुमार राजकुलोचित बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण किए हुए प्रासाद को लौट रहे थे तो मार्ग में उनके एक दूर के संबंधवाली स्त्री कृशा गोतमी से उनकी भेंट हो गई, जिसने निम्नलिखित छंद कहा—

निब्बुता नून सा माता
निब्बुतो नून सो पिता।
निब्बुता नून सा नारी
यस्स यं इदिसो पति॥

(सुखी है अवश्य ही वह माता जिसका ऐसा पुत्र है सुखी है निश्चय ही वह पिता भी। सुखी है निश्चय ही वह नारी भी, जिसका ऐसा पति है।)

इस छंद का 'निब्बुत' शब्द राजकुमार को लग गया और उसमें उन्होंने शांति और गंभीरता का आशय ग्रहण किया। वे इस शब्द से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने अपना रत्नों का कंठहार उतारकर कुशा गोतमी के पास भेंट के रूप में भेज दिया। परंतु कुशा गोतमी ने उससे यह समझा कि राजकुमार उसके ऊपर रीझ गए हैं। राजकुमार प्रासाद में लौट आए और संगीत-निपुण नारियां उन्हें राग-रंग से रिझाने लगीं परंतु उसमें उनका मन तनिक भी नहीं लगा।

राजकुमार यह सोचकर कि पिता की सहमति के बिना संन्यास लेना अनुचित होगा, प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व ही राजा के निकट उपस्थित हुए। राजकुमार के शरीर से निकलनेवाली ज्योति की किरणों से प्रासाद आलोकित हो उठा जिससे राजा बड़े चकित हुए। बोधिसत्त्व ने गृहस्थ जीवन को त्यागने के लिए राजा से अनुमति मांगी, परंतु जब उन्होंने राजकुमार के इस विचार का विरोध किया तो राजकुमार ने उनसे निवेदन किया कि यदि आप मुझे ये चार वरदान दें कि मैं वृद्ध न होऊँ, कभी बीमार न होऊँ, मेरी मृत्यु न हो, न मुझे पुनः जन्म लेना पड़े, तो मैं संन्यास न लूँगा। राजकुमार की इन मांगों को सर्वथापूर्ण समझकर राजा तथा महाप्रजापति गौतमी ने रक्षकों और राजकुमार का मनोरंजन करनेवाली स्त्रियों की संख्या और बढ़ा दी जिससे वे किसी प्रकार प्रासाद के बाहर न जा सकें। परंतु राजकुमार को संन्यास लेने से रोकने के लिए किए गए राजा और उनके कर्मचारियों के प्रयत्नों को व्यर्थ करने के लिए देवगण स्वयं आ उपस्थित हुए। बोधिसत्त्व को स्मरण था कि उन्होंने पहले ही ये चार निश्चय किए थे—(१) तृष्णा की शृंखला तोड़कर संसार के कारागार से जीवों को मुक्त करने के लिए मैं सर्वज्ञता प्राप्त करूंगा, (२) मैं ज्ञान का प्रकाश फैलाऊंगा जो अज्ञान-तिमिर का नाश कर सांसारिक जीवों की ज्ञान-दृष्टि को निर्मल करेगा, (३) 'मैं'-'मेरा' के कारण उत्पन्न संपूर्ण भ्रम को दूर कर दूंगा, तथा (४) उस ज्ञान का प्रचार करूंगा जिससे यह निर्भ्रान्त प्रतीति हो जायगी कि जन्मों के अनंत चक्र केवल अग्नि के चक्र (अलातचक्र) द्वारा छोड़ी गई चमक के समान है।

जब राजा शुद्धोदन राजकुमार की बात का कोई उत्तर न दे सकने के कारण चुप रह गए तो राजकुमार अपने कक्ष में लौट आए और वहां देखा कि नर्तकियां बाल बिखराए निद्रा में मग्न हैं, कुछ दांत पीस रही हैं, किन्हीं के फेन-भरे मुंह से लार बह रही है, कोई नींद में कुछ बक रही हैं और कोई विकृत मुद्राओं में पड़ी हुई हैं। राजकुमार

को ऐसा अनुभव हुआ जैसे वे श्मशान में अथवा राक्षसियों के बीच खड़े हों। इस वीभत्स दृश्य को देखकर वे अपने ही शरीर के विषय में विचार करने लगे, जो सोचने पर उन्हें केवल एक मलकोष मात्र जान पड़ा। उसी क्षण उन्होंने सन्यास ग्रहण करने के उद्देश्य से प्रासाद को त्याग देने का निश्चय कर लिया। उन्होंने छदक को बुलाया और प्रासाद से प्रस्थान करने के लिए उससे अपने प्रिय अश्व कठक को प्रस्तुत करने को कहा। छदक चाहता था कि वे वृद्धावस्था में सन्यास लें, परन्तु उन्होंने उसकी अनुनय-विनय पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और उसे प्रबल युक्तियों द्वारा विश्वास करा दिया कि उनका तत्काल सन्यास लेना आवश्यक है। तब वे कठक पर आरूढ़ हो, छदक को अपने साथ लिए राजप्रासाद से निकल पड़े।

राजकुमार का प्रव्रजन

वे रात भर चलते गए और शाक्यों कोलियों, मल्लों और मैनेयों की राज्य-सीमाओं को पार कर भोर में घोड़े पर से उतर पड़े। उन्होंने अपने रत्नाभूषणों को छदक के हवाले किया और उससे घोड़े को लेकर कपिलवस्तु लौट जाने को कहा। उन्होंने खड्ग से अपने केश काटकर ऊपर फेंक दिये जिन्हें त्रयस्त्रिंश देवगण स्वर्ग में ले गए। राजकुमार अपने राजकीय वेश को त्यागना चाहते थे और पीले वस्त्र की खोज में थे, उसी समय एक देव व्याध का रूप धर पीला वस्त्र पहने हुए उनके समक्ष उपस्थित हुआ। उन्होंने अपने बहुमूल्य परिधान को उस व्याध के वस्त्रों से बदल लिया, जिन्हें धारण कर वे पूरे परिव्राजक के वेश में हो गए। उनके इस प्रकार पूर्ण रूप से प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने के कारण देवगण बड़े प्रसन्न हुए।

दूसरे दिन प्रातःकाल कपिलवस्तु में राजप्रासाद की स्त्रियों ने राजकुमार को कहीं न पाकर रोना-चिल्लाना शुरू कर दिया, जिससे राजा का ध्यान आकर्षित हुआ। वे घबराए हुए वहां दौड़े गए और कारण पूछने पर उन्हें विदित हुआ कि राजकुमार प्रासाद छोड़कर चले गए। व्याध राजकुमार के वस्त्र लिए हुए, कपिलवस्तु को लौट रहा था, उसे देख लोगों ने समझा कि इसी व्याध ने राजकुमार को मार डाला। उसी क्षण छदक और कठक भी वहां राजकुमार के आभूषणों के साथ आ पहुँचे और छंदक ने सारा समाचार कह सुनाया। राजकुमार के प्रव्रजन के समाचार ने सभी को शोक-सागर में मग्न कर दिया, फिर यशोधरा, राजा शुद्धोदन और महाप्रजापति गौतमी की दशा का तो कहना ही क्या!

इधर छदक राजभवन की स्त्रियों को समझा-बुझा रहा था, उधर राजकुमार पैदल

ही सत्य की खोज मे बढे जा रहे थे। उन्हे दो ब्राह्मण तपस्विनियो ने और उसके बाद ब्रह्मर्षि रैवतक और राजक त्रिदडक ने अपने आश्रमो मे रहने के लिए आमत्रित किया, परतु उन्होने नम्रता के साथ उनके आमत्रण को अस्वीकार कर दिया और आगे बढते गए। इस प्रकार वे वैशाली जा पहुँचे और वहाँ आडार कालाम के आश्रम मे ठहर गए। आडार कालाम की सिद्धियो के विषय मे पूछने पर उन्हे ज्ञात हुआ कि वे 'अकिचन्यायतन' (जिसमे मनुष्य को कोई कामना नही रह जाती) नाम की ध्यान की सप्तम भूमिका (समापत्ति) मे पहुँच चुके थे। बोधिसत्त्व उनकी उस शिष्यमडली मे सम्मिलित हो गए जिसकी सख्या उस समय तीन सौ थी और कुछ ही समय मे उन्होने अपने दृढ सकल्प (छद), वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा सप्तम भूमिका (समापत्ति) प्राप्त कर ली। आडार ने उनसे अपने सहाध्यापक के रूप मे अपने ही आश्रम मे रहने का अनुरोध किया, परतु उन्होने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि 'मुझे अपनी सिद्धि से सतोष नही है क्योकि मै उसे अतिम मुक्ति नही मानता।' वे वैशाली छोडकर राजगृह की ओर चल पडे और उष्ण कुड के पासवाले द्वार से नगर मे प्रवेश किया। जब वे भिक्षा के लिए अटन कर रहे थे, उस समय उनकी तेजोदीप्त आकृति और शाति गभीर मुद्रा को देखकर नगर-निवासियो के हृदय मे उनके प्रति भयमिश्रित आदर की भावना उत्पन्न हुई और उन्हे आश्चर्य भी हुआ। वे राजभवन की ओर दौडे और राजा को बोधिसत्त्व के आगमन की सूचना दी। दूसरे दिन प्रात काल राजा उनसे मिला और अपना आधा राज्य उन्हे देना चाहा, परतु उन्होने नम्रतापूर्वक उसे अस्वीकार कर दिया और राजा को क्षणिक सासारिक सुखो के दोषो से अवगत किया। इसके अनतर वे राजगृह के उपकठ मे गये और रुद्रक रामपुत्र के आश्रम मे ठहरे। पता लगाने पर उन्हे ज्ञात हुआ कि रुद्रक 'नैवसज्ञानासज्ञायतन' नाम की ध्यान की अष्टम भूमिका तक पहुँच सकते है, जिसमे न इद्रियानुभव होता है, न उसका अभाव ही होता है। आडार कालाम के द्वारा प्राप्त की हुई भूमिका से यह भूमिका उच्चतर थी, परतु वह सिद्धि भी इस ससार (ससृत) की सीमा के भीतर की ही थी, लोकोत्तर नही, जिससे शाति और विश्राति मिलती है, दु खो का अत हो जाता है, और अत मे पूर्ण रूप से निर्वाण प्राप्त हो जाता है। अपेक्षाकृत कम समय मे और अल्प परिश्रम के द्वारा नैवसज्ञानासज्ञायतन की भूमिका प्राप्त कर लेने की बोधिसत्त्व की असाधारण शक्ति को देखकर रुद्रक के पाँचो ब्राह्मण शिष्यो ने अपने गुरु को छोडकर गौतम के साथ रहना पसद किया। उनके साथ गौतम गया गए और गयाशीर्ष गिरि के पास ठहरे।

बोधिसत्त्व अपने पाँच नए साथियो के साथ गयाशीर्ष गिरि पर गए और वहाँ कितने

ही तपस्वियों को अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए कठोर तपश्चर्या में निरत पाया। परन्तु उन्होंने लक्ष्य किया कि उन तपस्वियों ने सामारिक तृष्णाओं से अपने को पूर्ण रूप से मुक्त नहीं कर पाया था। उनके घोर तपश्चर्या में लीन रहते हुए भी, सत्य अतर्दृष्टि एवं ज्ञान के साक्षात्कार को कौन कहे, अलौकिक शक्तियों को भी प्राप्त करना अभी उनके लिए बहुत दूर की बात थी। वे गीली लकड़ियों से अग्नि प्रज्वलित करने का प्रयत्न कर रहे थे। बोधिसत्त्व ने विचार किया कि अग्नि तो सूखी लकड़ियों में से ही उत्पन्न की जा सकती है। दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश उसी के हृदय में हो सकता है जिसने सामारिक तृष्णाओं से अपने को पूर्ण रूप से मुक्त कर लिया है। और बोधिसत्त्व ने पहले ही उनसे अपने को मुक्त कर लिया था।

बोधिसत्त्व का तप

तब वे उरुविल्व सेनापति-ग्राम की ओर चले और जल से परिपूर्ण नेरंजना नदी का दृश्य देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उस समय के लोगों के धार्मिक [illegible] निरीक्षण करते हुए उन्होंने पाया कि लोग नाना प्रकार के अंधविश्वासों में उलझे हुए हैं। कोई मंत्रों की शक्ति तथा ओंकार के जप में विश्वास करता है, कोई उच्चतर जीवन प्राप्त करने के लिए न केवल देवी-देवताओं की अपितु वृक्षों, सरोवरों, श्मशानों और चतुष्पथों की भी पूजा करता है, कोई मुक्ति प्राप्त करने के लिए शरीर को कष्ट देकर घोर तप करते हुए कुत्तों या गायों की भाँति जीवन व्यतीत कर रहा है और जटा और नख बढ़ाए हुए, शरीर में धूल लपेटे हुए हैं। कितने ऐसे भी थे जिनका विश्वास था कि एक पुत्र का जन्म हो जाने से उसके द्वारा उनका परलोक सुधर जायगा। इन अंधविश्वासों में लिप्त मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए बोधिसत्त्व ने कठोर तपस्या करने का निश्चय किया और छ वर्ष तक घोर तपस्या की। वे इतना कठोर श्रम करते थे कि घोर शीतकाल में भी उनकी काखों में पसीना आ जाता था। प्राणायाम में उनकी श्वास-क्रिया इस प्रकार बंद हो जाती थी कि कभी-कभी लोग भ्रम से उन्हें मृत समझ लेते थे। व्रतों और उपवासों की शक्ति में विश्वास करनेवालों का अज्ञान दूर करने के लिए उन्होंने केवल एक बेर या अन्न का एक दाना खाकर महीनों बिता दिए, जिससे कुछ दिनों तक वे केवल कंकाल मात्र रह गए थे। उनके शरीर में रक्त और मांस लेशमात्र भी नहीं रह गया और अस्थियाँ केवल नसों के द्वारा किसी प्रकार जुड़ी रहीं। दीर्घ काल तक स्नान न करने के कारण उनके शरीर पर मैल की पपड़ियाँ जम गईं

और उनका सोने सा दमकता रंग काला पड़ गया। इस प्रकार कृशकाय हो जाने पर एक दिन वे मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़े।

बोधिसत्त्व की तपश्चर्या के छ वर्षों की अवधि में मार बराबर इस ताक में रहा करता था कि उनकी तपस्या में कहीं कोई त्रुटि दिखाई पड़े। परंतु जब उसे कोई त्रुटि नहीं मिली तो वह उनके सम्मुख प्रकट हुआ और उनसे शरीर को कष्ट देनेवाले कठिन अभ्यासों को छोड़कर यज्ञ तथा अन्य विहित कर्मों का मार्ग ग्रहण करने की प्रार्थना की; क्योंकि उसके कथनानुसार उनके द्वारा भी जीवन की उच्चतर अवस्थाएँ प्राप्त की जा सकती थीं।[1] परंतु बोधिसत्त्व मार की बातों में न आये और उन्होंने सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने तथा मार के लोक से ऊपर उठ जाने का अपना दृढ़ निश्चय प्रकट किया।

बोधिसत्त्व ने अनुभव किया कि केवल तपस्या के द्वारा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, और उन्हें कुपिग्राम में हुए अपने समाधि के अनुभवों का अकस्मात् स्मरण हो आया। तब उन्होंने आहार ग्रहण कर तथा अपने कृश शरीर को दृढ़ बनाकर अपनी साधना के मार्ग को बदल देने का निश्चय किया।

सुजाता की खीर

उन दिनों उरुवेला में सेनानी नाम का एक भूस्वामी था, जिसके सुजाता नाम की एक कन्या थी। सुजाता ने पुत्रोत्पत्ति के लिए एक न्यग्रोध वृक्ष में निवास करनेवाले देव को खीर चढ़ाने की मनौती मानी थी। बोधिसत्त्व की तपस्या का वह छठा वर्ष था। अपनी मनौती के अनुसार उसने वैशाख मास की पूर्णिमा के दिन उस वृक्ष-निवासी देव को खीर चढ़ाने की तैयारियाँ कीं। खीर पकाते समय उसने कुछ अलौकिक चमत्कार देखे और अपनी दासी पुण्णा को पहले से वृक्ष के नीचे भेज दिया। उस समय भगवान न्यग्रोध वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे, उनके शरीर से तेज की किरणें निकल रही थीं। पुण्णा को बड़ा विस्मय हुआ और वह सुजाता को यह समाचार देने के लिए दौड़ी कि वनदेव उसकी पूजा ग्रहण करने के लिए वृक्ष से उतरकर नीचे विराजमान हैं। सुजाता ने एक नवीन स्वर्णपात्र में प्रेमपूर्वक खीर परोसी, और तब अवसर के अनुकूल वस्त्रादि धारण कर खीर से भरा पात्र सिर पर लिए वह न्यग्रोध वृक्ष की ओर चली। वनदेव का साक्षात

१. तुल० पधान सुत्त।

दर्शन कर वह परम प्रसन्न हुई। उसने उन्हें खीर अर्पित की और भगवान् ने उसे स्वीकार किया। उन्होंने नदी में स्नान करने के पश्चात् खीर ग्रहण की। उनचास दिनों के निरंतर उपवास के अनंतर (उन दिनों में उन्होंने स्नान वा आचमन भी नहीं किया था) उन्होंने प्रथम बार यह आहार ग्रहण किया। भोजन कर लेने के पश्चात् उन्होंने पात्र को यह कहते हुए नदी में फेंक दिया कि यदि मुझे बोधि प्राप्त होनेवाली होगी तो यह पात्र नदी में तैरेगा और धारा के प्रतिकूल चलेगा। ऐसा ही हुआ और वह पात्र धारा के [illegible] अंत में एक भंवर में पड़ गया और डूबकर नीचे काल नागराज के लोक में पहुँच गया।

बोधिसत्त्व के पाँचों ब्राह्मण साथियों ने देखा कि वे तपश्चर्या के द्वारा तो अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहे और अब ये भोजन ग्रहण कर तथा सुख से जीवन व्यतीत करके उसे प्राप्त करना चाहते हैं। इससे वे बड़े निराश हुए। बोधिसत्त्व से उन्हें विरक्ति हो गई और वे उनका साथ छोड़ बनारस के निकट मृगदाव को चले गए।

स्नान-भोजन से स्वस्थ होकर भगवान् धीर गति से बोधि वृक्ष की ओर चले। देवों ने मार्ग को कुश-कंटकों और ककरियों से रहित करके स्वच्छ-सुगम बना दिया। बोधिसत्त्व के शरीर से समस्त जीवों को आनंद देनेवाली तेज की किरणें निकलकर चारों दिशाओं में फैल रही थीं। नागराज कलिक ने उनके चरणों के दर्शन किए और उसकी रानी सुवर्णप्रभा ने उनकी स्तुति की। इसके पश्चात् बोधिसत्त्व को स्वस्तिक नामक एक घसियारा (यवसिक) मिला, जिससे उन्होंने आसन

१. ललित विस्तर में दी हुई कथा इससे कुछ भिन्न है। वह इस प्रकार है—सुजाता बोधिसत्त्व के भक्तों में से थी। वह इस आशा से ब्राह्मणों को भोजन कराया करती थी कि उनके आशीर्वाद से बोधिसत्त्व की साधना सफल होगी और वे अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे। देवों ने सुजाता को बोधिसत्त्व के लिए खीर पकाने की प्रेरणा की। तदनुसार उसने खीर पकाई और एक सोने के कटोरे में परोस कर उसे बोधिसत्त्व को खाने के लिए दिया। उन्होंने उसे ग्रहण करने के अनंतर कटोरे को नदी में फेंक दिया। उन्होंने नेरंजना नदी के शीतल जल में स्नान किया।

उस समय बोधिसत्त्व का कटिवस्त्र नितांत शीर्ण हो गया था और वे एक नया वस्त्र चाहते थे। उन्होंने निकटस्थ श्मशान में किसी शव पर का फेंका हुआ एक क्षौम-वस्त्र-खंड पाया और उसे उठा लिया। वे उसे धोना चाहते थे; परंतु उस स्थान के निकट कोई जलाशय न था, अतः देवों ने वहाँ अपनी दैवी शक्ति से एक जलाशय तथा उसके तट पर एक शिला प्रस्तुत कर दी, जिसपर बोधिसत्त्व ने उस वस्त्र को धोया।

के निमित्त कुछ घास माँगी। फिर वे यह दृढ प्रतिज्ञा करके बोधिवृक्ष के नीचे आसीन हो गये कि भले ही शरीर सूख जाय और मास और हड्डियाँ गल जायँ, परन्तु मै बोधि प्राप्त किए बिना आसन से नही उठूगा। जब वे पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से उस स्थिति मे बैठे हुए थे उस समय छहो दिशाओ के लोको से आकर वहाँ एकत्र हुए अनेक बोधिसत्त्व उनकी रक्षा कर रहे थे।

मार-विजय

जब भगवान् बोधिवृक्ष के नीचे बैठ हुए थे उस समय उन्होने अनुभव किया कि मार-लोक के निवासी जो देवगण अपने पुण्यो के बल से कालान्तर मे बुद्धत्व प्राप्त करने के अधिकारी है उन्हे सम्यक् बोधि प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने बोधिवृक्ष के नीचे आसनस्थ होने की सूचना दे देना आवश्यक है। अत उन्होने मार के लोको को प्रकाशित करनेवाली आलोक की किरणे प्रसारित की। उनकी इन आलोक-किरणो ने उनके कुटिल शत्रु मार को भी स्पर्श किया, जिसे अपने प्रताप के क्षीण होने के कई स्वप्न दिखाई पडे। वह भयभीत होकर उठ बैठा और अपने पुत्रो और सेनापतियो को बुलाया, जिन्होने यह कहकर उसके भय को दूर करने का प्रयत्न किया कि कोई शत्रु-सेना कितनी भी प्रचड एव बलशालिनी क्यो न हो, उसे पराजित करने के लिए हमारे पास पर्याप्त सेना और शक्ति है। मार की आज्ञा पाकर उन्होने भयानक आकारवाले यक्षो, राक्षसो, कुभाडो, उग्रो और पिशाचो को उत्पन्न किया और उन्हे पूर्ण रूप से शस्त्रसज्ज कर दिया। मारपुत्रो ने मार का दक्षिण और वाम पार्श्व सँभाला और इस प्रकार अपने वीर योद्धाओ के साथ रणोद्यत हो मार बोधिसत्त्व से युद्ध करने को प्रस्थित हुआ। परन्तु बोधिसत्त्व के मुँह खोलने मात्र से मार और उसकी सारी सेना भयभीत हो गई। बोधिसत्त्व अपने सिर पर हाथ फेरते तो भी उन सबको ऐसा लगता कि उनपर खड्ग से प्रहार हो रहा है। वे बोधिसत्त्व पर भारी-भारी अस्त्र फेकने लगे, परन्तु उन्होने देखा कि वे अस्त्र फूल बनकर बोधिवृक्ष की डालो मे लटक जाते थे। तब बोधिसत्त्व ने उन्हे सबोधित कर कहा—'निस्सदेह तुम लोगो के स्वामी मार ने अनेक यज्ञ करके असाधारण शक्तिया प्राप्त कर ली है, परन्तु वैसे यज्ञ मैंने भी किए है और उनसे भी बढकर, मैंने अगणित दान दिए है। केवल धन-सपत्ति ही नही, मैंने अपना शरीर तक लोकहित के लिए अर्पित कर दिया है।' अपने इस कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिए उन्होने पृथ्वी माता की ओर सकेत किया, जो बारबार कंपित होकर उनके कथन की पुष्टि करने लगी।

मार बहुत निराश हो गया और युद्धक्षेत्र से लौटकर वह बोधिसत्त्व को उनके बोधि प्राप्त करने के निश्चय से पराङ्मुख करने के लिए कोई मृदु उपाय सोचने लगा। उसने अपनी रूपवती पुत्रियों को अपने शृंगार, हाव-भाव एवं संपूर्ण नारी-सुलभ युक्तियों द्वारा बोधिसत्त्व को मोहित करने की आज्ञा दी। वे सब भली भाँति शृंगार कर एक साथ बोधिसत्त्व के पास गईं और अपने मधुर वचनों तथा अंगों की मोहक चेष्टाओं द्वारा उस महान् सत्व को लुभाने का यथाशक्ति प्रयत्न करने लगीं। परंतु बोधिसत्त्व पर्वत के समान अचल रहे, उनके सुंदर रूप, हाव-भाव और मधुर वचनों का उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अंत में बोधिसत्त्व मुस्कराए और उन्होंने उन्हें इंद्रिय-भोगों के कुपरिणामों तथा सांसारिक सुखों की अस्थिरता का ज्ञान कराया। उन्होंने यह भी बतलाया कि संसार में बार-बार जन्म लेने का कारण विषय-तृष्णा है तथा यह शरीर मलों की खान है। मार-कन्याओं ने उनकी बातें सुनीं-अनसुनीं कर दीं और उन्हें सांसारिक भोगों की ओर आकर्षित करने का पुनः प्रयत्न करने लगीं, परंतु वे पुनः असफल रहीं।

जब मार-कन्याएँ सब प्रयत्न करके थक गईं और बोधिसत्त्व को उनके निश्चय से विरत न कर सकीं तो उन्होंने अपनी हार मान ली और अपने पिता से जाकर निवेदन किया कि बोधिसत्त्व राग, द्वेष और मोह से सर्वथा रहित हैं। वे स्त्रियों की सारी धूर्त-विद्या भली भाँति समझते हैं, और उसका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। मार-कन्याओं को पूरा विश्वास हो गया था कि पृथ्वी और स्वर्ग की कोई भी शक्ति बोधि-सत्त्व को पराभूत नहीं कर सकती, और वे मार की सेनाओं को बड़ी सरलता से परास्त करने में पूर्ण समर्थ हैं।

जब मार बोधिसत्त्व से युद्ध कर रहा था उस समय देवगण बराबर उनके पार्श्व में खड़े उस युद्ध का अवलोकन कर रहे थे। उन्होंने बोधिसत्त्व की दृढ़ता और बुद्धि की प्रशंसा की और मार से भगवान् पर आक्रमण न करने का अनुरोध किया। बोधिसत्त्व ने कहा कि इसमें कोई संदेह नहीं कि मार कामधातु के स्वामी (कामेश्वर) हैं, परंतु मैं धर्म का स्वामी (धर्मेश्वर) हूँ। और सब प्रकार से मार से श्रेष्ठ हूँ। मार की सेना को पूर्ण रूप से ध्वस्त करके बोधिसत्त्व बोधिवृक्ष के नीचे दृढ़ आसन लगाकर बैठ गए।

१. मार और बोधिसत्त्व के युद्ध के वर्णन ने बढ़ते-बढ़ते ग्रंथ का रूप धारण कर लिया। द्रष्टव्य महासन्निपात-रत्न केतु-धारणी, अध्याय २, गिलगिट मैनु०, जिल्द ४।

बोधि की प्राप्ति

इसके अनंतर बोधिसत्त्व ध्यान में लीन हो गए और शनैः-शनैः उनका उत्थान प्रथम भूमिका (सवितर्क-सविचार-विवेकज-प्रीति-सुख) से द्वितीय भूमिका (अवितर्क-अविचार-समाधिज-प्रीति-सुख) फिर द्वितीय से तृतीय (उपेक्षक-स्मृतिमान्-सुख-विहारी) और फिर तृतीय से चतुर्थ भूमिका (अदुःखासुख-उपेक्षा-स्मृति-परिशुद्धि) पर होता गया। जब वे ध्यान की चतुर्थ भूमिका में थे तब रात्रि के प्रथम प्रहर में उन्हें दिव्य चक्षु तथा शुद्ध अंतर्दृष्टि प्राप्त हुई, जिससे वे समस्त जीवों के स्वभाव को जान सकते थे। द्वितीय प्रहर में उन्हें जीवों के पूर्वजन्मों की बातें जानने की शक्ति प्राप्त हुई और रात्रि के अंतिम प्रहर में उन्हें अनुभव हुआ कि उनके रहे-सहे दोषों का भी पूर्ण रूप से नाश हो गया (आस्रव-क्षय-ज्ञान)। इस भूमिका में उन्हें इस सत्य का ज्ञान हुआ कि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी अवश्य होता है, और जब वे इस सत्य पर मनन कर रहे थे उस समय उन्हें कारण-परंपरा के नियम (प्रतीत्य-समुत्पाद) का भी ज्ञान हो गया, जिससे उन्होंने यह पूर्ण रूप से समझ लिया कि सत्य का अज्ञान (अविद्या) ही सामाजिक दुःखों का मूल कारण है। तब उन्होंने कारण-परंपरा के नियम पर विलोम क्रम से विचार किया और उन्हें बोध हुआ कि अविद्या का नाश ही अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। तदनंतर उन्हें दुःख समुदय (दुःख का कारण), निरोध (दुःख का नाश) और मार्ग (दुःख के नाश का उपाय)—इन चार सत्यों का ज्ञान हुआ। उन्होंने अविद्या, संस्कार, तृष्णा इत्यादि कारण-शृंखला की बारह कड़ियों में से प्रत्येक में चारों सत्यों का विनियोग किया और पाया कि प्रत्येक कड़ी का आदि और अंत है और उसके अंत का एक मार्ग है। प्रातःकाल उन्हें परम सत्य अर्थात् बोधि का साक्षात्कार हुआ और वे पूर्ण ज्ञानी, 'बुद्ध' अथवा प्रबुद्ध हो गए। उन्हें सृष्टि के दृश्य पदार्थों के अस्थिर स्वभाव का ज्ञान हो गया और साथ ही उन्होंने परम तत्त्व का, जीवन (भव कोटि) के अंत का भी ज्ञान अधिगत कर लिया।

देवों ने उनकी बोधि-प्राप्ति में आनंदित होकर उनके ऊपर पुष्पों की वर्षा की और अत्यंत भावपूर्ण शब्दों में उनका स्तवन किया।

सात सप्ताह

इस अद्भुत सफलता के बाद बुद्ध जन्म, जरा, और मृत्यु से सर्वदा के लिए मुक्ति दिलानेवाली अपनी साधना के सिद्ध हो जाने के ज्ञान आनंद (प्रीत्याहार-व्यूह) का अनु-

भव करते हुए एक सप्ताह तक बोधिवृक्ष के नीचे आसीन रहे। दूसरे सप्ताह में वे विचार-मग्न होकर टहलते रहे और तीसरे सप्ताह में, जिस प्रकार से उन्होंने सत्य का ज्ञान प्राप्त किया उसपर विचार करते हुए बोधि-वृक्ष की ओर देखते रहे। चौथे सप्ताह में वे फिर थोड़ी दूर तक टहलते रहे। इसी सप्ताह मार ने उनके पास आकर यह प्रार्थना की कि 'अब आप परिनिर्वाण (महाकाल) को प्राप्त हों।' बुद्ध ने उसकी बात नहीं मानी और कहा कि जब तक मैं अपने शिष्यों को पूर्ण रूप से अपने सिद्धांतों और उपदेशों का ज्ञान न करा लूँ और अपने भिक्षु-संघ को भली भाँति संघटित और संस्थापित न कर लूँ तब तक मैं तुम्हारी इच्छा को पूर्ण नहीं कर सकता। मार इससे बहुत हताश और दुःखी हुआ और उसने अपनी कन्याओं से कहा कि जिसने राग, द्वेष और मोह पर विजय प्राप्त कर ली है उसको वश में करने का कोई भी प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता। मार की कन्याएँ भी उसकी इस बात से सहमत थीं। अतः उन्होंने भगवान् बुद्ध के निकट जाकर उनसे अपनी दुश्चेष्टाओं के लिए क्षमा-प्रार्थना की। पाँचवाँ सप्ताह बुद्ध ने नागराज मुचिलिंद के राजभवन में व्यतीत किया, जो उनके शरीर को लपेट कर और उनके ऊपर अपना फन फैलाकर धूप और वर्षा से उनकी रक्षा करता रहा। मुचिलिंद के राजभवन से वे गडेरिए के न्यग्रोध वृक्ष के निकट गये, जो उस समय एक देव था, और उसके नीचे ध्यान करते हुए उन्होंने छठा सप्ताह व्यतीत किया। सातवाँ सप्ताह बुद्ध ने तारायण वृक्ष के नीचे बिताया, जहाँ उन्हें दक्षिणापथ से उत्तरापथ जाते हुए त्रपुस और भल्लिक नामक दो व्यापारी मिले। उन दोनों व्यापारियों के पास बड़े हृष्ट-पुष्ट और बलवान् बैलों की एक जोड़ी थी। वे मार्ग में आनेवाली किसी विपत्ति का पहले ही जान लेते थे। आगे-आगे चलनेवाले ये दोनों बैल बुद्ध के पास आकर रुक गये और फिर एक इंच भी आगे नहीं बढ़े। वे दोनों व्यापारी इस प्रकार बैलों के अकस्मात् रुक जाने के कारण का पता लगाने लगे। उसी समय कुछ देवों ने, जो पूर्वजन्म में उन व्यापारियों के संबंधी थे, उन्हें उस स्थान के निकट बुद्ध की उपस्थिति की सूचना दी और उनसे भगवान् को मधु तथा अन्य भोज्य पदार्थ देने का अनुरोध किया। व्यापारियों ने सहर्ष उनकी बात मान ली। परंतु उन पदार्थों का ग्रहण करने के लिए बुद्ध के पास कोई पात्र नहीं था, अतः चार लोकपाल उसी क्षण चार रत्नजटित सोने के कटोरे लेकर वहाँ उपस्थित हुए। बुद्ध ने उन्हें लेना स्वीकार नहीं किया और एक पत्थर का कटोरा ले लिया। त्रपुस और भल्लिक को बोधि-प्राप्ति के बाद प्रथम बार भगवान् बुद्ध को भोजन कराने और इस प्रकार उनके सर्व-प्रथम उपासक होने का गौरव प्राप्त हुआ।

सातवें सप्ताह में जब भगवान् बुद्ध नारायण वृक्ष के नीचे ठहरे हुए थे तो उन्हें प्रतीत हुआ कि जिस सत्य का उन्होंने साक्षात्कार किया है वह इतना गभीर और सूक्ष्म है कि सामान्य बुद्धि के मनुष्यों के लिए उसको समझना कठिन है। वह शब्दों से अगम्य, तर्कों से परे, अचल-स्वभाव है और उसमें सपूर्ण भूत-जगत् तथा काम, क्रोध, मोह आदि का अत हो जाता है। अत उस सत्य को प्रचारित करने का प्रयत्न करना केवल शक्ति का अपव्यय करना है। महाब्रह्मा उनके इन विचारों को जानकर तत्क्षण वहाँ आये और उनसे सत्य का उपदेश करने की प्रार्थना की। उन्होंने कहा कि कुछ लोग जिनका बौद्धिक एव आध्यात्मिक विकास सामान्य जनों की अपेक्षा अधिक उच्च कोटि का है, सत्य को हृदयगम करने में समर्थ होंगे। उन्होंने यह भी कहा कि मगध में इस समय घोर अज्ञान का अधकार छाया हुआ है और यदि सत्य धर्म का उपदेश न किया जायगा तो लोग और अधिक अज्ञानग्रस्त होकर उन्मार्गगामी हो जायँगे। तब बुद्ध ने अपने दिव्य नेत्रों से ससार का अवलोकन किया और देखा कि उसमें अनेक प्रकार के लोग है जिनमें कुछ अवश्य सत्य धर्म को हृदयगम करने में समर्थ होंगे। तब उन योग्यतम व्यक्तियों का पता लगाने लगे जो उनके उपदेशों से लाभान्वित हो सकते थे। पहले उन्हें रुद्रक रामपुत्र का और फिर आडार कालाम का ध्यान आया। परन्तु वे दोनों उस समय ससार छोड चुके थे, अत उन्होंने उन पाँचों ब्राह्मण तपस्वियों को सत्य धर्म का उपदेश देने का निश्चय किया जो उस समय बनारस के निकट मृगदाव में रहते थे। वे उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से विशिष्ट स्तर पर पहुँचे हुए तथा उनके उपदेशों को समझने में समर्थ जान पडे। अत वे गया छोडकर बनारस के पथ पर अग्रसर हुए। मार्ग में उन्हें एक आजीवक साधु मिला जो उनके शात और तेजस्वी रूप को देखकर बहुत प्रभावित हुआ और जिसने उनसे उनके गुरु का नाम जानना चाहा। बुद्ध ने उत्तर दिया कि 'मेरे समान ज्ञानी कोई नहीं है, मेरा कोई गुरु नहीं है, मैं सम्यक् बुद्ध हूँ।' आजीवक साधु के चले जाने पर वे उत्तर दिशा में चले और गगातट पर पहुँचे। उन्होंने एक केवट से पार उतारने के लिए कहा तो उसने उतराई माँगी। तब वे वायु-मार्ग से उडकर गगा पार हो गए। केवट को इससे बडा पश्चात्ताप हुआ और राजा बिबिसार भी इससे बहुत दुःखी हुए। इसके बाद राजा ने केवटों को आज्ञा दे दी कि वे साधुओं को बिना शुल्क लिए पार उतार दिया करें।

अध्याय ४

बुद्ध का धर्म-प्रचार

बुद्ध का धर्म-प्रचार-कार्य सारनाथ से प्रारंभ हुआ। वाराणसी से चलकर बुद्ध अपने पुराने ब्राह्मण साथियों को उपदेश देने के लिए मृगदाव पहुँचे, जो इसिपत्तन (ऋषियों का नगर) के नाम से प्रसिद्ध था। भगवान् बुद्ध को अपनी ओर आते देख उन पाँचों ब्राह्मणों ने प्रतिज्ञा की कि हमारे पुराने मित्र होने पर भी ये तपोभ्रष्ट हो गए, अत हम इनका स्वागत नहीं करेंगे। परन्तु जब बुद्ध उनके निकट पहुँच गए तो उनकी शांत, गंभीर, देवोपम आकृति से वे ब्राह्मण ऐसे अभिभूत हुए कि उन्हें अपनी प्रतिज्ञा भूल गई। उन्होंने आगे बढ़कर उचित आदर और विनय के साथ उनका स्वागत किया। पहले उन्होंने भगवान् को अपने मित्र के समान 'आयुष्मन्' कहकर संबोधित किया, जिसपर उन्होंने आपत्ति की और उनसे कहा कि वे उन्हें अपना गुरु समझें और उन्हें गुरु कहकर ही संबोधित करें।

उन्होंने देखा कि उन पाँचों ब्राह्मणों को एक साथ सत्य धर्म में विश्वास कराना सरल नहीं है, अत उन्होंने उनमें से दो को भिक्षा माँगने के लिए बाहर भेज दिया और शेष तीनों को अपने सत्य धर्म का रहस्य समझाया। जब भिक्षार्थ गये हुए विप्र लौट आये तो दूसरे दिन उन तीनों को भिक्षा के लिए भेजकर उन्होंने अन्य दो को धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने पहले उन्हें यह समझाया कि गृहस्थी का सुखमय जीवन तथा तपस्या का कष्टमय जीवन—दोनों ही दो अंतिम कोटि के हैं, अत अनुचित है। उनका त्याग कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। मध्यम मार्ग के अंतर्गत उन्होंने तीन बातें बतलाईं—(१) वचन, कर्म तथा जीविका के साधन पर संयम (सम्मा वाचा, कम्मन्त तथा आजीव), (२) अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण, अर्थात् दृढ़ निश्चय, अभ्यास, ध्यान एवं समाधि के द्वारा सद्गुणों का अर्जन तथा दोषों का त्याग (सम्मा संकिप्प, वायाम, सति, समाधि) तथा (३) सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति, अर्थात् चार सत्यों एवं द्वादश कारण-परंपरा का ज्ञान (सम्मा दिट्ठि)।

चार सत्यों में से प्रथम सत्य यह है कि 'यह संसार दुःखमय है' और इसके साथ सदैव जन्म, जरा, रोग और मृत्यु का चक्र लगा रहता है। जीव इस कारण भी दुःख पाता है कि वह जो कुछ चाहता है वह उसे प्राप्त नहीं होता और उसे ऐसे लोगों की

सगति प्राप्त होती है जिनसे वह मिलना भी नहीं चाहता। दूसरे शब्दो मे, जिन पचभूतों से जीव का शरीर बना हुआ है उनके साथ दु ख और पीडा का नित्य सबध है। दूसरा सत्य यह है कि 'दु ख का कारण इच्छा या तृष्णा है' जो मनुष्य के सासारिक जीवन मे बार-बार उत्पन्न होती और बढती ही जाती है। तृष्णा का सबसे बुरा रूप वह है जिसमे मनुष्य मृत्यु के समय यह कामना करता है कि वह फिर से इस ससार मे जन्म ले। तीसरा सत्य है 'दु ख का नाश', जो इच्छा वा तृष्णा को पूर्णत नष्ट करके ही किया जा सकता है। चौथा और अतिम सत्य यह है कि 'दु ख और पीडा के नाश का उपाय उपर्युक्त अष्टाग धर्मवाला मध्यम मार्ग है।'

द्वादश कारण-परपरा' के सिद्धात की व्याख्या इस प्रकार की गई है--'तृष्णा' द्वितीय सत्य है, और वह अनुभूति या वेदना से उत्पन्न होती है। अनुभूति या 'वेदना' स्वय छहो इद्रियो का अपने-अपने इद्रियार्थों या विषयों से सबध होने पर उत्पन्न होती है। षडिद्रियो की उत्पत्ति मनुष्य के ससार मे जन्म लेने के कारण होती है, और जन्म के कारण है कर्मों के प्रभाव (सस्कार), जिन्हे वह पूर्व जन्मो से प्राप्त करता है, जिनमे विश्व के मूल सत्य के ज्ञान के अभाव के कारण उसका जीवन 'अविद्या' मे लिप्त रहता है। बार-बार जन्म लेने का कारण 'इच्छा, विशेषत पुनर्जन्म की इच्छा' है, जिसमे जरा, रोग और मरण अवश्यभावी है। बुद्ध ने बारबार इस बात पर जोर दिया कि पुनर्जन्म की तृष्णा (भवतृष्णा) ही पचतत्त्वो के सयोग का कारण है जिससे जीव की देह का निर्माण होता है। ये तत्त्व (नाम-रूप) अनित्य एव दु ख के मूल है तथा कामना के योग्य विषय नहीं है। अतएव यह अत्यत आवश्यक है कि मनुष्य तृष्णा से बचने का उपाय स्वय करे, इसके लिए किसी मनुष्य या ईश्वर के भरोसे न रहे (आत्मशरण अनन्यशरण)।

उपर्युक्त उपदेश और उसकी व्याख्या से पाचो ब्राह्मण तपस्वियो की दृष्टि निर्मल हो गई। पाचवे दिन जब बुद्ध के उपदेशो से उन पाचो की कुछ गति होने लगी तो बुद्ध ने 'अनत्तलक्खनसुत्त' का व्याख्यान किया जिसमे उन्होने अपने धर्म के मूल सिद्धात बतलाए, जिनका सार यह है कि जीव के निर्माण-तत्त्वो (स्कधो) से पृथक् आत्मा (अत्त = आत्मन्) नाम की कोई वस्तु नहीं है। जिन पाच तत्त्वो से देही का निर्माण होता है वे है--रूप, वेदना, (अनुभूति), सज्ञा (सञ्ञा), सस्कार (सखारा) और विज्ञान (विञ्ञान)। आत्मा का अस्तित्व न पृथक्-पृथक् इन पाचो स्कधो मे

१. और विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य अध्याय ८।

से किसी में है, न वह इनके समवाय में है। इन स्कंधों के बाहर भी कहीं उसका अस्तित्व नहीं है। इस उपदेश से उन पाँचों ब्राह्मणों के ज्ञान-नेत्र खुल गए और उन्हें तत्काल अर्हत् पद प्राप्त हो गया।

उन पाँचों बुद्ध-शिष्यों के व्यक्तिगत इतिहास के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त हो सकी है। अनुश्रुतियों में जो कुछ थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है वह इस प्रकार है——

(१) **अञ्ञात-कोण्डञ्ञ**——(**अज्ञात कौण्डिन्य**)——ये कपिलवस्तु के निकट द्रोण-वस्तु के एक संपन्न ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने वेदों और अन्य ब्राह्मण-शास्त्रों का अध्ययन किया था। जिन ब्राह्मणों को राजा शुद्धोदन ने सिद्धार्थ के जीवन का भविष्य पूछने के लिए निमंत्रित किया था उनमें ये भी थे। ये उन पाँचों ब्राह्मणों में ज्येष्ठ थे जिन्होंने बुद्ध के साथ तपस्या की थी और यही उनके उपदेशों को समझनेवाले सर्वप्रथम शिष्य थे तथा उनके भक्तों में सर्वश्रेष्ठ मानकर लोग उनकी प्रशंसा करते थे। अर्हत् पद प्राप्त करने के बाद ये गुरु की आज्ञा लेकर एकांत वन में चले गए। कहा जाता है कि वहाँ वन के हाथी उनकी सेवा करते थे।

(२) **भद्दिय**——बुद्ध के उपदेशों को समझनेवाले द्वितीय ब्राह्मण थे।

(३) **वप्प**——कपिलवस्तु के वासेट्ठ कुल में उत्पन्न हुए थे। बुद्ध के ऋषिपत्तन में आने के दूसरे ही दिन वे 'सोतापन्न' हो गए।

(४–५) **महानाम** और **अस्सजि**——पाँचों ब्राह्मणों में कनिष्ठ थे और पाँचों में से ये ही दोनों बुद्ध की शिक्षाओं से लाभान्वित होनेवाले अंतिम व्यक्ति थे। चित्तगहपति महानाम से बहुत प्रभावित हुआ था और उसने उन्हें अवटक वन दान कर दिया था। अस्सजि ने 'ये धम्म हेतुप्पभवा' इत्यादि श्लोक कहकर सारिपुत्त को बौद्धधर्म की ओर आकृष्ट किया था, इस कारण उनकी बड़ी प्रसिद्धि हुई।

पूर्ण, नालक और सभिय

पाँचों ब्राह्मणों को अपने धर्म का अनुयायी बनाकर कुछ काल तक बुद्ध ऋषिपत्तन में ही रहे। उस समय पूर्ण मंत्राणीपुत्र, नालक और सभिय[1] ने जो सभी बुद्ध के सम-

१ **महावस्तु (३, पृ० ३७७ तथा आगे) तथा अभिनिष्क्रमण सूत्र (पृ० २७४ तथा आगे) में पूर्ण मंत्रायणीपुत्र, असित ऋषि के भांजे नालक, और एक विख्यात तार्किक स्त्री के पुत्र सभिय के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का वर्णन श्रेष्ठिपुत्र यश की दीक्षा के पहले किया गया है।**

H 2857

सामयिक साधु थे, बुद्ध के उपदेशों की बड़ी प्रशंसा की। परन्तु सम्भवतः वे भिक्षु नहीं हुए, यद्यपि महावस्तु में कहा गया है कि बुद्ध ने "एहि भिक्षु" मन्त्र का उच्चारण करके उन्हें भिक्षु-संघ में सम्मिलित किया था। इसमें संदेह नहीं कि ये तीन साधु इसके एक-दो वर्ष के बाद बौद्ध-संघ में सम्मिलित हुए और उन्होंने भिक्षुओं में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। पूर्ण मैत्रायणीपुत्र ने भिक्षु-संघ में सम्मिलित होने के कुछ ही समय बाद बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनंद को उपदेश दिया था। पूर्ण मैत्रायणीपुत्र कपिलवस्तु के निकट कोसल के द्रोणवस्तु नामक स्थान के निवासी एक संपन्न ब्राह्मण के पुत्र थे। उन्होंने राजकुमार सिद्धार्थ के प्रव्रज्या-ग्रहण के ही दिन गृह त्याग दिया था। वे हिमालय में चले गए और ध्यान एवं समाधि के अभ्यास में उन्होंने पूर्ण सफलता प्राप्त की। उनके २९ शिष्य थे और सभी वेदांगों के पंडित थे। पूर्ण ने अपने शिष्यों को गौतम बुद्ध के आविर्भाव तथा वाराणसी में उनके प्रथम धर्म-व्याख्यान की सूचना दे दी थी। वे तीसों ऋषि बौद्ध भिक्षु-संघ में सम्मिलित होने के लिए वाराणसी गए और बुद्ध ने उन्हें भिक्षु बनाया। पाली ग्रंथों में वर्णन है कि पूर्ण अञ्ञातकोण्डञ्ञ के भांजे थे, जिन्होंने उनको भगवान् बुद्ध के वाराणसी से प्रस्थान करने के कुछ ही समय बाद कपिलवस्तु में दीक्षा दी थी। पूर्ण की बुद्ध से भेंट पहले-पहल सावत्थी में हुई थी। उन्होंने अर्हत् पद प्राप्त किया। वे बड़े विद्वान् थे और उन्होंने सारिपुत्त सहित अनेक भिक्षुओं की शंकाओं का समाधान किया था। बुद्ध उन्हें धम्मकथिकों का प्रधान कहा करते थे।

नालक——कात्यायन-गोत्रीय तथा अवंती के राजा के कुलगुरु के द्वितीय पुत्र थे। उनके मामा ऋषि असित थे, जो विंध्य पर्वत में निवास करते थे। उन्होंने नालक के ज्येष्ठ भ्राता उत्तर को संपूर्ण शास्त्रों की शिक्षा दी, जिसके बाद वह अवंती में 'मर्कट' नामक स्थान में अध्यापक हो गया। नालक ने बहुत शीघ्र ही संपूर्ण शास्त्रों का अध्ययन कर लिया और वे विंध्य पर्वत में जाकर ऋषि असित के शिष्य हो गए। जब बुद्ध वाराणसी में प्रथम बार अपना उपदेश देने के बाद वहीं ठहरे हुए थे उस समय ऋषि असित की आज्ञा से नालक वहाँ गए और धर्मसंघ में सम्मिलित होने के लिए बुद्ध से प्रार्थना की जिन्होंने सहर्ष उनकी इच्छा पूर्ण की।

उपर्युक्त कथा का वर्णन सुत्तनिपात के नालकसुत्त में किया गया है और बताया गया है कि नालकसुत्त का उपदेश धम्मचक्कपवत्तनसुत्त के सात दिनों के बाद किया गया था। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पाली अनुश्रुति में नालक और महाकात्यायन को एक ही नहीं कहा गया है, जैसा कि महावस्तु में।

सभिय––दक्षिण देश की एक विख्यात तार्किक महिला के पुत्र थे। उन्हें सपूर्ण कलाओं और शास्त्रों, विशेषत तर्कशास्त्र की तथा परिव्राजक-वाङ्मय, की शिक्षा दी गई थी। जब वे षोडश जनपदों में परिव्राजक के रूप में भ्रमण कर रहे थे उस समय वे वाराणसी भी गए थे और उन्होंने बुद्ध से शास्त्रार्थ किया था। बुद्ध के द्वारा दिए गए अपने प्रश्नों के उत्तरों से वे बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने धर्मसघ में सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट की, जिसे बुद्ध ने तत्काल पूर्ण किया। उक्त कथा का वर्णन पाली ग्रथों (सुत्तनिपात) में भी हुआ है परतु वहाँ सभिय और बुद्ध की भेंट वेलुवन में बताई गई है।

यश––जब बुद्ध ऋषिपत्तन में ठहरे हुए थे उन दिनों वाराणसी नगर में यश अथवा यशोद नामक एक बड़ा धनाढ्य श्रेष्ठि-पुत्र निवास करता था। उसके तीन प्रासाद थे, जो अलग-अलग वर्ष की तीनों ऋतुओं में सुखद निवास के योग्य बनाए गए थे। वह सदा नर्तकियों और गायिकाओं से घिरा हुआ भोग-विलास में डूबा रहता था। एक दिन अर्द्ध रात्रि में उसकी निद्रा खुली तो उसने नर्तकियों को विकृत मुद्राओं में सोते हुए पाया, जैसे कि राजकुमार सिद्धार्थ ने अपनी प्रव्रज्या की रात्रि में अपने प्रासाद की नर्तकियों को पाया था। इसके बाद यश अपने प्रासाद से बाहर निकल गया और नदी-तट पर जाकर खुले मैदान में उच्च स्वर से यह कहता हुआ घूमने लगा कि 'मैं दुःखी हूँ, मैं विपन्न हूँ' (उप्पदुत वो उप्पसट्ठ वो)। बुद्ध ने, जो उस समय वरुणा नदी के तट पर बैठे हुए थे, उसकी वह आर्त वाणी सुन ली। उन्होंने समझ लिया कि यश ने पूर्व जन्मों में इतने पुण्य अर्जित कर लिए हैं कि उसे इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त होगी। उन्होंने उसे निकट बुलाया और पहले उसको दान-धर्म और नियमों के पालन का तथा दिव्य जीवन प्राप्त करने के उपायों, एवं सासारिक भोगों को भोगने के कुपरिणामों का उपदेश किया (दानकथं सीलकथं सग्गकथं कामान आदीनव सकिलेस)। जब उन्होंने देखा कि उनके उपदेश का अनुकूल प्रभाव पड़ा और उसका मन कुछ शात हुआ जिससे वह उच्चतर आध्यात्मिक उपदेशों को ग्रहण करने की स्थिति में हो गया, तब उन्होंने उसे धर्म के चतुस्सूत्रों तथा द्वादश कारण-परपरा का रहस्य बतलाया। इससे तत्काल यश की अतर्दृष्टि निर्मल हो गई और उसे दिव्य शक्तियों के साथ-साथ पूर्ण मुक्ति भी मिल गई।

यश के माता-पिता अपने पुत्र को प्रासाद में न पाकर उसकी खोज में निकले और उस स्थान पर जा पहुँचे जहाँ वरुणा-तट पर भगवान् बुद्ध विराजमान थे। उन्होंने बुद्ध से अपने पुत्र के विषय में पूछा तो पहले उन्होंने अपनी दिव्य शक्ति से यश को अदृश्य

कर दिया और उसके माता-पिता को दान, धर्म एव नियमो के पालन का उपदेश किया। जब उनका मन शात हुआ तब उन्होंने रहस्यमय आवरण को दूर कर दिया जिसमे श्रेष्ठि-दपति ने अपने पुत्र को वहाँ बैठे हुए देखा। अपने प्रिय पुत्र को पाकर वे बडे प्रसन्न हुए, परतु जब उन्हे ज्ञात हुआ कि वह प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए समुद्यत है तो वे दुखी हो गए। परतु फिर जब उन्हे विदित हुआ कि उसे दिव्य आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हो गई है तो उन्होंने अपने सौभाग्य, अथवा अपने प्रिय पुत्र से वियुक्त होने के दुर्भाग्य को माथे चढाया। उसके बाद वे बुद्ध के अनुयायी हो गए।

यह सुनकर कि यश बुद्ध का शिष्य बनकर भिक्षु हो गया है, उसके चार मित्र विमल, सुबाहु, पूर्ण (पुण्णजी) और गवापति, जो सभी श्रेष्ठि-कुलो के थे, पचास अन्य व्यक्तियो के साथ भिक्षु हो गए। इन चारो मे से गवापति बहुत प्रसिद्ध हुए। उन्हे दिव्य शक्तियाँ (ऋद्धियाँ) प्राप्त हुई; अत मे अर्हत् पद भी प्राप्त हो गया। वे साकेत मे अजनवन मे रहते थे। सहजाति (चेदि देश) मे उन्होंने चतुस्सूत्र धर्म का उपदेश दिया जो उनके कथनानुसार उन्हे साक्षात् बुद्ध भगवान् से प्राप्त हुआ था। प्रथम धर्म-परिषद् (सगीति) के अधिवेशन के समय वे बहुत वृद्ध हो गए थे, अत उन्होंने उस अधिवेशन की कार्यवाहियो मे कोई भाग नही लिया। उनके पूरण नाम के एक घनिष्ठ मित्र थे, जो उपर्युक्त पूर्ण या पुण्ण हो सकते है। सर्वास्तिवाद की अनुश्रुति है कि परिषद् के अधिवेशन के समय गवापति बहुत अस्वस्थ थे। उसके बाद शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो गई और पुण्ण ने उनकी अत्य क्रिया की।[1]

बुद्ध के शिष्यो की सख्या अब ५१ तक पहुँच चुकी थी। वे सब शिष्य मानवीय अथवा दैवी सभी बधनो से मुक्त थे। बुद्ध ने उनके पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर लेने के कारण उनकी प्रशसा की और उनसे इस प्रकार कहा—"भिक्षुओ, तुम भिन्न-भिन्न दिशाओ मे जाकर भ्रमण करो। तुममे से कोई दो एक साथ मत जाना। 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' तथा देवो और मनुष्यो के कल्याण के लिए तुम भ्रमण करो और सत्य धर्म का उपदेश करो जिसका आदि, मध्य और अत सभी कल्याणमय है, तथा लोगो को शुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन की शिक्षा दो।" बुद्ध का विश्वास था कि ससार मे ऐसे लोग भी है जिनका आध्यात्मिक विकास हो चुका है परतु जिन्हे सिद्धि प्राप्त करने के लिए कुछ और उपदेश देने की आवश्यकता है। विशेषत. ऐसे ही लोगो के लिए उन्होंने भिक्षु-

१. रॉकहिल, लाइफ ऑव बुद्ध, पृ० १४९।

संघ का निर्माण किया। शिष्यों को धर्म-प्रचार के लिए भेजकर अपने लिए उन्होंने कहा कि मैं सत्य का उपदेश करने के लिए गयाशीर्ष गिरि पर जा रहा हूँ।'

गयाशीर्ष के मार्ग में उन्हें तीस प्रतिष्ठित कुलों के युवक वन में अपनी पत्नियों के साथ विहार करते हुए मिले। एक युवक की संगिनी एक वारवनिता थी जो उस मित्र-मंडली की कुछ बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर चंपत हो गई। उस स्त्री को खोजते हुए वे बुद्ध के पास पहुँचे और उनसे उसके विषय में पूछा। भगवान् ने उन्हें उपदेश दिया कि 'तुम उस स्त्री को न खोजकर अपने आत्मा को खोजो।' इस उपदेश से उन युवकों के मन परिवर्तित हो गए और वे बुद्ध के शिष्य हो गए।

इसके पश्चात् बुद्ध गयाशीर्ष पहुँचे और उन्होंने वहाँ के श्रेष्ठ ऋषियों को, ब्रह्म-र्षियों और राजर्षियों को, बौद्ध धर्मानुयायी बनाने का प्रयत्न किया।

काश्यप—पहले बुद्ध जटिल काश्यपों की यज्ञशाला में गए और आश्रम में रहने की अनुमति माँगी। परंतु जटिलों ने स्थान का अभाव बताकर यज्ञकुंड के निकट के स्थान की ओर संकेत करके उनसे कहा कि रहने के लिए केवल यही स्थान यहाँ मिल सकता है, परंतु वहाँ एक विषधर नाग रहता है। बुद्ध ने उस स्थान को स्वीकार कर लिया और सारी रात वहाँ उन्होंने ध्यान में बैठे-बैठे बिता दी। उस नाग के मुँह से निकली हुई विषैली वायु उनके चारों ओर फैल गई, परंतु जब उसने फिर भी उन्हें शांत, गंभीर और अचल पाया तो नतफण होकर उनकी पूजा की। काश्यपों को, रात्रि-विश्राम के लिए उस स्थान को स्वीकार करने के कारण, बुद्ध के दुर्भाग्य पर दया आ रही थी, परंतु प्रातःकाल यह देखकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही कि बुद्ध न केवल जीते-जागते और प्रसन्न हैं, अपितु नाग को वे अपने भिक्षापात्र में लिए हुए हैं। अपनी कुछ अन्य अलौकिक शक्तियाँ उन्हें दिखलाकर बुद्ध ने उन काश्यपों को अभिभूत कर लिया और उन्हें अपना शिष्य बना लिया। उन्होंने उन्हें अग्नि के विषय में (आदित्त परियाय सुत्त) उपदेश दिया, जिसमें उन्हें बतलाया कि वास्तविक अग्नि तो राग, द्वेष और मोह में रहती है जो इंद्रियों और इंद्रियार्थों के संयोग से उत्पन्न संस्कारों से उत्पन्न होती है। यही अग्नि हमारे जन्म, जरा एवं मरण के दुःखों का कारण है। इस अग्नि से अपनी रक्षा करने का केवल एक ही उपाय है, वह यह कि मनुष्य इंद्रियों और उनके विषयों की उपेक्षा करके उनके द्वारा उत्पन्न संस्कारों से अपने को अप्रभावित रखे। इस प्रकार की निस्संगता, तटस्थता एवं समभाव के द्वारा ही मनुष्य अपने मन को

१. विनय० १, पृ० २१।

वासनारहित करके वह अतर्दृष्टि प्राप्त कर सकता है जिससे पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो सकती है।'

इस व्याख्यान को श्रवण कर वास्तविक अग्नि का रहस्य उरुविल्व काश्यप की समझ में आ गया और उन्होंने यज्ञाग्नि की शक्ति में अपना विश्वास त्याग दिया। उन्होंने बुद्ध के व्याख्यान की बड़ी प्रशंसा की और ज्ञान तथा दिव्य शक्तियों में बुद्ध से अपने को न्यून मानकर उनकी महत्ता स्वीकार की। वे उनके शिष्य हो गये और अपने वस्त्रों और यज्ञपात्रों को उन्होंने नदी की धारा में फेंक दिया। उनके दो भाई 'नदी काश्यप' और 'गया काश्यप', जो नदी के उतार की ओर रहते थे, अपने ज्येष्ठ भ्राता के वस्त्रादि को नदी में बहते देखकर डर गए और तुरत उनके पास गए। परन्तु अपने भ्राता को बौद्ध भिक्षुओं का वस्त्र पहने हुए देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने भी आदित्तपरियाय सुत्त का श्रवण किया और अपने भ्राता की भाँति बुद्ध की शिष्यता स्वीकार की।

तब भगवान् अपने इन नए जटिल शिष्यों तथा अन्य शिष्यों को साथ लेकर राजा बिंबिसार के यष्टिवन (लट्ठि वन) में गए, जहाँ राजा ने उनका बड़े आदर से स्वागत किया। राजा उन जटिल तपस्वियों के बड़े भक्त थे और जब उन्होंने उन्हें बुद्ध के शिष्यों के साथ बैठे हुए देखा तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे यह निश्चय न कर सके कि उस ऋषि-मंडली के नेता बुद्ध हैं अथवा वे जटिल ऋषि। राजा के संदेह को दूर करने के लिए जटिल काश्यप ने घोषित किया कि 'मैंने यह अनुभव कर लिया कि कामनाओं का अंत करने तथा पुनर्जन्मों के चक्र को रोकने में मेरी अग्नि-पूजा और शरीर को कष्ट देनेवाली तपस्या का कोई फल नहीं है, अतः मैं निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा से बुद्ध का शिष्य हो गया हूँ। बुद्ध के अनुरोध करने पर जटिल ऋषि ने सभा के सम्मुख अपने द्वारा प्राप्त की हुई दिव्य शक्तियाँ प्रदर्शित कीं और अपनी सिद्धियों के द्वारा बुद्ध के ज्ञान और शक्ति की अद्वितीयता का लोगों को विश्वास करा दिया।

राजा बिंबिसार—जब लोगों का मन शांत, स्वस्थ और श्रद्धायुक्त हो गया तब भगवान् बुद्ध ने उन्हें आत्मा एवं अहंकार के अनस्तित्व तथा सांसारिक पदार्थों की अनित्यता पर उपदेश दिया। उन्होंने किसी नित्य आत्मा के अस्तित्व को असिद्ध कर दिया। उनका तर्क था कि ऐसा आत्मा—प्रभु और ईश्वर—क्यों अपने को सांसारिक

१. विनय० १, पृ० ३४-३५।

दु खो मे डालेगा ? जन्म-मरण के कारणरूप तथा मुक्ति के मार्ग मे बाधक अहकार की भावना के परित्याग की आवश्यकता का प्रश्न ही क्यो उपस्थित हो ?

अतएव न कोई कर्ता है, न कोई ज्ञाता, न कोई प्रभु, न कोई आत्मा। उन्होने समझाया कि इद्रियो तथा उनके इद्रियार्थों के सपर्क से सस्कारो की उत्पत्ति होती है। ये सस्कार तृष्णा-बीज के जनक है। इस तृष्णा-बीज से जो अकुर उत्पन्न होता है वह स्वय न वह बीज है, न उस बीज से भिन्न ही है। यही सत्य है। राजा उनके इस व्याख्यान को सुनकर बहुत आनदित हुआ और उसे सत्य का साक्षात्कार हो गया।

इसके अनतर राजा ने बुद्ध से अपने वेलुवन मे निवास करने की प्रार्थना की और बुद्ध ने उसे स्वीकार कर लिया। यहाँ उन्होने अपने धर्म-सिद्धातो का उपदेश देकर तथा अपने शिष्यो को प्रशिक्षित करके इस पृथ्वी पर अपना सघ स्थापित करने का निश्चय किया।

इसके कुछ समय बाद तक भगवान् बुद्ध वेलुवन मे रहे और वहाँ अपने और शिष्य बनाए, जिनमे सारिपुत्त तथा मौग्गल्लायन सबसे विशिष्ट थे। ये दोनो पहले सजय वेलट्ठिपुत्त के शिष्य थे।

सारिपुत्र——इनके बौद्ध धर्म-सघ मे सम्मिलित होने की कथा इस प्रकार है—— एक दिन बुद्ध के दो शिष्य अश्वजित (अस्सजि) और वाप्प (वप्प) भिक्षाटन करते हुए राजगृह नगर मे पहुँचे। वे जितेद्रिय थे और उनका मन शात था। सारिपुत्त, जो उपतिष्य नाम से प्रसिद्ध थे, उनकी उदात्त एव गभीर मुद्रा तथा शात व्यवहार को देखकर मुग्ध हो गए। सारिपुत्त ब्राह्मण-कुलोत्पन्न थे। उनके माता-पिता तर्कशास्त्र के पडित थे और वे स्वय एक विशिष्ट विद्वान् थे। सारिपुत्त ने अश्वजित् से उनके गुरु का नाम और परिचय पूछा तो उन्होने उत्तर दिया——'मेरे गुरु इक्ष्वाकु-कुलोत्पन्न महात्मा बुद्ध है जो सर्वज्ञ तथा देवो और मनुष्यो मे सर्वश्रेष्ठ है।' जब सारिपुत्त ने उनके गुरु के उपदेशो के विषय मे पूछा तो उन्होने उत्तर दिया कि 'मैने अभी-अभी बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की है और उसके सिद्धात इतने सूक्ष्म एव गभीर है कि मै अभी उन्हे पूर्ण रूप से अधिगत नही कर सका हूँ। मै केवल इतना ही कर सकता हूँ कि एक श्लोक उद्धृत कर दूँ जिसमे भगवान् के उपदेशो का सार सन्निविष्ट है।' तत्पश्चात् उन्होने निम्नलिखित श्लोक पढा——

"ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुस्तेषा तथागतो ह्यवदत्।
तेषा च यो निरोध एव वादी महाश्रमण ॥"

[जो पदार्थ हेतु से उत्पन्न है उनका हेतु तथागत ने बतला दिया है। उनका निरोध (जिस प्रकार किया जा सकता है वही) महाश्रमण का सिद्धान्त है।]

सारिपुत्र ने, जिनका पहले ही पर्याप्त आध्यात्मिक उत्थान हो चुका था, उक्त श्लोक के वास्तविक तात्पर्य को अवगत कर लिया और उसके तर्क और युक्ति की प्रशंसा की। उनके हृदय में तत्काल यह विश्वास हो गया कि ईश्वर तथा आत्मा सत्ताहीन है और संसार के समस्त पदार्थ कारण से उत्पन्न हुए हैं। संसार के जो पदार्थ दुःख के कारण हैं, नित्य सुख को प्राप्त करने के लिए उनके बीज को ही नष्ट कर देना चाहिए।

मौद्गलायन—सारिपुत्र के एक मित्र थे जिनका नाम था मौद्गलायन। आध्यात्मिक साधना में वे भी सारिपुत्र के समान ही थे। एक दिन दोनों मित्र अलग-अलग एक गुरु की खोज में निकले जो उन्हें सत्य का दर्शन करा सके। दोनों ने एक-दूसरे से प्रतिज्ञा की कि जिसको पहले सत्य का दर्शन हो जाय वह तुरन्त दूसरे को उस सत्य और उसके द्रष्टा एवं प्रतिपादक का पता देगा। अतः सारिपुत्र मौद्गलायन के घर गए और जो कुछ हुआ था उसकी सूचना उन्हें दी। मौद्गलायन ने भी सत्य के तत्त्व को अवगत कर लिया और उन्हें ज्ञान-दृष्टि प्राप्त हुई। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्हें जो इतने शीघ्र सत्य का साक्षात्कार हो गया उसका कारण उनके पूर्वजन्मों का संचित पुण्य था, जिससे उनका ज्ञान परिपक्व हो गया और उनके दोषों का क्षय हो गया।

इसके बाद उन दोनों मित्रों ने अपने पुराने गुरु संजय को छोड़ दिया और वे बुद्ध के भिक्षु-संघ में सम्मिलित हो गए। संजय के अन्य ढाई सौ शिष्यों ने भी उन दोनों का अनुसरण किया। बुद्ध ने दूर से उन्हें आते हुए देखकर ब्रह्मा के स्वर में कहा—'ये दोनों मित्र, जो मेरे पास आ रहे हैं, मेरे प्रधान शिष्य होंगे।' और जब वे उनके निकट आये तो बुद्ध ने उनका स्वागत किया। तुरन्त ही उन दोनों ने अपने वस्त्र, त्रिशूल, कमण्डलु और जटा को त्याग दिया और मुंडित एवं पीतवस्त्रधारी भिक्षु हो गए। उन दोनों को अर्हत् पद प्राप्त हो गया। उसके बाद ढाई सौ अन्य साथियों सहित दोनों ने भक्तिपूर्वक बुद्ध को प्रणाम किया और वे भिक्षु-संघ के एक पार्श्व में बैठ गए।

महाकाश्यप—इस घटना के कुछ ही काल के अनन्तर, जब बुद्ध राजगृह और नालंदा के बीच बहुपुत्रक चैत्य में ठहरे हुए थे, तब वहां काश्यप अग्निदत्त (पाली—पिप्फलि-माणव) नाम के एक ब्राह्मण ऋषि आए, जो पहले राजगृह के एक बड़े संपन्न गृहस्थ थे और जिनकी पत्नी अत्यन्त सुंदरी थी। वे अपना सर्वस्व त्याग कर अपनी स्त्री भद्रा कापिलेया (पाली—भद्रा कपिलानी) सहित संन्यासी हो गए थे। युवावस्था में काश्यप की विवाह करने की इच्छा नहीं थी, परन्तु अपने माता-पिता के आग्रह पर उन्होंने इस शर्त

पर विवाह करना स्वीकार कर लिया था कि कन्या ऐसी मिले जो उनके द्वारा उनकी रुचि के अनुसार बनवाई गई एक सुंदर स्वर्ण-मूर्ति के समान हो। खोजते-खोजते मागन्दि मे एक धनाढ्य ब्राह्मण कन्या उस मूर्ति के समान आकृतिवाली मिल गई। उसकी भी प्रवृत्ति संसार की ओर नहीं थी। उनका विवाह संपन्न हो गया, परन्तु पति पत्नी दोनों ने यह समझौता कर लिया कि एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करेंगे। जब काश्यप के माता-पिता का देहान्त हो गया तब वे दोनों संसार से निवृत्त हो गए और दोनों ने दो भिन्न मार्ग पकड़े। ब्राह्मण मुनि होने के कारण काश्यप का मन शरीर और आत्मा की एकता और दोनों के भेद के विषय मे अत्यन्त संशयग्रस्त हो रहा था। उधर उनकी पत्नी एक नास्तिक-संघ मे सम्मिलित हो गई। काश्यप एक ऐसे गुरु की खोज मे थे जो उनके संदेहों का निवारण कर सके। वे शाक्य मुनि की शांत एवं गंभीर आकृति से बहुत प्रभावित हुए और बड़ी श्रद्धा के साथ उनके निकट गए। उन्होंने अपने संदेहों के निवारणार्थ उनसे सहायता की प्रार्थना की। बुद्ध ने भी उन्हें सर्वथा योग्य तथा उन सब गुणों से संपन्न पाया जो उनके सच्चे शिष्य बनने के लिए आवश्यक थे। बुद्ध ने उनका स्वागत किया और 'सम्यक् प्रहाण' का चतुःसूत्री उपदेश दिया जिसके ये चार अंग हैं—(१) वर्त्तमान पापों को नष्ट करना, (२) भविष्य मे उनकी वृद्धि न होने देना, (३) वर्त्तमान पुण्यों की रक्षा करना और (४) जहां तक हो सके उनकी वृद्धि करना। इसके अतिरिक्त उन्होंने विनय के नियमों के पालन के महत्त्व तथा इंद्रियों और इंद्रियगत अनुभवों के नियंत्रण पर, सांसारिक पदार्थों के गुणों के ग्रहण न करने पर तथा अंत मे चार सत्यों पर अपने व्याख्यान दिए। काश्यप ने शरीर और आत्मा के संबंध मे अपने पुराने विश्वासों को त्याग दिया और उन्हें विश्वास हो गया कि मानव-जीवन के दुःखों का अंत विनय के नियमों के समुचित पालन द्वारा किया जा सकता है। इसके साथ ही उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि विनय के नियमों के अभ्यास को दुःखों के निवारण का हेतु नहीं मानना चाहिए। उन्होंने दस 'कुशलों'[1] और दस 'अकुशलों' की शिक्षा के महत्त्व को समझा। वे तीन दोषों (आस्रवों[2]) तथा राग, द्वेष एवं मोह से मुक्त हो गए और उन्हें अर्हत् पद प्राप्त हुआ। उन्हें 'मैत्री', 'करुणा', 'मुदिता' और 'उपेक्षा' (उपेक्खा) रूप ब्रह्म-विहार भी प्राप्त हुए और उन्होंने अरूप ब्रह्मलोक मे जन्म पाने

१. दस कुशल ये हैं—हिंसा, चोरी, बुरे आचरण, असत्य, कठोर वचन, परनिंदा, असंगत भाषण, लोभ, द्वेष और कुविचारों से बचना।

२. काम, भव, अविद्या।

की कामना नही की, जिसके कि वे अधिकारी थे। पाली अनुश्रुति मे बुद्ध के महाकाश्यप से वस्त्र-परिवर्तन को बहुत महत्त्व दिया गया है। कहा गया है कि एक दिन बुद्ध एक वृक्ष के नीचे कठोर धरती पर बैठने जा रहे थे उस समय महाकाश्यप ने अपने कोमल सूती वस्त्र को चौपर्त कर उसे बुद्ध के बैठने के लिए गद्दी की तरह धरती पर बिछा दिया। बुद्ध को उसका कोमल स्पर्श अच्छा लगा और काश्यप की प्रार्थना पर वे अपने खुरदुरे साण वस्त्र को काश्यप के सूती वस्त्र से बदलने को तैयार हो गए। बुद्ध ने उन्हे भिक्षुओ (धुतवादो) मे श्रेष्ठ कहकर उनकी प्रशसा की। काश्यप की पत्नी भद्रा कपिलानी भी राजगृह आई और नास्तिको के एक आश्रम मे ठहरी। वह बौद्ध-सघ मे प्रवेश नही पा सकी, क्योकि उस समय बुद्ध ने भिक्षुणियो के सघ-निर्माण की स्वीकृति नही दी थी। उनके स्वीकृति देने के कुछ समय बाद वह महाप्रजापति गौतमी के द्वारा भिक्षुणी बनाई गई और यथासमय उसे अर्हत् पद प्राप्त हुआ। बुद्ध ने उसे उन भिक्षुणियो मे सर्वश्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशसा की थी, जिन्हे अपने पूर्व जन्म की बाते स्मरण थी।

बुद्ध का कपिलवस्तु मे आगमन

जब बुद्ध राजगृह मे ठहरे हुए थे उस समय राजा शुद्धोदन ने अपने प्रधान पुरोहित के पुत्र उदायी को, जिसका जन्म राजकुमार सिद्धार्थ के ही जन्म के दिन हुआ था, छदक और अन्य राजपुरुषो के साथ बुद्ध के पास उन्हे कपिलवस्तु मे बुलाने के लिए भेजा। कालुदायी और उसके साथी बुद्ध के पास गए और उनके उपदेशो को सुनकर उनके मन मे श्रद्धा उत्पन्न हुई। उचित अभ्यास के द्वारा यथासमय उन्हे अर्हत् पद प्राप्त हुआ। उन्होने बुद्ध को राजा की इच्छा से अवगत कराया। बुद्ध ने निमत्रण स्वीकार कर लिया और साठ दिन मे १८० मील पैदल चल कर वे राजगृह से कपिलवस्तु गए और वहाँ से अनतिदूर न्यग्रोध की पहाडी पर ठहरे। बुद्ध के सघ का यह दूसरा वर्ष था।

राजा राजकुमार (अब सन्यासी) का यथोचित स्वागत करने के लिए अपने बहुत से परिचरो को साथ लेकर न्यग्रोध पहाडी की ओर चले। जब वे पहाडी के निकट पहुँचे तो चिर वियोग के बाद अपने प्रिय पुत्र को देखने की आशा मे उनका हृदय आनद से उछलने लगा, और जब उन्होने सिर के चारो ओर प्रभामडल से युक्त बुद्ध को पीत-वस्त्रधारी भिक्षुओ के बीच बैठे हुए देखा तब उन्हे बडा आश्चर्य हुआ। परन्तु अपने पुत्र की शात और गभीर मुद्रा को देखकर उनका सारा आनद फीका पड गया। बुद्ध, पिता

और पुत्र के उस पुनर्मिलन के अवसर पर प्रेम अथवा आनंद के भावो से सर्वथा शून्य होकर अपने स्थान पर बैठे रहे। उनके निकट जाने पर उनके पिता शुद्धोदन की वैसी ही दशा हुई जैसी उस प्यासे मनुष्य की होती है जो पानी की खोज मे भटकता है परन्तु पानी सामने ही रखा मिल जाने पर उसे पी नही सकता। वे अपने मन मे इस प्रकार सोचने लगे—'कितना महान् पुत्र मुझे मिला, जिसके शरीर मे सपूर्ण जबूद्वीप का चक्रवर्ती सम्राट् होने के सभी शुभ लक्षण विद्यमान है, परन्तु हाय! अब यह द्वार-द्वार भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह कर रहा है!' भगवान् ने उनके भावो को तुरत जान लिया और उन्हे यह विश्वास दिलाने के लिए कि वे चक्रवर्ती राजा से भी महान् है, वे आकाश मे ऊपर उठ गए और वहा इस प्रकार इधर से उधर टहलने लगे जैसे ठोस धरती पर चल रहे हो। फिर वे धरती के भीतर इस प्रकार धँसे जैसे नदी के पानी मे डुबकी लगा रहे हो। इन चमत्कारो के प्रदर्शन का राजा और उनके साथ के अन्य शाक्यो के मन पर बडा अनुकूल प्रभाव पडा।

जब राजा का हृदय आनद से पूर्ण हो गया और अपने पुत्र के प्रति उनके मन मे आदर-भाव उत्पन्न हुआ तो भगवान अधर मे लटकते हुए एक कमल-पुष्प के सिहासन पर आसीन हुए और राजा को उपदेश दिया। पहले उन्होने उनसे अपने प्रगाढ पुत्र-स्नेह को त्याग देने के लिए कहा क्योकि वह एक के बाद एक करके उनके शोको को उत्पन्न करनेवाला था। फिर उन्हे बतलाया कि मनुष्य का शोक या हर्ष उसके देह, वाणी एव मन के द्वारा किए गए कर्मों पर निर्भर है। उन्होने कहा कि एक चक्रवर्ती राजा अथवा स्वर्ग के शासक इद्र का सुख भी क्षणिक तथा एक विषैले सर्प अथवा धधकती हुई ज्वाला के समान भय एव विपत्ति का घर है और यही कारण है कि बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे सुखो को त्याग कर ऐसे विश्राम और शाति के स्थान की खोज करता है जहाँ उसकी रक्षा के लिए सेना, शस्त्र अथवा हाथी-घोडो की आवश्यकता नही होती। इन उपदेशो को सुनकर राजा के मन की स्थिति बदल गई और उन्हे बोध हो गया कि उनके पुत्र ने वह पद प्राप्त कर लिया है जो चक्रवर्ती के पद से कही ऊँचा है। तब उन्होने भगवान और उनके सघ के प्रति अपना आदर-भाव प्रकट किया।

दूसरे दिन भगवान् भिक्षाटन करते हुए मध्याह्न के पूर्व नगर मे पहुँचे। उस समय कपिलवस्तु के सकल पुरवासी, विशेषत स्त्रियाँ, राजकुमार के भव्य रूप का दर्शन करने की अभिलाषा से समूह की समूह अपने-अपने द्वारो और गवाक्षो पर आ जुटी। राजकुमार धीर-गभीर गति से चले जा रहे थे, परन्तु उनकी आँखे धरती पर ही गडी हुई थी। वे सब महाश्रमण के भव्य तेजस्वी रूप को देखकर मुग्ध हो गई और मन ही मन

बिसूरने लगी कि एक राजकुमार, जिसे सुसज्जित राजरथ पर सुंदर बहुमूल्य छत्र के नीचे चलना चाहिए था, आज हाथ में भिक्षापात्र लिये तपती धूप में धूलभरी सड़कों पर नंगे पाँवों पैदल जा रहा है। सबसे अधिक दुःख राहुल की माता यशोधरा को हुआ, जिसे अपने राजकुमार पति का द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँगना बहुत बुरा लगा। वह दौड़ी हुई अपने श्वसुर राजा शुद्धोदन के पास गई और उनसे राजकुमार को इस कार्य से विरत करने की प्रार्थना की। राजा ने बहुत प्रयत्न किया कि महाश्रमण भिक्षा माँगना छोड़ दें। परंतु वे दाता के संबंध में उसके धनी वा दरिद्र अथवा उच्च वा नीच होने का कोई विचार किए बिना, जो कुछ उससे प्राप्त हो जाय उसी से जीवन-निर्वाह करने के अपने दृढ़ निश्चय पर अटल रहे।

भगवान् ने धर्म के अनेक उपदेश दिए, जिससे राजा शुद्धोदन रानी महाप्रजापति सहित उनके परम भक्त हो गए।

यशोधरा—जब सभी शाक्य पुरुष और स्त्रियाँ बुद्ध के प्रति अपना आदर प्रदर्शित कर रही थीं उस समय यशोधरा अपने प्रकोष्ठ के बाहर नहीं निकली। बुद्ध स्वयं अपने दो मुख्य शिष्यों के साथ उसके पास गये और उन्हें राजा शुद्धोदन से ज्ञात हुआ कि जब से उन्होंने (बुद्ध ने) गृह त्याग किया तभी से वह केवल एक पीत वस्त्र धारण कर तथा दिन में केवल एक बार आहार ग्रहण कर कठोर तपस्या का जीवन व्यतीत कर रही थी। बुद्ध ने इसपर उसकी प्रशंसा करते हुए उसके पूर्व जन्म की एक कथा सुनाई जिससे प्रकट होता था कि पूर्व जन्म में भी वह बोधिसत्त्व से कितना अधिक प्रेम करती थी। जब बुद्ध उसके प्रकोष्ठ से बाहर आए तो उसने राहुल को अपने पिता के साथ जाकर उनसे अपना पैतृक दाय माँगने की आज्ञा दी। राहुल अपने पिता के पीछे-पीछे उनके आश्रम तक गया और वहाँ बुद्ध के आदेश से सारिपुत्त ने उसे बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। उसके बाद जब महाप्रजापति ने भिक्षुणी-संघ की स्थापना की तब यशोधरा भी भिक्षुणी हो गई और उसे छः उच्च शक्तियाँ (अभिज्ञा) प्राप्त हुईं।

बुद्ध के प्रति राजा शुद्धोदन की निष्ठा देखकर सभी शाक्य उनके प्रति श्रद्धावान् हो गये और विशिष्ट शाक्य-कुलों के कुछ युवकों ने बुद्ध का शिष्य होने और भिक्षु-संघ में प्रविष्ट होने की इच्छा प्रकट की। उनमें आनंद, अनुरुद्ध, भद्दिय, कंबिल, नंद और देव-दत्त भी थे। राजपुरोहित का पुत्र उदायी तो पहले ही भिक्षु और अर्हत् हो चुका था, छंदक और उपालि ने भी शाक्य राजकुमारों का अनुसरण किया और वे भिक्षु-संघ में सम्मिलित हो गए। बुद्ध ने अनुपिय वन में स्वयं उन सबको दीक्षित किया। राज-कुमार सिद्धार्थ का एक मात्र पुत्र राहुल भी श्रमण बना लिया गया।

आनंद——आनंद राजा शुद्धोदन के भाई अमितोदन का पुत्र था। वह पुण्ण मंतानी-पुत्त के उपदेश श्रवण कर स्रोतापन्न हुआ था। भिक्षु-संघ की स्थापना के बीसवें वर्ष बुद्ध ने उसे अपना सेवक बना लिया और वह पचीस वर्ष तक उनकी सभी प्रकार की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए उनकी सेवा में तत्पर रहा। आनंद के पहले उपवान उनकी सेवा किया करता था।

अनुरुद्ध——अनुरुद्ध शुद्धोदन के दूसरे भाई द्रोणोदन का पुत्र था। उसे बहुत शीघ्र दिव्य चक्षु प्राप्त हो गए थे। सारिपुत्त ने उसे ध्यानयोग की शिक्षा दी थी और बुद्ध की सहायता से उसे अर्हत् पद प्राप्त हुआ था। वह प्राय निरंतर बुद्ध के साथ रहा। बुद्ध उसे दिव्य चक्षु प्राप्त करनेवालों में श्रेष्ठ मानकर उसकी प्रशंसा करते थे।

भद्दिय——भद्दिय एक प्राचीन अभिजात शाक्य कुल में उत्पन्न हुआ था और अनुरुद्ध का परम मित्र था। अनुरुद्ध की माता उसे भिक्षु-संघ में सम्मिलित नहीं होने देना चाहती थी, तब भद्दिय के ही यह प्रतिज्ञा करने पर कि वह अनुरुद्ध के साथ रहेगा, उसने अनुरुद्ध को अनुमति दी थी। भद्दिय ने दीक्षित होने के कुछ ही मास के अनंतर अर्हत् पद प्राप्त किया था।

नंद——नंद राजा शुद्धोदन और रानी महाप्रजापति का पुत्र था। कपिलवस्तु में बुद्ध के अभ्यागमन के तीसरे ही दिन उसके राज्याभिषेक और विवाह की तिथि नियत थी। बुद्ध उसके घर भिक्षा माँगने गए, परंतु जब राजकुमार नंद ने उनका भिक्षा-पात्र भर दिया तो उन्होंने उसे अपने हाथ में नहीं लिया। उनके प्रति श्रद्धाशील होने के कारण राजकुमार ने भी उनसे उसे ले जाने को नहीं कहा। अत उस भिक्षापात्र को लेकर नंद को उनके साथ विहार तक जाना पड़ा जहाँ बुद्ध ने उसे गृह त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करने का का उपदेश दिया। राजकुमार नंद का मन अपनी भावी पत्नी जनपद-कल्याणी में बसा हुआ था, इस कारण वह भिक्षु होना नहीं चाहता था। उसका मन परिवर्तित करने तथा सांसारिक जीवन की अस्थिरता को सिद्ध करने के लिए बुद्ध ने कुछ अप्सराएँ उत्पन्न की, जिनकी सुंदरता जनपदकल्याणी से कहीं बढ़कर थी। उनमें से एक इस शर्त पर नंद को देने को कहा कि वह भिक्षु बन जाय और उनके उपदेशों के अनुसार अभ्यास और आचरण करे। राजकुमार नंद सहमत हो गया और कुछ ही समय में कठिन परिश्रम के द्वारा उसने अपनी गृह-जीवन की दुर्बलताओं से मुक्त होकर अर्हत् पद प्राप्त किया।

देवदत्त——देवदत्त शाक्य सुप्पबुद्ध (बुद्ध के मामा) का पुत्र और यशोधरा का भाई था। दीक्षित होने के कुछ ही समय के बाद उसने कुछ अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर लीं,

जिनके द्वारा वह अजातशत्रु का समर्थन प्राप्त करने मे समर्थ हुआ। बुद्ध के सघ के सैतीसवे वर्ष उसे बुद्ध के सुयश से द्वेष हो गया और वह उनका शत्रु हो गया (देखिए आगे पृ० ८८-९०)।

उपालि—उपालि, जो विनय के नियमो का मानो आश्रय-स्थान था और बुद्ध के प्रधान शिष्यो मे से अन्यतम था, कपिलवस्तु के एक नाई परिवार मे उत्पन्न हुआ था। वह शाक्य युवको के साथ अनुपिय वन गया था और उनकी दीक्षा के समय उनके त्यागे हुए सब आभूषण उसे प्राप्त हुए थे। उसे लेने से उसका मन हिचका और उसने भिक्षु बनने का निश्चय कर लिया। बुद्ध ने शाक्य राजकुमारो की कुलीनता का अभिमान तोडने के लिए उस नाई को सबसे पहले स्वय दीक्षा दी, क्योंकि भिक्षु के रूप मे उसके उन सबसे ज्येष्ठ होने के कारण उन्हे उसका अभिवादन करना पडा। विनय के पडितो मे श्रेष्ठ होने के कारण बुद्ध उसकी प्रशसा करते थे। बुद्ध के जीवन-काल मे भी वह भिक्षुओ को विनय की शिक्षा देता था और विनय के नियमो एव उनकी व्याख्या के सबध मे सर्वोपरि प्रमाण माना जाता था।

छदक—छदक राजकुमार सिद्धार्थ का परिचारक और सारथी था। जब बुद्ध का कपिलवस्तु मे प्रथम बार अभ्यागम हुआ उस समय वह भिक्षु-सघ मे सम्मिलित हो गया।

राहुल—राहुल जब सात वर्ष के बालक थे तभी श्रमण बना लिए गए थे। वे स्वय बुद्ध की तथा उनके प्रधान शिष्यो की निरतर देखरेख मे रखे जाते थे। कहा जाता है कि एक बार इस नियम का पालन करने के लिए कि पूर्ण दीक्षित भिक्षुओ को श्रमणो के साथ एक ही कमरे मे नही सोना चाहिए, राहुल ने एक रात बुद्ध के शौचालय के आगन मे सो कर बिताई थी। बुद्ध ने जब उन्हे प्रात काल वहाँ सोते पाया तो वे बहुत अप्रसन्न हुए और राहुल के शिक्षकों—सारिपुत्त और मोग्गलायन—को आदेश दिया कि वे श्रमण के जीवन की सामान्य आवश्यकताओ का ध्यान रखा करे।[1] भिक्षुओ द्वारा अपने प्रति पक्षपात किए जाने पर राहुल सदा उससे अपने को बचाते थे। अठारह वर्ष के होने पर उन्हे उच्चतर शिक्षा दी गई और कालातर मे उन्होने अर्हत् पद प्राप्त किया।[2] साधको मे सर्वोत्तम कहकर बुद्ध उनकी प्रशसा करते थे।

अनाथपिंडिक—कपिलवस्तु से प्रत्यागत होने पर जब बुद्ध राजगृह के सीमावर्ती

१. जातक, सं० १६।
२. मज्झिम निकाय, राहुलवाद सुत्त।

सीतावन चैत्य मे ठहरे हुए थे उस समय सुदत्त नाम का कोमल का एक असाधारण धनी श्रेष्ठि राजगृह आया और अपने मित्र, मगध के एक श्रेष्ठि, के घर ठहरा। उसे वहाँ ज्ञात हुआ कि प्रसिद्ध महात्मा शाक्यमुनि सीतावन मे ठहरे हुए है। उसके मन मे उनके प्रति बडी श्रद्धा थी, अत. वह उनके दर्शनो के लिए अधीर हो उठा। वह रात्रि मे बुद्ध की सेवा मे उपस्थित हुआ, जिन्होने उसे उसका नाम लेकर सम्बोधित किया और कहा कि तुमने अच्छा किया कि अपनी निद्रा को वश मे करके हमारे धार्मिक उपदेश सुनने के लिए आए।

बुद्ध ने उससे कहा कि 'तुम्हारे सपूर्ण धन-वैभव और यश तथा मेरे प्रति तुम्हारी श्रद्धा और विश्वास का कारण तुम्हारे पूर्व जन्म मे किए गए पुण्य कर्म है। मै तुम्हे शील और त्याग-धर्म का उपदेश करूँगा जिससे तुम्हे दिव्य जीवन प्राप्त होगा, परतु उसमे दु ख का अभाव नही होगा। अत यह जानकर कि सासारिक पदार्थों की कोई स्थायी सत्ता नही है और वे केवल कुछ क्षणभगुर तत्त्वो और गुणो के समवाय है, तुम्हे उस अवस्था को प्राप्त करने मे प्रवृत्त होना चाहिए जिसमे जन्म, जरा, रोग और मृत्यु जनित दु खो का सर्वथा अभाव है।' उन्होने इस प्रकार की युक्तियाँ उपस्थित की कि सर्वशक्तिमान् एव विश्व के स्रष्टा ईश्वर मे विश्वास तर्कसगत नही है, क्योंकि यदि ऐसा कोई ईश्वर होता तो उसके द्वारा उत्पन्न किये गये जीवो को दु ख न भोगना पडता। भला कौन पिता चाहेगा कि उसकी सतान दु ख भोगे? यदि ईश्वर स्रष्टा है तो उसे अपनी सृष्टि-रचना का कार्य बद न करके बराबर करते रहना चाहिए, सृष्टि को अपने-आप विकसित होने के लिए नही छोड देना चाहिए। यदि सब जीव ईश्वर द्वारा उत्पन्न किये हुए होते तो कर्मों और उनके परिणामो मे बुरे और भले का भेद न होता। यदि सभी जीव उस ईश्वर मे अभिन्न हो तो जीवो द्वारा किए गए सभी कर्म उसी के कर्म हुए। यदि यह तर्क उपस्थित किया जाय कि ससार की सत्ता का कारण ईश्वर नही, प्रकृति के नियम (स्वभाव) है, तो यह भी सिद्ध नही हो सकता, क्योंकि जड कारण से चेतन कार्य (जीव) की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यह सर्वथा तर्क-विरुद्ध है कि कार्य अपने कारण से नितात भिन्न हो। और भी, यदि सभी पदार्थ 'स्वभाव' से उत्पन्न हुए है तो उससे मुक्ति पाने का प्रयत्न अनावश्यक है। दु ख और सुख दोनो एक साथ नही हो सकते। इसी प्रकार आत्मा से भी ससार की उत्पत्ति असिद्ध की जा सकती है। आत्मा सृष्टि का कर्ता हो नही सकता। कारण कि सुख और दु:ख की स्वतत्र सत्ता तो है नही, उन्हे भी आत्मा से उत्पन्न मानना पडेगा, और आत्मा भला दु ख क्यो उत्पन्न करने लगा? दु ख और सुख को उत्पन्न करनेवाले आत्मा नही,

मनुष्य के अपने ही कर्म हैं। संसार के समस्त सत्तावान् पदार्थ बिना किसी कारण उत्पन्न नहीं होते और न वे असत् या अभाव से ही उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में, समस्त पदार्थ निश्चय ही किसी-न-किसी कारण से उत्पन्न होते हैं।

बुद्ध की इन युक्तियों को सुनकर अनाथपिंडिक का हृदय नम्र और मृदुल हो गया। उनके उपदेशों का उच्च आशय उसकी समझ में भली भाँति आ गया। तब उसने निवेदन किया––'मैं श्रावस्ती का निवासी हूँ, जो धन-धान्य से पूर्ण है और जहां लोग शांति-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। देश का राजा सिंहवंशीय प्रसेनजित् बड़ा उदार और यशस्वी है। मेरी इच्छा है कि मैं भगवान् के निमित्त वहां एक विहार का निर्माण कराऊं। यद्यपि मैं जानता हूं कि भगवान् के लिए किसी निवासस्थान की आवश्यकता नहीं है, परन्तु मेरी विनीत प्रार्थना है कि नगरवासियों के कल्याण के लिए भगवान् उसे स्वीकार करने की कृपा करें।' उसकी प्रार्थना निर्दोष एवं निःस्वार्थ होने के कारण बुद्ध उससे प्रभावित हुए और कहा––'धन चंचल होता है, अतः कृपण बनकर उसे संचित रखने और सदा उसकी रक्षा की चिंता में पड़े रहने की अपेक्षा मनुष्य के लिए यही उत्तम है कि वह उसका त्याग करे। दानी पुरुष सभी के प्रिय होते हैं और सभी श्रेष्ठ और सज्जन व्यक्ति उसके मित्र बनना चाहते हैं। उसे कभी भय और पश्चात्ताप नहीं होता। वह कभी निम्न योनियों में जन्म नहीं लेता। निश्चय ही इस जीवन के बाद वह देवलोक में जन्म पाता है। वह ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध को त्यागकर मानसिक शांति का अनुभव करता है और ध्यान के अभ्यास द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य पौधा रोपता है और उसके बढ़कर वृक्ष हो जाने पर उससे छाया, फूल और फल प्राप्त करता है उसी प्रकार दानी पुरुष का दान उसे आनंद, सौंदर्य, प्रचुर भोजन-वस्त्र तथा अंत में निर्वाण से पुरस्कृत करता है। दान का एक सर्वोत्तम प्रकार विहारों का निर्माण है और इस दान का दूना फल होता है।

जेतवन––सारिपुत्त को श्रावस्ती में प्रस्तावित विहार के लिए एक उपयुक्त स्थल चुनने का भार सौंपा गया। उनके साथ अनाथपिंडिक एक सुंदर स्थल की खोज में निकला और राजकुमार जेत का वन उसे जंच गया। राजकुमार जेत को अपना वन बहुत प्रिय था, अतः उसने कहा मैं उसे तभी दे सकता हूं जब उसका जितना मूल्य है उसे स्वर्ण-मुद्राओं से ढक दें। अनाथपिंडिक इससे बहुत प्रसन्न हुआ और गाड़ियों में स्वर्ण-मुद्राएँ भर-भर कर वन में उतारने लगा। तब राजकुमार जेत ने कहा 'मैं वस्तुतः इस भूमि को बेचना नहीं चाहता।' अतः यह विवाद न्यायालय में उपस्थित किया गया। जब राजकुमार को विदित हुआ कि वह भूमि बुद्ध और उनके शिष्यों के लिए विहार बनवाने के प्रयोजन

से ली जा रही है तो उसने कहा कि 'मैं केवल आधी स्वर्णमुद्राएँ वन की भूमि के लिए लूंगा और वृक्ष मेरी ही सपत्ति रहेंगे।' बुद्ध का नाम सुनकर उसे भी श्रद्धा हो गई और उसकी इच्छा उन वृक्षों को अपनी ओर से बुद्ध को भेंट करने की हुई। तब बुद्ध और सघ के प्रतिनिधि सारिपुत्त को अनाथपिंडिक ने जेतवन की भूमि का और राजकुमार जेत ने उसके वृक्षो का दान करने का सकल्प किया। तब सारिपुत्त के अधीक्षण मे स्थपतियो ने दिनरात परिश्रम करके विशाल शालाओ का निर्माण किया, जो सुदरता मे राजप्रासादो से भी बढकर थी। यह विहार लोक मे बहुत प्रसिद्ध हुआ और श्रावस्ती के पथो और वीथियो मे सर्वत्र पीत-वस्त्रधारी भिक्षु दिखलाई पडने लगे।'

राजा प्रसेनजित्—बुद्ध जब कपिलवस्तु से श्रावस्ती गए तो नगर फूलो और फोव्वारो से सजाया गया और सुदर पक्षियो के मधुर कलरव से नगर की शोभा अत्यत आकर्षक हो गई। जेतवन विहार एक खूब सजाए हुए राजप्रासाद-सा दिखाई पडता था और उसमे चारो ओर पुष्पो तथा धूप की सुगध फैल रही थी। वह सब प्रकार से भगवान् बुद्ध के निवास के योग्य बनाया गया था। बुद्ध के वहा पधारने पर अनाथ-पिंडिक ने एक सर्पाकृति स्वर्णपात्र से जल ढार कर बुद्ध और उनके चतुर्दिक्व्यापी सघ को भूमिसहित उस जेतवन विहार का दान कर दिया।

नगर मे बुद्ध के आगमन का समाचार पाकर राजा प्रसेनजित् अपने परिजनो और परिचरो सहित तुरत विहार मे गए और उन्हे आदरपूर्वक प्रणाम करके कहा कि यह मेरा परम सौभाग्य है कि भगवान् बुद्ध जैसे महात्मा के चरणो से मेरे राज्य की भूमि पवित्र हुई।'

बुद्ध ने लक्ष्य किया कि राजा का मन वैभव और विषय-भोगो मे रमता है अत उन्होंने उन राजाओ की चर्चा की जिन्हे अपने सत्कर्मो के द्वारा स्वर्ग प्राप्त हुआ अथवा

१. बुद्ध के विभिन्न जीवन-चरितो मे उनके कपिलवस्तु मे प्रथम अभ्यागम तक की घटनाओ के कालक्रम मे विशेष अंतर नही पाया जाता। उसके बाद, पाली ग्रंथो में यह लिखा मिलता है कि बुद्ध कपिलवस्तु से लौट कर राजगृह आये, जहाँ अनाथपिंडिक से उनकी पहली भेंट हुई और उन्होने उसका श्रावस्ती जाने का निमत्रण स्वीकार किया। परतु सस्कृत ग्रथो के अनुसार बुद्ध से अनाथपिंडिक की भेंट उनके कपिलवस्तु जाने के पहले ही हुई और बुद्ध कपिलवस्तु से लौटकर श्रावस्ती गये जहाँ उन्होने तीसरा चौमासा बिताया। पाली ग्रथो में कहा गया है कि बुद्ध ने दूसरी, तीसरी और चौथी वर्षाएँ (वस्सा) राजगृह में बिताई।

पापों के कारण नरक भोगना पड़ा था। उन्होंने उन्हें प्रजा पर अत्याचार न करने, जीव-हिंसा से विरत होने, अपनी इंद्रियों को वश में करने और अधर्मपूर्ण विधियों का त्याग कर सन्मार्ग पर चलने का, तथा कष्टमय तपों और व्रतों का प्रचार एवं मिथ्या विचारों का प्रतिपादन करनेवाले पाखंडी गुरुओं से बचते रहने का उपदेश दिया। उन्होंने राजा से राजधर्म का पालन करने, अपने को दूसरों से बहुत बड़ा न समझने, अपनी बुद्धि से विचार कर कार्य करने तथा सांसारिक पदार्थों की अनित्यता पर गंभीरता-पूर्वक विचार करने का अनुरोध किया। आगे उन्होंने उन्हें यह भी समझाया कि मनुष्य अपने कर्मों के फल से कभी बच नहीं सकता, वह जो बोयेगा वही उसे काटना पड़ेगा। धतूरे के पेड़ में से गेहूँ के दाने नहीं पा सकता। जन्म, जरा, रोग और मृत्यु की अचल-अलंघ्य दीवार के घेरे में मनुष्य बंदी है, वह उसमें से निकलकर भाग नहीं सकता। इस पृथ्वी पर एक सिकता-कण से लेकर सुमेरु पर्वत तक तथा एक लघु कीट से लेकर अल्प-लोक के जीवों तक सभी नाशवान् हैं। बुद्धिमान् पुरुष जगत् के इस मिथ्या और अनित्य रूप को तथा सदा मृत्यु के समान दुःख देनेवाले दुःख की सत्ता को जानकर सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने और उसके द्वारा जन्म-मरण के चक्र तथा तज्जनित उन दुःखों से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है।

इसमें संदेह है कि बुद्ध के इन उपदेशों का राजा पसेनदि के मन पर कोई प्रभाव पड़ा, क्योंकि न तो ब्राह्मणों के यज्ञों और कर्मकांड पर से उसका विश्वास हटा, न उन नास्तिक गुरुओं के प्रति उसके आदर-भाव में कोई कमी हुई जिन्हें बुद्ध ने अधर्म-मार्ग का प्रदर्शक बतलाया था। इसके विपरीत, उस राजा की यह इच्छा थी कि वे मिथ्याचारी गुरु गौतम बुद्ध के यश को उन अलौकिक शक्तियों के प्रदर्शन द्वारा अपकर्षित करें जो साधारण लोगों के लिए धार्मिक वा दार्शनिक शास्त्रार्थों की अपेक्षा अधिक रुचिकर थीं।

बुद्ध और उनके संघ की लोकप्रियता के बढ़ने के साथ-साथ उन मिथ्याचारी धर्म-गुरुओं और उनके अनुयायियों का प्रभाव सर्वसाधारण पर से अनुदिन घटता जा रहा था। पाली ग्रंथों में बुद्ध और उनके शिष्यों द्वारा उन गुरुओं के पराभव की कुछ कथाएँ मिलती हैं।

पहली कथा के अनुसार राजगृह के एक धनी सेठ (सेट्ठि) ने एक बहुत लंबे बाँस के ऊपरी सिरे पर एक लाल चंदन का कटोरा रखकर यह घोषणा की कि कटोरा उस मुनि या संन्यासी को दिया जायगा जो हवा में ऊपर उठकर उसे ले सके। मिथ्याचारी

मुनियों में से किसी में इतनी शक्ति न थी, अत वे निराश हो गए। उस समय पिंडोल भरद्वाज उधर के मार्ग से जा रहे थे। उन्होंने अपने एक भक्त के द्वारा उस घोषणा की बात सुनी और बुद्ध तथा संघ की महत्ता स्थापित करने के लिए वे आकाश में उड़ते हुए गये और उस कटोरे को ले लिया। जब बुद्ध के पास यह समाचार पहुँचा तो अपने शिष्यों द्वारा अलौकिक शक्तियों के प्रदर्शन को उन्होंने उचित नहीं समझा और सभी भिक्षुओं के लिए उसका निषेध कर दिया। परन्तु अपने को उन्होंने उस प्रतिबंध से मुक्त रखा और जब वे अपने धर्म के प्रचार के लिए आवश्यक समझते थे तो अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन करते थे।[1]

दूसरी कथा वैशाली में फैली हुई महामारी से संबंधित है, जिससे वहां के निवासियों के बचने का कोई उपाय संभव नहीं प्रतीत हो रहा था। वे अन्य सभी धर्मगुरुओं के पास गए, किंतु कोई भी उस भयंकर महामारी से उन्हें बचाने का उपाय न बता सका। अंत में वे बुद्ध के निकट गए जो उनके दुःख को दूर करने के उद्देश्य से वैशाली गए। जैसे ही वे नगर में प्रविष्ट हुए, महामारी बंद हो गई और वहां के निवासी स्वस्थ और आनंदित हो गए।

तीसरी कथा में सावत्थी में बुद्ध के द्वारा प्रदर्शित उस चमत्कार का उल्लेख है जिसमें उन्होंने कुछ ही क्षणों में एक आम का वृक्ष उगा दिया था और फिर उसी भांति आकाश में गमन किया था जैसे वे कपिलवस्तु में कर चुके थे। एक विशाल सभा में जिसमें राजा पसेनदि की प्रजा बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थी, उक्त चमत्कार का प्रदर्शन करने के बाद बुद्ध का यश फिर एक बार चमक उठा और मिथ्याचारी मुनियों को विशाल जन-समूह के समक्ष उनसे पराभूत होना पड़ा।

अलौकिक शक्तियों की प्रतियोगिता में बुद्ध की समता न कर सकने पर उन्होंने बुद्ध को दुष्ट उपायों से कलंकित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने चिंचा माणविका नाम की एक धूर्त किंतु सुंदर स्त्री को, जो उनके भक्तों में से थी, बुद्ध के चरित्र को लांछित करने के लिए नियुक्त किया। उसे आदेश दिया गया कि वह प्रतिदिन सायंकाल जेतवन विहार में जाया करे, रात्रि किसी दूसरे स्थान पर व्यतीत करे और प्रातःकाल यह प्रकट करे कि वह जेतवन से निकलकर आ रही है। चिंचा ने उनके आदेशों के अनुसार कार्य किया और कुछ समय के बाद जब बुद्ध एक बार धर्म का प्रवचन कर रहे थे उसी समय वह वहां गर्भवती होने का स्वांग करके उपस्थित हुई और लोगों से कहा कि यह गर्भ बुद्ध का है।

१. विनय० २, पृ० ११०।

उस स्त्री की ऐसी धूर्तता देखकर इद्र के हृदय को बड़ा आघात लगा और उसने उपस्थित जनसमूह के समक्ष यह सिद्ध करके कि यह वस्तुत गर्भवती नही है, उसकी सारी दुष्टता प्रकट कर दी। उसके बाद लोगो ने उसे खूब पीटा और अत मे अपने दुष्कर्म के फलस्वरूप वह भयकर अग्नि मे जल मरी।

महाप्रजापति—जब बुद्ध श्रावस्ती मे ठहरे हुए थे, उन्ही दिनो शाक्यो और कोलियो मे बड़ा कटु विवाद हो गया। इन दोनो जातियो मे एक से पिता के नाते और दूसरी से माता के नाते बुद्ध का घनिष्ठ सबध था। विवाद रोहिणी नदी से पानी लेने के विषय म था। रोहिणी दोनो जातियो के राज्यो के बीच मे बहती थी। कोलियो ने एक बाँध बनाकर नदी के प्रवाह को रोक दिया और उसे अपने खेतो को सीचने के लिए मोड़ लिया। अन्न पकने के पहले केवल एक बार उन खेतो को सीचना आवश्यक था। शाक्यो ने उनकी आवश्यकता और उनके कहने-सुनने पर कुछ भी ध्यान नही दिया और कहा कि हम अपने पडोसियो से अन्न क्रय करने के लिए अपने शोणरत्नो, नीलमणियो और कार्षापणो को नष्ट नही करेंगे। दोनो पक्ष एक-दूसरे को गालियाँ देने और प्रत्येक के वश मे दोष दिखलाने लगे। झगड़ा यहा तक बढ़ा कि दोनो पक्ष रोहिणी के दोनो तटो पर आमने-सामने युद्ध के लिए आ डटे। बुद्ध की इच्छा नही थी कि उनके सबधी आपस मे लड़े और दोनो जातियो के लोग मारे जायं। इसलिए वे उस स्थान पर गए और व्याख्यान और दृष्टान्त के द्वारा उन्हे पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के कुपरिणामो से अवगत कराने का प्रयत्न किया। अपने व्यक्तिगत प्रभाव के द्वारा वे न केवल उस विवाद को शात करने मे सफल हुए अपितु उन्होने उनमे से अनेक को भिक्षु बनकर अपने सघ मे सम्मिलित होने के लिए तैयार कर लिया, जिसके कारण अनेक स्त्रियो को पतिविहीन होना पड़ा। वे सब स्त्रियाँ एकत्र होकर महाप्रजापति गोतमी के पास गईं और उससे एक भिक्षुणी-सघ स्थापित करने का आग्रह किया। जब बुद्ध प्रथम बार कपिलवस्तु गए थे तो [illegible] ने उनसे स्त्रियो के धार्मिक जीवन के लिए कोई व्यवस्था करने की प्रार्थना की थी, परन्तु यह इस आधार पर अस्वीकृत हुई थी कि स्त्रियाँ गृहस्थ-जीवन के लिए अधिक योग्य है और उन्हे गृहस्थी मे ही उपासिका बनकर पुण्य-सचय करना चाहिए।

अपने बुद्धत्व के पाचवे वर्ष, जब बुद्ध वैशाली मे ठहरे हुए थे तो उन्हे मृत्युशय्या पर पड़े हुए राजा शुद्धोदन को देखने के लिए वहाँ से कपिलवस्तु जाना पड़ा था। राजा की मृत्यु के पश्चात् वे वैशाली लौट आए और वही शोक से व्यथित महाप्रजापति गोतमी भी उन शाक्य और कोलिय स्त्रियो को साथ लिए जा पहुँची जिनके पति पहले

ही भिक्षु हो चुके थे। उन सबने सिर मुड़ाकर पीले वस्त्र पहिन लिए। महाप्रजापति ने पुन बुद्ध से भिक्षुणी-सघ बनाने की अनुमति देने के लिए प्रार्थना की। पहले तो उन्होंने अस्वीकार किया और कहा कि स्त्रियों को केवल साधारण भक्त बनकर रहना चाहिए, भिक्षुणी नहीं होना चाहिए। परन्तु अत मे आनद के कहने से उन्होंने अपना विचार बदल दिया और इस शर्त पर भिक्षुणी-सघ बनाने का सम्मोदन किया कि भिक्षुणियां उनके द्वारा अपने ऊपर लगाए गए आठ प्रतिबधों को स्वीकार करें।[1] महाप्रजापति ने अनिच्छापूर्वक उन प्रतिबधों को स्वीकार किया और भिक्षुणी-सघ का निर्माण किया, जिसमे ऐसी बहुत सी स्त्रियां सम्मिलित हुई जो वियोग के कारण व्यथित थीं या पारिवारिक जीवन से ऊब गई थीं, अथवा जिनके पति भिक्षु हो गए थे।

कहा जाता है कि बुद्ध ने अपनी छठी वर्षा मकुल की पहाड़ी पर बिताई। इस पहाड़ी की पहचान अभी तक नहीं हुई है और न किन्हीं धर्म-व्याख्यानों मे उनका उल्लेख हुआ है।[2] यह श्रावस्ती के निकट का कोई एकात स्थान हो सकता है जहां से बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग को गए थे।

१. वे आठ प्रतिबध इस प्रकार हैं—

(१) भिक्खुणी, चाहे वह कितनी भी ज्येष्ठ क्यों न हो, भिक्खु का सम्मान करे, किंतु भिक्खु कदापि भिक्खुणी का सम्मान न करे।

(२) भिक्खुणी किसी ऐसे विहार मे वस्सा (वर्षा) न बिताए जहां कोई भिक्खु न हो।

(३) भिक्खुणी प्रति पक्ष मे भिक्खुओं द्वारा भिक्खुणियों के उपदेश के लिए नियत दिन तथा उपोसथ की तिथि किसी भिक्खु से पूछ लिया करे।

(४) भिक्खुणी पहले भिक्खु-सघ मे, फिर भिक्खुणी-सघ मे 'पवारणा' अवश्य करे।

(५) भिक्खुणी पहले भिक्खु-सघ मे, फिर भिक्खुणी-सघ से मनत्त-अनुशासन अवश्य ग्रहण करे।

(६) भिक्खुणी भिक्खुणी-पतिमोक्ख के छः पचित्तिय नियमो (६३-६८) की शिक्षा के बाद क्रमशः दोनो संघो मे उपसपद प्राप्त करे।

(७) भिक्खुणी भिक्खु की निंदा कदापि न करे।

(८) भिक्खुणी कभी भिक्खु को उपदेश न दे, न भिक्खुओं के लिए उपोसथ या पवारणा की तिथि नियत करे।

२. यह सुनपरन्त का मंकुलाराम नहीं है।

सातवें बुद्ध-सवत् मे अपनी माता महामाया को उपदेश देने के लिए बुद्ध त्रयस्त्रिश स्वर्ग मे गए थे, जहा वह उस समय एक देवी के रूप मे रहती थी। पाली ग्रथो मे कहा गया है कि बुद्ध ने सातवी वर्षा वही व्यतीत की। 'धम्मसगनि' की टीका मे सुरक्षित पिछली अनुश्रुतियो मे कहा गया है कि मर्त्य होने के कारण बुद्ध को प्रतिदिन पृथ्वी पर भोजन के समय भोजन करने के लिए आना पडता था, जिसे सारिपुत्त उनके लिए प्रस्तुत करते थे। भोजन के अनतर वे प्रतिदिन सारिपुत्त को अपनी माता को दिए गए उपदेशो का सार बतला दिया करते थे। यह सार एक विषय-सूची (मातिका) के रूप मे था जिसे अभिधम्म पिटक के रूप मे विस्तारित कर सारिपुत्त ने अपने शिष्यो को प्रदान किया।

त्रयस्त्रिश स्वर्ग मे अपने उपदेशो का व्याख्यान समाप्त करने के बाद बुद्ध जबूद्वीप मे सांकाश्य (जिला फर्रुखाबाद) नामक स्थान पर आए। उनके अवतरण का दृश्य प्राचीन मूर्तिकारो का एक प्रिय विषय था, जिसमे वे पृथ्वी को स्पर्श करती हुई एक सीढी बनाकर व्यक्त किया करते थे।

बुद्ध आठवी वर्षा भग्ग देश मे (जहाँ कोशाबी के राजा उदेन के पुत्र बोधिराजकुमार ने उनका सत्कार किया) सुसुमार गिरि पर व्यतीत करने के बाद कौशाबी गए और नवी वर्षा वही व्यतीत की। दसवी वर्षा उन्होने वहा के निकटस्थ वन पारिलेय्यक मे बिताई। कोशाबी मे मुख्य घटना यह हुई कि धम्मकथिको के गुरु की किसी छोटीसी भूल पर वहाँ के धम्मकथिको और विनयधरो मे झगडा हो गया। झगडा यहाँ तक बढा कि बुद्ध के हस्तक्षेप करने पर भी दोनो पक्षो मे समझौता न हो सका। कौशाबी के भिक्षुओ और श्रमणो का ऐसा झगडालू स्वभाव देख बुद्ध को उनसे विरक्ति हो गई

१. किंतु एक ग्रथ, अभिधम्मपिटक का कथावत्थु, ऐसा है जो सारिपुत्त द्वारा निर्मित नहीं है। सर्वास्तिवादियो के अनुसार अभिधर्मपिटक के प्रत्येक ग्रथ के कर्ता अलग-अलग है जो इस प्रकार है--

(१) आर्य कात्यायनीपुत्र का जनप्रस्थान सूत्र, षट्पादो सहित,
(२) स्थविर वसुमित्र का प्रकरणपाद,
(३) स्थविर देवशर्मा का विज्ञानकाय,
(४) आर्य सारिपुत्त का धर्मस्कन्ध,
(५) आर्य मौद्गलायन का प्रज्ञप्ति शास्त्र,
(६) पूर्ण का धातुकाय,
(७) महाकौस्थिल का संगीति-पर्याय।

ओर वे पारिलेय्यक वन मे चले गए, जहा एक हाथी और एक बदर उनकी सेवा करते थे। बुद्ध का यह भाव देख कौशाबी के भिक्षुओ और श्रमणो को पश्चाताप हुआ और आपस मे मेल करके वे भगवान् के निकट क्षमा-प्रार्थना करने के लिए गए। इस अवसर पर बुद्ध ने भिक्षुओ के पारस्परिक कलह के कुपरिणामो के विषय मे उपदेश दिया।

कौशाबी से सबधित केवल एक कथा और प्रसिद्ध है। इसके अनुसार मागडिया के पिता ने अपनी सुदरी कन्या मागडिया का विवाह बुद्ध से करने का प्रयत्न किया था, यद्यपि उसकी माता ने, जो मनुष्य के लक्षणो का ज्ञान रखती थी, इस प्रयत्न का विरोध किया था। बुद्ध के उस विवाह-प्रस्ताव पर ध्यान न देने के कारण मागडिया ने उसे अपना अपमान समझा और उसने बुद्ध से प्रतिशोध लेने का निश्चय किया। अपने अतुल सौदर्य के कारण वह कोशाबी के राजा उदेन की रानी बनी और एक बार उसने षड्यत्र करके अपनी सपत्नी रानी सामावती को, बुद्ध के प्रति उसकी भक्ति होने के कारण, कलकित करने का प्रयत्न किया। परतु अत मे राजा को उसके घृणित उद्देश्य का पता लग गया।

ग्यारहवी वर्षा मे बुद्ध ने राजगृह के निकट ब्राह्मणो के एकनाला नामक ग्राम मे निवास किया। उस समय कृषि-भरद्वाज नामक एक सपन्न ब्राह्मण ने कृषि-पर्व मनाया। उसने इस अवसर पर बडी धमधाम से तैयारियाँ की, बहुत से बैल और हल एकत्र किए, उन्हे भली भाति सजाया और उत्सव मे सम्मिलित होनेवाले सहस्रो मनुष्यो को भोजन कराया। कृषि-भरद्वाज ने बहुत पुण्य अर्जित किए थे, और बुद्ध ने उसे बौद्ध धर्म मे दीक्षित करने के लिए इस अवसर को उपयुक्त समझा। अत वे उस स्थान पर गये जहा उत्सव मनाया जा रहा था और वहाँ एक ऊँचे टीले पर बैठ गए। उनकी देह से तेज की किरणे निकल रही थी। उनके दिव्य तेज को देख लोगो का ध्यान आकर्षित हुआ और वे जाकर उनके चारो ओर जुट गए और उन्हे प्रणाम किया। ब्राह्मण इससे अप्रसन्न हुआ और उसने यह कहकर बुद्ध का उपहास किया कि यह कोरा निठल्लू है, अपने पसीने की कमाई खानेवाला कृषक नहीं। बुद्ध ने उत्तर दिया कि मै भी कृषक हूँ, यद्यपि भिन्न प्रकार का। मेरा खेत धर्म है। उसमे से कामनाओ का वन काटकर उसे ज्ञान के हल से जोतना पडता है। उसमे शुचिता का बीज बोया जाता है और धार्मिक नियमो के पालन द्वारा उसका सिचन और पोषण किया जाता है। तब उसमे निर्वाण का शस्य उत्पन्न होता है। बुद्ध के इस उत्तर को सुनकर ब्राह्मण के मन मे अकस्मात् परिवर्तन हो गया और वह तत्काल भगवान् का अनन्य भक्त हो गया।

बुद्ध एकनाला छोडकर श्रावस्ती गए, जहाँ वेरज के कुछ ब्राह्मणो ने उन्हे निमत्रित

किया था। यह स्थान (=वैरभ, दक्षिण पचाल में) मथुरा के निकट था। बुद्ध ने निमत्रण स्वीकार कर लिया और वे वहाँ बारहवीं वर्षा में निवास करने के लिए गए। सर्वास्तिवाद की अनुश्रुति में कहा गया है कि बुद्ध वहा वैरभ के ब्राह्मण शासक राजा अग्निदत्त के निमत्रण पर गए। वहाँ ऐसा हुआ कि उस स्थान पर बुद्ध और उनके शिष्यों के निवास करने समय एक दुर्भिक्ष पडा और वहा के निवासी भिक्षुओं को भोजन नहीं दे सके। कहा जाता है कि अग्निदत्त के ब्राह्मण मत्री वहा बुद्ध का रहना पसद नहीं करते थे, और उन्हीं की कुमत्रणा से राजा अग्निदत्त ने अपनी प्रजा द्वारा भिक्षुओं को भोजन दिए जाने का निषेध कर दिया। सौभाग्य से घोडों के व्यापारियों का एक सार्थ उस समय उसी स्थान से होकर जा रहा था और वे अपने पास घोडों के लिए जौ लिए हुए थे। व्यापारियों ने उस अन्न की एक नियत मात्रा भिक्षुओं को दी जिससे वे भूखों मरने से बच गए। मौद्गलायन और बुद्ध के कुछ अन्य शिष्यों की इच्छा थी कि दिव्य शक्ति द्वारा अन्न प्राप्त किया जाय, परतु बुद्ध ने इसका निषेध कर दिया। कहा जाता है कि बुद्ध की एक स्त्री भक्त घोडों के खाने योग्य उस अन्न को छाट पीसकर उसे मनुष्यों के खाने योग्य बना दिया करती थी। विनय के इस नियम का पालन करने के लिए कि भिक्षुओं को वर्षा एक ही स्थान पर व्यतीत करनी चाहिए, भिक्षुओं ने उन अश्व-व्यापारियों द्वारा वर्षा-यापन के लिए दिए गए अन्न की परिमित मात्रा से किसी प्रकार अपना जीवन-निर्वाह किया। वर्षाकाल समाप्त होने पर राजा अग्निदत्त की बुद्धि ठिकाने आई। उसे अपनी भूल समझ में आ गई और पश्चात्ताप करते हुए उसने बुद्ध से उसके लिए क्षमा-प्रार्थना की। बुद्ध ने सहर्ष उसे क्षमा कर दिया और एक दिन उसका निमत्रण स्वीकार कर उसके यहाँ पधारे। उसके बाद बुद्ध और उनके शिष्य उस स्थान को छोडकर सोरेय्य, सकाश्य, कनौज और इलाहाबाद होते हुए बनारस पहुँचे।

महाकात्यायन—बनारस में निवास करते समय बुद्ध की भेंट महाकात्यायन से हुई, जो उनके अत्यत विशिष्ट शिष्यों में से अन्यतम थे। वे अवती के राजा चड प्रद्योत के राजपुरोहित के पुत्र थे। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वे अपने पिता के पद के अधिकारी हुए। राजा ने बुद्ध को अपने देश में निमत्रित करने के लिए महा-कात्यायन को उनके पास भेजा। सात व्यक्तियों के साथ वे बुद्ध के पास गए और उनके उपदेशों को सुनकर अर्हत् हो गए। उन्होंने बुद्ध से राजा का निमत्रण निवेदित किया, परतु बुद्ध ने अवती जाना स्वीकार नहीं किया और कहा कि कात्यायन अब स्वय राजा को व्याख्या-सहित धर्म का उपदेश कर सकते हैं। उज्जैनी में महाकात्यायन मक्करकट

वन में कुरुघर पपात के निकट एक कुटी में रहते थे। परंतु उनका अधिक समय मगध और कोसल में बीता, जहाँ वे बुद्ध के उपदेशों के जटिल अंशों की सरल व्याख्या करके लोगों को समझाया करते थे। उन्होंने उज्जैनी में बुद्ध-धर्म का एक केंद्र स्थापित किया। वहाँ उन्होंने एक धनाढ्य सेट्ठि के पुत्र श्रोण कोटिकर्ण तथा उस स्थान के कुछ ब्राह्मणों को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया। बौद्ध धर्म के इस केंद्र ने बुद्ध के निर्वाण के एक सौ वर्ष बाद द्वितीय संगीत के समय विशेष महत्त्व प्राप्त किया और अशोक तथा उसकी रानी (महिंद और संघमित्ता की माता) ने इसको बहुत उन्नत किया।

बुद्ध के शिष्य वेरंज में दुर्भिक्ष की विपत्ति से किसी प्रकार बच तो गए, परंतु वे अत्यंत कृशकाय और दुर्बल हो गए। बुद्ध के एक संपन्न शाक्य संबंधी महानाम ने उन्हें अपने घर निमंत्रित किया। बुद्ध ने उसका निमंत्रण स्वीकार कर लिया और तेरहवीं वर्षा कपिलवस्तु के निकट चालियगिरि पर बिताई, जहाँ महानाम ने बुद्ध और उनके शिष्यों की सुविधा का पूरा ध्यान रखा और उन्होंने पुन: अपना पूर्व स्वास्थ्य और बल प्राप्त कर लिया।

बुद्ध ने चौदहवीं और पंद्रहवीं वर्षाएँ क्रमश: श्रावस्ती और कपिलवस्तु में बिताईं। इन दोनों चौमासों में इन स्थानों में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई।

सोलहवीं वर्षा बुद्ध ने श्रावस्ती के निकट आलवी नामक स्थान में व्यतीत की। इस स्थान पर एक ही महत्त्वपूर्ण घटना हुई। वह थी आलवक यक्ष और आलवी के राजा के पुत्र का बौद्ध हो जाना। इस घटना की अनुश्रुति इस प्रकार है—

आलवक यक्ष—आलवी का राजा एक बार आखेट के लिए वन में गया और वहाँ आलवक यक्ष के हाथों में पड़ गया जो उसे खा जाने को उद्यत हुआ। राजा ने इस यक्ष को प्रतिदिन एक मनुष्य भोजन के लिए देने की प्रतिज्ञा करके उससे मुक्ति पाई। पहले उसने अपने राज्य के अपराधियों को उस यक्ष के हवाले किया और फिर आलवी के प्रत्येक कुटुंब को आज्ञा दी कि वे अपने एक-एक पुत्र को उसकी भेंट करें। अंत में राजा की पारी आई और उसने अपने पुत्र आलवक कुमार को यक्ष के पास भेजा। उस समय बुद्ध आलवी में पहुँचे और जब यक्ष हिमवंत में गया हुआ था उसी समय उसके निवास-स्थान पर जाकर वे उसके सिंहासन पर आसीन हुए। लौटकर जब यक्ष ने बुद्ध को अपने सिंहासन पर बैठा पाया तब वह बहुत क्रुद्ध हुआ। परंतु बुद्ध ने उसका क्रोध शांत कर दिया और क्रमश: अपने उपदेशों के द्वारा उसे अपने वश में कर लिया। आलवक यक्ष बुद्ध का भक्त हो गया और अपने कर्मों के लिए लज्जित हुआ। उसने राजा के पुत्र को

अपने भोजन के लिए स्वीकार नहीं किया और उसके बाद राजकुमार बुद्ध का शिष्य होकर अंत में 'अनागामी' हो गया।

सत्रहवीं और उन्नीसवीं वर्षा बुद्ध ने राजगृह में व्यतीत की और अठारहवीं चालियगिरि पर। शेष वर्षाएँ उन्होंने श्रावस्ती में बिताईं।

वर्षाओं की परंपरा-प्राप्त सूची को बुद्ध के धर्म-प्रचार-कार्य का कालक्रमिक विवरण नहीं समझना चाहिए। वे वर्षा के नौ सूखे महीनों में विभिन्न स्थानों में धर्मोपदेश किया करते थे और, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वर्षा किसी नियत स्थान पर बिताते थे। अनेक ऐसे शिष्य थे जो अंग, अवंती, गंधार आदि दूर देशों से वर्ष भर उनके पास आते रहते थे। बुद्ध के अनुयायियों की संख्या बहुत बड़ी थी और उन सबका वर्णन ग्रंथों में नहीं आया है। हमें ऐसे अनेक व्यक्तियों और स्थानों के नाम[1] मिलते हैं जिन्हें और जहाँ बुद्ध ने अपने धर्म का उपदेश दिया। बुद्धचरित के इक्कीसवें सर्ग (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, पृ० २४१ तथा आगे) में अश्वघोष ने उन प्रमुख शिष्यों की एक सूची दी है जिन्हें बुद्ध ने त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से उतरने के बाद शिष्य बनाया था। वह सूची कालक्रमिक नहीं मानी जा सकती। परंतु उससे हमें भगवान् बुद्ध के धर्म-प्रचार-कार्यों की सबसे पुरानी परंपरा प्राप्त होती है। नागों और यक्षों के अतिरिक्त अन्य अनुयायियों के नाम निम्नलिखित क्रम से दिए गए हैं —

१ **ज्योतिष्क**—यह राजगृह के एक अत्यंत वैभव-संपन्न सेट्ठि का पुत्र था। अपने पूर्व-जन्मों के संचित पुण्य के कारण इस जन्म में उसे असंख्य बहुमूल्य रत्न प्राप्त थे, जिनसे राजा बिंबिसार के मन में भी ईर्ष्या उत्पन्न होती थी। वह पाँच अतुल-संपत्तिशाली (अमितभोग) व्यक्तियों में अन्यतम था।[2] परंतु उसने अपना सर्वस्व त्याग दिया और भिक्षु होकर उसने अर्हत् पद प्राप्त किया।

२ **जीवक**—जीवक निश्चय ही बुद्ध के समय का बहुत प्रसिद्ध वैद्य रहा होगा और इसी कारण उसके संबंध में अनेक कथाएँ प्रचलित हो गईं। पाली अनुश्रुतियों में कहा गया है कि मगध के राजा बिंबिसार ने अपनी राजधानी राजगृह की सबसे सुंदरी कन्या सालावती को अपनी राजगणिका चुना, जो वैशाली की गणिका आम्रपाली से रूप-स्पर्धा कर सके। सालावती के एक पुत्र (जीवक) उत्पन्न हुआ। गणि-

१. **उन स्थानों और व्याख्यानों के संक्षिप्त उल्लेख के लिए द्रष्टव्य दत्त, 'अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म', खंड १।**

२. **अंगुत्तर भाष्य, १, पृ० २२०।**

काओ की रीति के अनुसार उसे एक वन मे छोड दिया गया। अभय ने, जो एक गणिका के गर्भ से उत्पन्न राजा बिबिसार का पुत्र था, उस शिशु को पाया और उसे अपना पुत्र बना लिया। इसी कारण जीवक 'कोमारभच्च' (=कुमारभृत्य, राजकुमार द्वारा पोषित) नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1] जीवक जब बडा हुआ तब उसे अपने वेश्या के गर्भ से जन्म का वृत्तान्त ज्ञात हुआ और उसने वैद्य बनकर अपनी जीविका अर्जित करने का निश्चय किया। वह तक्षशिला गया, जहां उस देश के राजा पुक्करसारि ने उसका स्वागत किया। राजकुमार अभय के अनुरोध पर उस राजा ने जीवक का परिचय आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य आत्रेय से करा दिया। आत्रेय जीवक की असाधारण बुद्धि देखकर बहुत प्रभावित हुए। जब वे रोगियो को देखने जाते तो अपने सहायक के रूप मे जीवक को साथ ले जाते। उन्होंने अपने शिष्य को अपनी अपेक्षा भी अधिक बुद्धिमान् पाया और उसे बहुत मानने लगे, जिससे उसके सतीर्थों को ईर्ष्या होने लगी। जीवक के बिबिसार, चडप्रद्योत तथा अन्य अनेक श्रीमत पुरुषो और स्त्रियों को चिकित्सा से नीरोग करने एव पारिश्रमिक के रूप मे उनसे अपार धन और सपत्ति प्राप्त करने के सबध मे अनेक कथाएँ प्रसिद्ध है। केवल औषध से ही नही, शल्य-चिकित्सा मे भी उसकी निपुणता के अनेक उल्लेख मिलते है। जब सभवत अपने यश तथा वैद्यकर्म द्वारा उपार्जित धन से जीवक का मन भर गया तब वह बुद्ध की कुछ सेवा करने के लिए व्याकुल हो उठा। कहा जाता है कि एक बार जब बुद्ध उदरामय से पीडित हुए, तब जीवक ने उन्हे औषधयुक्त फूल सुंघाकर नीरोग कर दिया था।

जीवक भिक्षओ की निशुल्क चिकित्सा करता था, इस कारण बहुत से रोगी उससे निशुल्क चिकित्सा प्राप्त करने के उद्देश्य से भिक्षु-सघ मे सम्मिलित हो गए और उन्होंने सघ के लिए एक समस्या उत्पन्न कर दी। कहा जाता है कि बुद्ध की बोधि-प्राप्ति के बीसवे वर्ष जीवक उनका भक्त हो गया और अपना आम्र-वन भिक्षुओ

१. संस्कृत अनुश्रुति में जीवक एक व्यापारी की परित्यक्ता स्त्री के गर्भ से उत्पन्न बिबिसार का अवैध पुत्र कहा गया है। बिबिसार ने उसके पालन-पोषण के लिए उसे अभय राजकुमार को सौप दिया था और उसी के द्वारा उसका पालन-पोषण हुआ था। सुकुमार होने के कारण उसके पैरों में घाव हो जाते थे और उनसे टपके हुए रक्त के चिह्न उन स्थानो पर पड़ जाया करते थे। एक दिन उन रक्त-चिह्नों को देखकर बुद्ध ने सभी भिक्षुओं को जूते पहनने की अनुमति दे दी, क्योंकि श्रोण कोटिविश ने केवल अपने प्रति विशेष कृपा के रूप में जूते पहनना अस्वीकार कर दिया था।

के निवास के लिए संघ को अर्पित कर दिया। वह सोतापन्न की अवस्था तक पहुँच चुका था। विनय के वे नियम उसी के प्रयत्न से बने थे जिनके अनुसार भिक्षुओं को औषध अथवा शल्य-चिकित्सा के द्वारा रोगोपचार कराने की अनुमति मिली। जीवक ने एक बार यह प्रश्न उठाया कि बौद्ध भिक्षु मांस खा सकते हैं या नहीं।[1] बुद्ध ने उसे समझाया कि 'भिक्षु सभी जीवों के प्रति प्रेमभाव (मेत्ता) रखता है अतः वह जान-बूझ-कर अपने खाने के लिए मांस नहीं मांग सकता। वह इस बात का विचार नहीं करता कि उसे कौन-सी विशेष वस्तु भोजन के लिए दी जा रही है, अतः यदि भिक्षा में उसे मांस मिले तो वह उसे खा सकता है। परन्तु वह मांस विशेष रूप से उसी के लिए बनाया हुआ नहीं होना चाहिए। उसके मन में इस बात का संदेह भी न होना चाहिए कि वह मांस विशेष रूप से उसी के लिये बनाया गया है।'

३ **अभय राजकुमार**—यह उज्जयिनी की एक गणिका के गर्भ से उत्पन्न बिंबिसार का पुत्र था। संस्कृत अनुश्रुति में अभय राजकुमार आम्रपाली नाम की गणिका से उत्पन्न बिंबिसार का पुत्र कहा गया है। पहले वह जैनों (निगंठ नाटपुत्त) का अनुयायी था, परन्तु उसकी शंकाओं का समाधान करके बुद्ध ने उसे बौद्ध धर्म की [illegible] कर लिया।[2] अंत में वह भिक्षु हो गया और उसे अर्हत् पद प्राप्त हुआ।

४ **श्रोण कोटिविंश**—यह अंग की राजधानी चंपा (वर्तमान भागलपुर) के एक अत्यंत धनाढ्य सेट्ठि का पुत्र था। उसकी हथेलियां और पैर के तलवे इतने सुकुमार थे कि वह नंगे पांव नहीं चल सकता था। वह बौद्ध धर्म का सच्चा भक्त और भिक्षु हो गया था और स्तूपों और पवित्र स्थानों की परिक्रमा (चंक्रमण) करता हुआ ध्यानमग्न रहा करता था।

५ **न्यग्रोध**—यह एक विशिष्ट परिव्राजक (परिव्राजक) था, जो राजगृह के उदुंबरिकाराम में रहता था। वह केवल एकांतवास का उपदेश देने और तपस्या को प्रोत्साहन न देने के कारण बुद्ध की आलोचना किया करता था, क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति के लिए वह तपस्या को बहुत आवश्यक समझता था। बुद्ध के एक व्याख्यान द्वारा उसके विचारों में परिवर्तन हो गया।[3]

६ **उपालि गहपति**—यह नालंदा का निवासी था और निगंठ नाटपुत्त के पक्के

१. मज्झिम०, १, पृ० ३६९।
२. वही, १, पृ० ३९२; ३, पृ० १६९; संयुत्त०, ५, पृ० ४५५।
३. दीघ०, ३, पृ० ३६ तथा आगे।

अनुयायियों और समर्थकों में से था। एक दिन वह अपने गुरु और उनके उपदेशों की श्रेष्ठता सिद्ध करने के उद्देश्य से बुद्ध के पास गया परन्तु भगवान् बुद्ध ने उसे निरुत्तर कर दिया और उसे अपना भक्त बना लिया। बुद्ध के प्रति उसकी आस्था और भी बढ़ गई जब उन्होंने उसे यह अनुमति दे दी कि निगंठ नाटपुत्त के शिष्यों को पूर्ववत् दान आदि दिया करे।[1]

७ **पुक्कुसाति (पुष्कर सारि=फो-किया-लो)**—यह तक्षशिला (गंधार) का राजा था और बिंबिसार का समकालीन था। गंधार और मगध के बीच व्यापार करने-वाले कुछ व्यापारियों के द्वारा इन दोनों राजाओं में मित्रता हो गई। पुक्कुसाति ने एक बार बिंबिसार के लिए कुछ बहुमूल्य उपहार भेजे और बदले में बिंबिसार ने उसके पास एक स्वर्ण-पत्र भेजा, जिसपर बुद्ध के कुछ चुने हुए उपदेश खुदे थे। उन्हें पढ़कर पुक्कुसाति ने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय कर लिया। उसने पीले वस्त्र धारण कर लिए और संपूर्ण मार्ग पैदल चलकर वह बुद्ध से मिलने के लिए राजगृह पहुँचा। बुद्ध उस समय श्रावस्ती में निवास कर रहे थे। बुद्ध ने लक्ष्य किया कि राजा ने सिद्धि प्राप्त करने योग्य बहुत से पुण्य संचित कर लिए हैं, अतः शीघ्र वे पुक्कुसाति से मिलने के लिए राजगृह चल पड़े। वे भगवत् के आश्रम में उससे मिले, परन्तु वहाँ उन्होंने अपने को प्रकट नहीं किया। वे पुक्कुसाति से प्रश्नोत्तर करने लगे और उसे धातुविभंग सुत्त का उपदेश दिया। तब पुक्कुसाति को पता चला कि वक्ता स्वयं बुद्ध ही हैं। उसने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया।[2]

८ **कूटदंत**—एक विद्वान् ब्राह्मण आचार्य था जिसे बिंबिसार ने खानुमत ग्राम की आय उसके गुरुकुल का व्यय चलाने के लिए अर्पित कर दी थी। वह ब्राह्मण शास्त्रों की विधि से एक यज्ञ करने जा रहा था, किंतु बुद्ध ने उसमें हस्तक्षेप किया और उसके यज्ञ को सदाचार और धार्मिक नियमों के पालन के यज्ञ के रूप में परिवर्तित कर दिया।[3]

९ **पञ्चसिख**—हीनयान[4] और महायान[5] दोनों शाखाओं के बौद्ध ग्रंथों में बहुत सुप्रसिद्ध व्यक्ति था। वह गंधर्व था और इस कारण बहुत निपुण संगीतज्ञ था। वह

१. मज्झिम० १, पृ० ३७१ तथा आगे।
२. मज्झिम० ३, पृ० २३७–४७।
३. दीघ० १, पृ० १२७ तथा आगे।
४. वही २, पृ० २६३ तथा आगे।
५. समाधि राजसूत्र, पृ० २७४।

बांसुरी बजाकर बुद्ध और उनके उपदेशों की प्रशंसा किया करता था। बुद्ध और देवों, विशेषत शक्र, के बीच वह मध्यस्थ का कार्य करता था। वह बुद्ध का बहुत बड़ा प्रशंसक और अनुयायी था। भद्रा सुरिय वच्चसा उसकी पत्नी थी।

१० **नदमाता**—यह बुद्ध की एक विशिष्ट शिष्या थी। नदमाताएं दो थीं—एक उत्तर, दूसरी वेलुकटकी। हो सकता है ये दोनों नाम—उत्तर नदमाता और वेलुकटकी (वेलुकटक ग्राम की) नदमाता—एक ही स्त्री के रहे हों। नदमाता ने सारिपुत्त और अन्य भिक्षुओं का सत्कार करके बहुत पुण्य अर्जित किया था। वह सकृदागामी[1] हो गई थी। वेलुकटकी नदमाता सभवत बोधिप्राप्ति के ग्यारहवें वर्ष में बौद्ध हुई थी। वह इस कारण भी प्रसिद्ध है कि उसने पिटक के कुछ ग्रंथ—विशेषत सुत्तनिपात का पारायणवग्ग—कठस्थ कर लिए थे।

११ **विशाखा**—अंग देश के एक बहुत बड़े धनी मेंढिक मेडक के पुत्र धनजय की पुत्री थी। उसका जन्म भद्दिय नगर में हुआ था, जहां बुद्ध एक बार मेलु ब्राह्मण तथा अन्य व्यक्तियों को उपदेश देने गए थे। उस समय विशाखा केवल सात वर्ष की थी। उसने बुद्ध को देखा और उसे उनके प्रति बड़ी श्रद्धा हुई। उसके पितामह मेडक बुद्ध और अन्य भिक्षुओं को प्रतिदिन अपने घर पूर्वाह्ण का भोजन करने के लिए निमंत्रित करते थे। राजा प्रसेनजित् की प्रार्थना पर धनजय को राजा बिंबिसार ने कोसल भेज दिया, जहां कोसल-नरेश ने साकेत में उसके निवास के लिए स्थान नियत कर दिया, और वह वहीं बस गया। विशाखा की अवस्था जब विवाह के योग्य हुई तो श्रावस्ती के एक अन्य धनी श्रेष्ठि मिगार ने उससे अपने पुत्र पुण्णवड्ढन का विवाह करने का निश्चय किया। मिगार निगंठ नाटपुत्त और उनके संघ का भक्त और समर्थक था और चाहता था कि उसकी पुत्रवधू विशाखा भी उनकी भक्त हो जाय। परंतु उसने अपने श्वसुर के इस आदेश का पालन करना अस्वीकार कर दिया और कुछ कठिनाइयों के बाद वह उलटे अपने श्वसुर को बुद्ध का भक्त बनाने में सफल हुई। विशाखा प्रतिदिन ५०० भिक्षुओं को भोजन कराती थी। बुद्ध ने उसे अनुमति दे दी थी कि वह वर्षाकाल में सावत्थी में आनेवाले सभी भिक्षुओं और भिक्षुणियों को भोजन और वस्त्र, रोगियों को औषध तथा प्रत्येक भिक्षु और भिक्षुणी को खीर दान किया करे। उसने पुब्बाराम विहार का निर्माण कराया था, जो मिगारमातुपासाद के नाम से भी प्रसिद्ध है। वह १२० वर्ष तक जीवित रही और उसके कितने ही

१. अंगुत्तर० १, पृ० २६, ८८; २, पृ० १६४; ४, पृ० ३४७।

नाती-पोते हुए। बुद्ध ने उसे संघ को दान देनेवाली स्त्रियों में प्रधान कहकर उसकी प्रशंसा की थी।

१२ **सोणदंड** (श्रोणदण्ड)—यह ब्राह्मण शास्त्रों का एक प्रसिद्ध आचार्य था। वह अंग की राजधानी चंपा में निवास करता था और बिंबिसार ने उसके जीवन-निर्वाह के लिए एक ग्राम दे दिया था। एक बार वह बुद्ध से मिला था और उनसे ब्राह्मणों की जाति-श्रेष्ठता के विषय में बातें की थीं। परंतु बुद्ध ने उसे विश्वास करा दिया कि मनुष्य की श्रेष्ठता और निकृष्टता का निश्चय उसके नैतिक गुणों के ही आधार पर किया जा सकता है, जन्म के आधार पर नहीं। सोणदंड अवस्था में बुद्ध से बहुत ज्येष्ठ था परंतु उसने अपने को बुद्ध का अनुयायी घोषित किया।[1]

१३-१४ **केनिय** (कैनेय ऋषि) और **सेल** (शैल ऋषि)—ये दोनों ऋषि जटिल थे और बुद्ध के जीवन के अंतिम समय में बौद्ध हुए थे (गिलगिट मैनु०, ३,१, पृ० २५९ और आगे)। कैनेय ऋषि चार सत्यों पर बुद्ध का उपदेश सुनकर बहुत प्रभावित हुए और उनका आध्यात्मिक उत्थान हुआ जिससे उन्हें अनागामी अवस्था प्राप्त हुई। उन्होंने बुद्ध को आठ प्रकार के फलों के रस पीने को दिए, जिन्हें बुद्ध ने केवल अपने ही लिए स्वीकार नहीं किया अपितु कुछ प्रतिबंधों के साथ भिक्षुओं को भी उन्हें ग्रहण करने की अनुमति दी। बुद्ध ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, इससे कैनेय को बड़ा हर्ष हुआ और उन्होंने बुद्ध और उनके भिक्षुओं को अपने आश्रम में भोजन के लिए निमंत्रित किया। भोर से ही वे संघ के सत्कार के लिए बड़ी-बड़ी तैयारियाँ करने लगे जिससे उनके मित्र शैल ऋषि का ध्यान आकर्षित हुआ। शैल ऋषि बुद्ध और उनके संघ की कीर्ति सुनकर संघ में प्रविष्ट होने के लिए उत्कंठित हुए। भोजन के समय के पहले ही वे अपने ५०० शिष्यों के साथ बुद्ध के पास गए और दीक्षा लेकर भिक्षु संघ में प्रविष्ट हो गए। जब कैनेय भिक्षुओं को भोजन परोस रहे थे तो उन्होंने अपने मित्र शैल को अपने शिष्यों सहित भिक्षुओं की पंक्ति में बैठे देखकर उन्हें बड़ा हर्ष और आश्चर्य हुआ। कैनेय ने भी तत्काल भिक्षु-संघ में प्रविष्ट होने का निश्चय कर लिया और दूसरे दिन बुद्ध से दीक्षा ग्रहण की।[2] इन दोनों ऋषियों के शिक्षण का भार महाकप्पिन, सारिपुत्र और मोग्गलायन को दिया गया।

१. दीघ० १।

२. **पाली अनुश्रुति में केनिय और सेल के बौद्ध होने का वर्णन इस प्रकार मिलता है—केनिय और सेल अंग देश में आपण के निवासी थे। केनिय धनाढ्य ब्राह्मण था और सेल एक विशिष्ट ब्राह्मण आचार्य था, जिसके अनेक शिष्य थे। ये जटिलों के**

१५. **अगुलिमाल**—कोसल के राजा प्रसेनजित् के गुरु का पुत्र था। उसके पिता का नाम भग्गव अथवा गग्ग था और माता का मतानी। वह तक्षशिला भेजा गया और वहीं उसने विद्याध्ययन किया। वह अपने अन्य सतीर्थों से विद्या में आगे बढ़ गया, जिसके कारण वे उससे ईर्ष्या करने लगे। उन्होंने आचार्य और अगुलिमाल के बीच मतभेद उत्पन्न कर दिया, फलत उससे अपना पिंड छुड़ाने के लिए आचार्य ने सौ मनुष्यों की अगुलियाँ उससे गुरुदक्षिणा में माँगी। अगुलिमाल उन्हें यह गुरुदक्षिणा देना अपना धर्म समझ कोसल चला गया। वहाँ वह मार्ग के किनारे छिपकर बैठा रहता और उधर से जानेवाले यात्रियों का वध कर देता। इस प्रकार उसने ९९ मनुष्यों को मारकर उनकी अगुलियाँ एकत्र कीं। संयोग से सौवीं बलि उसकी माता की ही होनेवाली थी। बुद्ध को ज्ञात हुआ कि अगुलिमाल के बहुत पुण्य संचित हैं, परन्तु यदि वह मातृहत्या का महापातक करेगा तो वे सब पुण्य नष्ट हो जायँगे। अत अविलंब उस स्थान पर पहुँचे जहाँ अगुलिमाल छिपा बैठा था और सौवें व्यक्ति वे स्वय हो गए। अपनी असाधारण शक्ति के द्वारा उन्होंने अगुलिमाल की बुद्धि को सन्मार्ग पर लगाया और उसे सघ में प्रविष्ट कर लिया। उसके पश्चात् शीघ्र ही अगुलिमाल को अर्हत पद प्राप्त हुआ (मोनेस्टिक बुधिज्म, पृ० २४९)। उसकी दीक्षा बुद्ध की बोधिप्राप्ति के बीसवें वर्ष में हुई।

१६. **ब्रह्मायु**—ये मिथिला के एक ब्राह्मण आचार्य थे। बुद्ध जब विदेह गए थे, उस समय उनकी अवस्था १२० वर्ष की थी। उन्होंने अपने शिष्य उत्तरमाणव को यह पता लगाने के लिए भेजा कि क्या बुद्ध में महापुरुषों के बत्तीसों लक्षण विद्यमान हैं। जब उत्तर के द्वारा इस बात का प्रमाण मिल गया तो मखादेव आम्रवन में वे बुद्ध से मिलने गए। ब्रह्मायु ने एक विशाल जनसमूह (जो उनके प्रति श्रद्धावान् था) के समक्ष बुद्ध के चरण सहलाए और उनके व्याख्यान सुने। उन्होंने बुद्ध और उनके भिक्षुओं को अपने घर निमन्त्रित किया और एक सप्ताह तक उनका सत्कार किया। बुद्ध से इस मिलन के कुछ ही समय बाद ब्रह्मायु की मृत्यु हो गई और वे अनागामी हुए (मज्झिम०, २ १४६)।

अनुयायी थे। केनिय बुद्ध से मिला और उसने उनको तथा उनके भिक्षुओं को मधुर पेय पीने के लिए दिए तथा उनके उपदेशों को श्रवण किया। सेल पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा और वह केनिय के साथ बुद्ध का शिष्य हो गया (मोनेस्टिक बुधिज्म पृ० २७३-७५)।

१७ **महालि**––महालि लिच्छिवि था और संभवत पुराण कस्सप का अनुयायी था। वह देह और आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता था। वह बुद्ध से वैशाली की कूटागारशाला में मिला था। उसने अष्टांग मार्ग तथा अन्य विषयों पर बुद्ध के व्याख्यान सुने और वह उनका भक्त हो गया।

१८ **सीह**––यह एक लिच्छवि सेनापति तथा निगंठ नाटपुत्त का अनुयायी था। उसे बुद्ध के उपदेशों के विषय में भ्रमपूर्ण सूचना मिली थी। एक बार अनेक लिच्छवियों के साथ जब वह बुद्ध से मिला तो उनके उपदेशों से बहुत प्रभावित हुआ। उसने बुद्ध और उनके शिष्यों को अपने घर निमंत्रित किया और उन्हें सामिष भोजन कराया। इसपर निगंठ नाटपुत्तों ने उनकी कटु आलोचना की। इसी अवसर पर बुद्ध ने भिक्षुओं के मांस खाने के संबंध में पांच प्रतिबंध लगा दिए (विनय०, १, २३३, ४, १७१)। सीह अनेक लिच्छवियों के साथ बुद्ध का अनुयायी हो गया। तथापि बुद्ध ने उसे निगंठों को दान आदि देते रहने की अनुमति दी, इससे बुद्ध के प्रति उसकी भक्ति और बढ़ गई।

१९ **सच्चक**––यह लिच्छवियों का गुरु तथा निगंठ नाटपुत्त का बड़ा भक्त था। बुद्ध से शास्त्रार्थ (चूल-सच्चकसुत्त) में पराजित होकर वह उनका अनुयायी हो गया। उसके चार पुत्रियां थीं जो सारिपुत्त से शास्त्रार्थ करने के बाद भिक्षुणी-संघ में प्रविष्ट हो गईं (मज्झिम० १, २३४ तथा आगे)।

२० **जानुस्सोणि**––ये एक धनाढ्य और प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य थे। ये प्रायः जेतवन विहार में बुद्ध से मिलने जाया करते थे। अनेक विषयों पर इन्होंने उनसे शास्त्रार्थ भी किया था। ये कोसल के राजा के गुरु थे और संभवत बुद्ध के शिष्य हो गए थे।

२१ **वक्कालि** (सं० वक्कपालि)––वक्कालि का जन्म श्रावस्ती के एक श्रेष्ठ ब्राह्मणकुल में हुआ था। यह भिक्षु हो गया था और बुद्ध के शरीर से इसे बहुत मोह था। बुद्ध ने इससे कहा कि तुम्हें बुद्ध का वास्तविक दर्शन तभी मिल सकता है जब तुम उनके 'धम्म' का तत्त्व समझ लो। वह गृध्रकूट पर्वत पर से गिरकर प्राण देने जा रहा था, परन्तु बुद्ध ने उसे रोक लिया और उसे ध्यान और अन्य क्रियाओं का अभ्यास करने का आदेश दिया। तिसपर भी उसने छुरी से आत्महत्या कर ही डाली। जब उसे असह्य पीड़ा हो रही थी उसी समय वह अर्हत् हो गया और तत्काल उसकी मृत्यु हो गई।

२२. **बावरी**––ये कोसलपति के राजपुरोहित थे और सन्यास लेकर दक्षिणापथ

चले गए थे, जहाँ अस्सक मे गोदावरी नदी के तीर एक आश्रम मे रहते थे। इन्होंने एक बहुत बडा यज्ञ किया था। उस अवसर पर एक ब्राह्मण को ५०० मुद्राएँ न देने के कारण उसने इन्हे शाप दे दिया जिससे ये बहुत चिढ गए। शाप के भय से इन्होंने अपने शिष्यो को बुद्ध के पास उसके मोचन का उपाय पूछने के लिए भेजा। वे शिष्य पतिट्ठान, माहिस्मती, उज्जेनी, गोनद्ध, वेदिसा और कोसबी होते हुए साकेत पहुंचे, परन्तु वहाँ उन्हे विदित हुआ कि अभी-अभी बुद्ध ने नगर छोडा है। तब वे सेतव्या, कपिलवत्थु, कुसीनारा, पावा, भोगनगर और वेसाली होते हुए राजगृह आए। वहाँ वे बुद्ध के व्याख्यानो को सुनकर अर्हत् हो गए, परन्तु उनमे से एक, अर्थात् बावरी का भतीजा पिगिय, अनागामी ही रहा। पिगिय बावरी के पास लौट आया और बुद्ध से उसने जो कुछ सीखा था उसे कह सुनाया। पिगिय के मुख से बुद्ध के उपदेशो की व्याख्या सुनकर बावरी भी अनागामी हो गए और पिगिय को अर्हत् पद प्राप्त हुआ।

२३ **सुनक्खत्त**——यह वैशाली का एक लिच्छवि राजपुत्र था। अपने जीवन के अंतिम दिनो मे वह बुद्ध का निजी सेवक हो गया। कुछ समय तक वह बुद्ध के साथ रहा, परन्तु अलौकिक शक्तियो का प्रदर्शन न करने तथा सृष्टि के प्रारभ के विषय मे उसके प्रश्नो का उत्तर न देने के कारण वह उनसे असतुष्ट हो गया, और बौद्ध सघ को छोडकर क्रमश कोरखत्तिय, कदरमसक और पाटिकपुत्त का शिष्य हुआ। वह इन गुरुओ की योग और तप की उन कठिन क्रियाओ का प्रशसक था जिनका कि बुद्ध निषेध कर चुके थे।[1]

२४ **देवदत्त**——बुद्ध के जीवन के अंतिम वर्षो मे देवदत्त उनकी अनुदिन बढती हुई लोकप्रियता देखकर उनसे जलने लगा और किसी प्रकार उनकी कीर्ति नष्ट करने का उपाय सोचने लगा।

पाली अनुश्रुतियो मे वर्णन है कि राजकुमार सिद्धार्थ का ममेरा भाई और साला देवदत्त बडा ही ईर्ष्यालु और कुटिल प्रकृति का मनुष्य था और अपने कई पूर्व जन्मो मे वह सिद्धार्थ का शत्रु रह चुका था। वह उन व्यक्तियो मे से था जिन्होंने सबसे पहले बौद्ध धर्म स्वीकार किया था और वह आनद, उपालि और अनिरुद्ध के साथ ही भिक्षु-सघ मे प्रविष्ट हुआ था।[2] उसने कुछ आध्यात्मिक उन्नति कर ली और कुछ ऋद्धियाँ

१. दीघ०, पातिक सुत्त।
२. देखिए पृ० ६७-८।

भी प्राप्त कर ली, जिससे वह अजातशत्रु को अपने सिद्ध होने का विश्वास दिलाने मे समर्थ हुआ। उसने कोकालिक और कोटमरक तिस्स आदि अपने ही—जैसे कुछ भिक्षुओं और थुल्लनदा आदि कुछ भिक्षुणियों को मिलाकर अपने दल मे कर लिया। उसे दडपाणि एव सुप्पबुद्ध-सदृश कुछ बौद्धो का भी समर्थन प्राप्त हो गया। बुद्ध के जीवन के अतिम दिनो मे देवदत्त चाहता था कि अन्य धर्माधिष्ठाताओ की भाँति बुद्ध उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दे। बुद्ध ने उससे स्पष्ट कह दिया कि मै किसी को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत नही करूंगा, सारिपुत्त और मौद्गलायन-जैसे अपने सर्वश्रेष्ठ शिष्यो को भी नही, फिर तुम-जैसे दुर्मन व्यक्तियो को मनोनीत करने का तो कोई प्रश्न ही नही है। बुद्ध की इस अस्वीकृति से देवदत्त बहुत क्रुद्ध हुआ और कुछ दुष्ट भिक्षुओं को मिलाकर एक नया सघ सघटित करके उसका नेता बन गया। उसे राजकुमार अजातशत्रु का समर्थन भी प्राप्त हो गया, जो अपने वृद्ध पिता राजा बिबिसार का वध करने का षड्यत्र रच रहा था। अजातशत्रु की सहायता से देवदत्त ने बुद्ध के प्राण लेने का कई बार प्रयत्न किया—पहले उनका वध करने के लिए गुडो को नियुक्त किया, फिर पर्वत से उनके ऊपर एक भारी शिला गिरवाई और अत मे उनके ऊपर नालागिरि नामक एक मदमत्त हाथी छोडवाया। गुडे तो बुद्ध के निकट जाते ही उनके भक्त हो गए और शिला जब ढुलककर उनके ऊपर आ रही थी तो वह बीच मे दो छोटी शिलाओ पर अटक कर रह गई। उसका एक छोटा-सा खड आकर बुद्ध के पैर मे लगा, जिससे उनके रक्त निकलने लगा। नालागिरि हाथी के विषय मे कहा जाता है कि नगर मे सैकडो मनुष्यो को कुचलता हुआ वह भपकर वेग से दौडने लगा। जब वह उस पथ पर आया जिसपर बुद्ध और उनके भिक्षुगण जा रहे थे तो कुछ भिक्षु तो इधर-उधर भागे और अनेक शिष्यो और भक्तो ने बुद्ध से प्रार्थना की कि वे उस क्रुद्ध हाथी से अपनी रक्षा के लिए उसके मार्ग से हट जायँ। परतु आनद दृढता के साथ उनके पार्श्व मे ही डटा रहा। बुद्ध तनिक भी इधर-उधर नही हटे और शात भाव से चलते रहे। नालागिरि उनके निकट पहुँचकर उनके ऊपर झपटा, परतु यह देखकर सब चकित रह गए कि वह क्रुद्ध और मदमत्त हाथी जाकर भगवान् बुद्ध के चरणो के निकट बैठ गया और चुपचाप उनकी झिडकियाँ सुनने लगा। उनके नालागिरि को इस प्रकार वश मे कर लेने का समाचार वायुवेग से चारो ओर फैल गया और उसके साथ बुद्ध की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई, यहा तक कि अजातशत्रु को भी उनके सामने नत होना पडा। उसने बुद्ध के निकट जाकर उनसे क्षमा की याचना की और उनमे अपना दृढ विश्वास प्रकट किया। अपने दुष्ट उपायो से बुद्ध की कोई हानि

करने मे असफल होकर देवदत्त ने कुछ ऐसे भिक्षुओं को एकत्र किया जो बुद्ध द्वारा शिष्यों और भिक्षुओं को दी गई सुविधाओं को उचित नहीं समझते थे। वह असंतुष्ट व्यक्तियों का नेता बन गया और उसने भिक्षुओं के लिए ये नियम निश्चित किए— (१) प्रत्येक भिक्षु को अरण्यवासी होना चाहिए, (२) उसे केवल भिक्षा मांगकर जीवन-निर्वाह करना चाहिए, गृहस्थों का निमंत्रण कदापि स्वीकार न करना चाहिए। (३) उसे केवल घूर (कूड़ा) पर से इकट्ठे किए हुए चीथड़ों से बनाए गए चीवर का ही उपयोग करना चाहिए, किसी अन्य वस्त्र का उपयोग नहीं करना चाहिए (४) उसे सदा वृक्षों की छाया में ही शयन करना चाहिए, छत के नीचे कभी नहीं सोना चाहिए, और (५) उसे बुद्ध के द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों के साथ भी मत्स्य वा मांस का सेवन नहीं करना चाहिए। कहा जाता है कि अपने दुष्कर्मों के कारण देवदत्त को चिरकाल तक नरक भोगना पड़ा।

अंतिम यात्रा

अपने उपदेशों के प्रचार तथा भिक्षु-संघ के संगठन का कार्य समाप्त करके भगवान बुद्ध ने परिनिर्वाण में प्रवेश करने का निश्चय किया। अपना देहत्याग कुशीनगर में करने के विचार से उन्होंने राजगृह से प्रस्थान किया। पाटलिपुत्र का ग्रामपति ब्राह्मण वर्षकार बुद्ध के राजगृह से प्रस्थान करने का समाचार पाकर उनके पास गया और उसने अजातशत्रु की ओर से उनसे पूछा कि वज्जियों को किस उपाय से विजित किया जा सकता है। बुद्ध ने उत्तर में वज्जियों के कुछ विशिष्ट गुणों और कार्यों का उल्लेख करते हुए कहा कि उन्हीं गुणों और कार्यों के कारण वज्जिगण अजेय है। राजगृह छोड़ने के बाद भगवान् अंबलट्ठिका और नालंदा (पावारिकंबवन) होते हुए पाटलि-ग्राम पहुंचे, जो उस समय केवल एक छोटा सा ग्राम था, जिसकी देखरेख अजातशत्रु के दो ब्राह्मण अधिकारी, सुनीध और वस्सकार, किया करते थे। राजा ने उन दोनों अधिकारियों को आज्ञा दे रखी थी कि पड़ोसी शत्रुओं, विशेषतः वज्जियों, के आक्रमण से राज्य की रक्षा के लिए उस ग्राम की दृढ़ मोर्चेबंदी कर दें। पाटलिग्राम के निवासी भक्तों तथा अजातशत्रु के ब्राह्मण अधिकारियों ने बुद्ध और उनके संघ का बड़ा आदर-सत्कार किया। ब्राह्मण अधिकारियों ने बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए जिस द्वार तथा घाट से होकर बुद्ध पाटलिग्राम से गए, उसका नाम क्रमशः 'गोतमद्वार' तथा 'गोतमतित्थ' रख दिया।

पाटलिपुत्र छोड़ने के बाद बुद्ध कोटिगाम और नादिका (गिजकावसथ) होते हुए वैशाली (अबपालिवन) गए। मार्ग में जहाँ वे ठहरते थे वहाँ लोगों को धर्म का उपदेश करते थे। अपने आम्रवन में बुद्ध के आगमन का समाचार पाकर गणिका अबपाली उनके पास, उन्हें तथा उनके संघ को अपने निवासस्थान पर पूर्वाह्न का भोजन करने के लिए निमंत्रण देने गई। बुद्ध ने उसके मोहक सौंदर्य तथा स्त्री-सुलभ हाव-भाव का उल्लेख करते हुए अपने भिक्षु-शिष्यों को सचेत कर दिया कि वे सावधान होकर अपनी इंद्रियों पर संयम रखें। जब अबपाली निमंत्रण देकर अपने घर लौटने लगी तब उसकी भेंट उन लिच्छवि सरदारों से हुई जो बुद्ध और उनके संघ को भोजन का निमंत्रण देने का गौरव प्राप्त करने में अबपाली से पिछड़ गए थे। वे स्वयं बुद्ध को पहले निमंत्रण देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अबपाली से अपना निमंत्रण वापस लेने का आग्रह किया और इसके लिए उसे धन भी देना चाहा, परंतु उसने अस्वीकार कर दिया। उसने बुद्ध और उनके शिष्यों के स्वागत की पूरी तैयारी की और उन्होंने तृप्त होकर भोजन किया। भोजन-दान के पश्चात् उसने भिक्षुओं के निवास के लिए अपना अबवन दक्षिणा में दे डाला। भगवान् बुद्ध ने उसकी उदारता और उसके धर्मभाव की बड़ी प्रशंसा की और उसे धन और रूप की चंचलता को जानकर धर्म को ही सर्वोत्तम आभूषण समझने का उपदेश दिया। उन्होंने लिच्छवियों को भी संबोधित कर उपदेश दिया कि वे सदाचार का पालन करें, सदा सन्मार्ग पर चलें और धन एवं शक्ति के लोभ तथा अभिमान पर विजय प्राप्त करें। उन्होंने उन्हें उन मिथ्याचारी गुरुओं से सावधान रहने को कहा जो एक पशु का-सा जीवन व्यतीत करके या तीन बार स्नान करके, या अग्नि में आहुतियाँ देकर, अथवा हृदय को मलिन रखते हुए भी कठोर तपस्या करके आध्यात्मिक शुद्धता प्राप्त करने का दावा करते थे।

कुछ समय तक अबपाली के वन में रहने के पश्चात् बुद्ध अपने संघ के साथ वर्षा ऋतु व्यतीत करने के लिए वेलुवगाम गए। वहाँ वे बहुत बीमार पड़ गए, परंतु अपनी अवस्थता को उन्होंने दबा रखा, क्योंकि उन्होंने सोचा कि अपने असंख्य भक्तों को सूचना दिए बिना ही परिनिर्वाण प्राप्त करना उचित न होगा। आनंद भगवान् बुद्ध को पुनः स्वस्थ देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि "मैं जानता हूँ कि भगवान् अपने शिष्यों को अंतिम बार उपदेश दिए बिना परिनिर्वाण नहीं प्राप्त करेंगे"। परंतु भगवान् ने उससे कहा कि "अब मैं अस्सी वर्ष का हो चुका हूँ और अपने शरीर को एक जर्जर रथ की भाँति किसी प्रकार चलाए चल रहा हूँ। मेरे शिष्यों को अब

मुझे अपना गुरु और नेता नहीं समझना चाहिए। मेरे सच्चे शिष्यों को उचित है कि वे आत्मनिर्भर हों, मेरे उपदेशों में विश्वास रखें (अत्तदीपो अत्तसरणो अनञ्ञसरणो, धम्मदीपो धम्मसरणो अनञ्ञसरणो) तथा चार स्मृत्युपस्थानों का अभ्यास करें।"

बुद्ध फिर वैशाली लौट आए और आनंद से कहा कि "मुझे यहां के उदेन, गोतमक, सत्तंबक, बहुपुत्त, सरदद और चापाल 'चेतिय' (चैत्य) बहुत अच्छे लगते हैं।" चापाल चेतिय में रहते हुए उन्होंने आनंद से कहा कि जो चार ऋद्धिपादों (१ इच्छा, २ विचार, ३ सादृश्य और ४ अन्वीक्षा की प्रवृत्तियों को एकाग्र करने की शक्ति) पर अधिकार कर लेता है वह यदि चाहे तो एक कल्प जीवित रह सकता है। भगवान् के इस संकेत को आनंद समझ नहीं सका अतः उस समय उसने उनसे एक कल्प भर जीने की प्रार्थना नहीं की। उसी समय वहां मार भगवान् के समक्ष प्रकट हुआ और उसने उनसे निवेदन किया—"अब आपका लोक में धर्म की स्थापना करने तथा अनेक सच्चे शिष्य बनाने का शुभ संकल्प पूरा हो गया है, अतः आपको अब परिनिर्वाण में प्रवेश करना चाहिए।" बुद्ध ने स्वीकार कर लिया और कहा कि "मैं तीन मास के पश्चात् देहत्याग करूंगा।" जब उन्होंने ऐसा निश्चय किया उस समय उनके कथन की सत्यता की पुष्टि करने के लिए पृथ्वी कांपने लगी। आनंद को जब यह विदित हुआ कि उसके प्रिय गुरु ने अपनी आयु की अंतिम सीमा निश्चित कर दी तो वह शोक-विह्वल हो गया। भगवान् ने उसे यह कहकर समझाया कि प्रियजनों का वियोग संसार में एक अवश्यंभावी घटना है, जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु भी ध्रुव है।

इसके पश्चात् बुद्ध ने वैशाली और उसके आसपास के सब भिक्षुओं को महावन कूटागारशाला में एकत्र होने की आज्ञा दी और उन्हें स्मरण कराया कि उनके संपूर्ण उपदेशों की समष्टि सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म हैं।[1] फिर अंतिम बार वैशाली की ओर देखकर उन्होंने वहां से विदा ली। भंडगाम, हत्थिगाम और अंबगाम पार करके वे भोगनगर पहुंचे और वहां अपने शिष्यों को उपदेश दिया कि वे सदाचार (शील), ध्यान (समाधि), ज्ञान-प्राप्ति (पञ्ञा) और मुक्ति (विमुत्ति) संबंधी नियमों के पालन का विशेष ध्यान रखें। फिर उन्होंने उन्हें बुद्ध-वचनों की प्रामाणिकता की परीक्षा करके ही उन्हें ग्रहण करने का आदेश दिया।

१. ये इस प्रकार हैं—४ स्मृत्युपस्थान, ४ सम्यक् प्रहाण, ४ ऋद्धिपाद, ५ इंद्रियाँ, ५ बल, ७ बोध्यंग, ८ मार्ग।

भोगनगर से वे पावा गए। वहा वे चुड नामक एक लोहकार-पुत्र के आम्रवन मे ठहरे, जिसने उन्हे पूर्वाह्न का भोजन करने के लिए अपने यहाँ निमत्रित किया। चुड ने 'सूकर-मद्दव' पकाकर भिक्षुओ को भोजन के लिए दिया। बुद्ध ने शूकर-मद्दव केवल अपने लिए ग्रहण किया और उसे भिक्षुओ को देने से चुड को यह कहकर मना कर दिया कि वे उसे पचा नही सकेंगे। उन्होने स्वय उसे खा तो लिया, परतु वे बहुत बीमार पड गए और उन्हे असह्य वेदना होने लगी। तब वे कुशीनगर चले गए और एक वृक्ष के नीचे एक चौपरत किए हुए चीवर पर लेट गए। पुक्कुस मल्लपुत्त ने, जो उनका उपासक हो गया, उन्हे एक उत्तम चीवर दिया। तब उन्होने ककुट्ठा नदी मे स्नान किया और फिर कुशीनगर के मल्लो के सालवन मे गए। भगवान् की मृत्यु का समय निकट होने का समाचार पाकर सपूर्ण वैशाली व्यथित हो गई और ऐसी शोक-सतप्त दिखाई पडने लगी जैसे एक बालिका अपने पिता की मृत्यु पर अनाथ होकर बिलखती है। उसका शोक इतना गभीर और मर्मातक था कि उसे रोना भी नही आ रहा था, एक शब्द भी मुख से नही निकल रहा था, वह मूक क्रदन कर रही थी। वीर लिच्छविगण अपना सपूर्ण बल और साहस खो बैठे और बडी कठिनाई से धीरज धरकर उन्होने उस शोक को सहन किया। ससार ने एक महान् मनीषी को खो दिया और प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर यह सत्य अकित हो गया कि समस्त पार्थिव सत्ताओ का एक न एक दिन अत होना अवश्यभावी है। विद्वान् भिक्षुगण, देवो और मनुष्यो के उस महान् गुरु के द्वारा उपदिष्ट सत्यो का ध्यान करते हुए, शातिपूर्वक बैठे रहे। वे इस बात पर विचार कर रहे थे कि अब उनके सर्वज्ञ प्रभु सदा के लिए विश्राम लेने जा रहे है। देवो ने भगवान् की देह पर पुष्प-वर्षा करने के लिए सालवृक्षो को पुष्पमय कर दिया। वे देवो के भी देव का अतिम दर्शन करने के लिए वहा आए और भगवान् ने उपवन को, जो उस समय उन्हे व्यजन कर रहा था, स्वय वहाँ से हट जाने की आज्ञा दी, जिससे उनका दर्शन करने मे देवो को बाधा न पडे। बुद्ध की मृत्यु आसन्न जान देवो को भी बडा शोक हुआ।

इसके अनतर बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यो को उन चार स्थानो की तीर्थयात्रा करके पुण्यार्जन करने का आदेश दिया जो (१) बुद्ध के जन्म, (२) उनकी बोधि-प्राप्ति, (३) धर्मचक्र-प्रवर्तन, तथा (४) उनके परिनिर्वाण से पवित्र हो चुके थे। उन्होने अपनी अत्यक्रिया करने के सबध मे भी उन्हे अनुदेश दिए।

आनद ने उनसे अपने परिनिर्वाण के लिए चपा, राजगृह, सावत्थी, साकेत, कोसबी, और वाराणसी इन छ प्रसिद्ध नगरो मे से किसी एक को चुनने की प्रार्थना की थी,

परतु बुद्ध ने अस्वीकार कर दिया और उसे कुसीनारा का पूर्व माहात्म्य बतलाया। तब कुसीनारा के मल्ल दौडे हुए उस स्थान पर पहुँचे जहाँ भगवान् अतिम विश्राम कर रहे थे और उन्होंने उनकी पूजा की।

सुभद्द ने, जो एक पाखडी परिव्राजक था, अकस्मात् उसी समय स्वय भगवान् बुद्ध से दीक्षा लेकर भिक्षु बनने का निश्चय किया और भगवान् ने अपनी शक्ति के उत्तरोत्तर क्षीण होने पर भी उसकी इच्छा पूर्ण की।

सुभद्द को दीक्षा देने के अनतर भगवान् ने आनद को अपने शिष्यो के लिए यह सदेश दिया—'मेरी मृत्यु के बाद मेरे उपदेश तथा विनय के नियम ही मेरे शिष्यो के गुरु और पथ-प्रदर्शक होगे। यदि वे आवश्यक समझे तो विनय के कुछ साधारण नियमो को त्याग भी दे सकते है।"

इसके पश्चात् वे अतिम ध्यान मे मग्न हो गए और ध्यान मे प्रथम से अष्टम भूमिका तक उत्थित हुए। तब वे फिर प्रथम भूमिका पर आए और फिर चतुर्थ भूमिका तक उत्थित होने के अनतर उन्होने सर्वदा के लिए अपने भौतिक शरीर का त्याग कर दिया। पृथ्वी ने कपित होकर सबको इस महान् दु खद घटना की सूचना दी और ब्रह्मा तथा देवराज सक्क ने यह कहकर अपना शोक प्रकट किया कि समस्त उत्पन्न प्राणियो और पदार्थों का नाश निश्चित है। अभीष्ट है केवल महानाश, जिसके बाद फिर उत्पन्न न होना पडे। अनुरुद्ध (जो एक अर्हत् था) ने भगवान् की असाधारण योग-शक्ति की प्रशसा की और उनके इस मर्त्यलोक से महाप्रस्थान एव उनकी मुक्ति की उपमा एक निर्वाणोन्मुख दीपशिखा से दी। परतु आनद बेचारा, जो उतनी ऊँची आध्यात्मिक भूमिका तक नही पहुँचा था, प्रकृति की रहस्यमयी प्रेरणा के वशीभूत होकर शोकविह्वल हो गया और उसके नेत्रो से निरतर अश्रुधारा बहती रही! इस प्रकार एक महान् आत्मा का—मनुष्यो और देवो के भी देव का—अत हो गया, ऐसा निर्मम और अलघ्य है प्रकृति का नियम—

"अनिच्चा वत सखारा उप्पादवयधम्मिनो॥
ये धम्मा हेतुप्पभवा तेस हेतु तथागतो आह।
तेस च यो निरोधो एव वादी महासमणो ति॥"

अध्याय ५

कोसल के ब्राह्मण

बौद्ध ग्रंथों में वर्णित कोसल मोटे तौर पर उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र, अर्थात् नीची पहाड़ियों को लिए हुए गोरखपुर, बस्ती, गोंडा, और बहराइच जिलों के उत्तरी भाग से मेल खाता है। उसमें कुछ ऐसे ग्राम थे जिनका वर्णन पाली ग्रंथों में विशुद्ध ब्राह्मण-ग्रामों के रूप में किया गया है, यथा—एकसाला, इच्छानंगल, नगरविंद, मनसाकट, वेनागपुर, दक्खिणागिरि और वेलुद्वार।

ब्राह्मण महासाल

इनके अतिरिक्त कुछ ग्राम ऐसे थे जिन्हें राजा प्रसेनजित् ने विशिष्ट ब्राह्मण गुरुओं तथा एक क्षत्रिय गुरु को दे दिया था। बहुत संभव है कि ये ग्राम उन्हें उनके गुरुकुलों तथा उनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों का व्यय वहन करने के लिए दिए गए हों। पाली ग्रंथों में ये नाम पाए जाते हैं—

(१) उक्कट्ठा का पोक्खरसादि,
(२) मालवती का लोहिच्च,
(३) ओपसाद का चंकी, और
(४) सेतव्या का पायासि राजञ्ञ[2]।

मनसाकट में विशिष्ट एवं संपन्न (महासाल) ब्राह्मण निवास करते थे, जिनमें से तारुक्ख, जानुस्सोणि और तोदेय्य का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।[3] ये ब्राह्मण यज्ञ करने में बहुत धन व्यय किया करते थे। जानुस्सोणि श्वेत सज्जा और रश्मियों-वाली चार श्वेत वाजियों द्वारा खींचे जानेवाले श्वेत रथ पर बैठकर चला करता था, जिसके ऊपर श्वेत छत्र लगा रहता था। वह स्वयं श्वेत पगड़ी, श्वेत वस्त्र और श्वेत

१. संयुत्त० १, पृ० ११६—कोसलेसु हिमवन्तपदेसे अरञ्ञा कूटिकायं।

२. उक्त अनुदानों का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—सत्तुस्सदं सतिणकट्ठोदकं सधञ्ञं राजभोग्गं रञ्ञा पसेनदि कोसलेन दिन्नं राजदायं ब्रह्मदेय्यम्।

३. दीघ० १, पृ० २३५; तुल० सुत्तनिपात, पृ० ११५।

पदत्राण धारण करता था और उसे श्वेत चवँर (वालवीजम्) डुलाया जाता था। इस वेष में वह श्वेत रथ (ब्रह्मयान) पर आसीन ब्रह्मा के सदृश दिखाई पड़ता था।' जिन सुत्तों में उपर्युक्त ब्राह्मण महासालों के बुद्ध से मिलने की चर्चा की गई है वे सभी प्राय एक ही प्रकार से प्रारभ किए गए हैं। उनमें से एक का उदाहरण यहाँ दिया जाता है। पाक्खरसादि से बुद्ध के मिलने का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'बुद्ध ५०० भिक्षुओं के साथ कोसल के इच्छानगल ब्राह्मणग्राम में पहुँचे। उक्कट्ठ के महासाल ब्राह्मण पाक्खरसादि को समण गोतम के इच्छानगल में आने का समाचार मिला और उसने उनकी यह विशद कीर्ति भी सुनी कि वे बड़े बुद्धिमान, पूर्ण ज्ञानी,ससार तत्त्व को जानने-वाले और मनुष्यों और देवों के श्रेष्ठ गुरु एव पथ-प्रदर्शक हैं, तथा वे ऐसे सिद्धान्तों का उपदेश करते हैं जिनका आदि मध्य और अत सभी उत्तम और कल्याणमय है और जिनसे शुद्ध और पवित्र जीवन प्राप्त होता है। पोक्खरसादि का एक बड़ा विद्वान् और बुद्धिमान् शिष्य था जिसका नाम था अबट्ठ। पोक्खरसादि ने उसे यह पता लगाने के लिए भेजा कि क्या समण गोतम की जो कीर्ति सुनी गई है वह सब सत्य है और क्या उनमें वे बत्तीसो लक्षण विद्यमान हैं जो 'चक्कवत्ती' अथवा 'सम्मा सबुद्ध' में पाये जाने चाहिए? अबट्ठ बुद्ध से मिला और उसने उनके समक्ष यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ब्राह्मण जन्मना श्रेष्ठ होता है। बुद्ध ने अपने सुविदित तर्कों द्वारा इसका खडन कर दिया। तब अबट्ठ ने लक्ष्य किया कि बुद्ध में सभी बत्तीस लक्षण विद्यमान हैं। उसने लौटकर अपने गुरु पोक्खरसादि को इसकी सूचना दी और बुद्ध से जो शास्त्रार्थ किया था उसका भी वर्णन किया। पोक्खरसादि ने ऐसे महान् पुरुष से इस प्रकार का असगत वार्तालाप करने के लिए अबट्ठ को धिक्कारा। वह स्वय उस स्थान पर गया जहा बुद्ध ठहरे हुए थे, और उन्हे अपने निवासस्थान पर मध्याह्न के भोजन के लिए निमत्रित किया। बुद्ध ने उसका निमत्रण स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन उसके यहा भोजन करने के पश्चात् धर्म का उपदेश किया। पहले उन्होंने दान और शील का महत्त्व बतलाया और स्वर्गप्रद कर्मों तथा विषय-भोग के कुपरिणामों के विषय पर व्याख्यान दिया। फिर जब देखा कि श्रोताओं का मन कोमल और नमनशील हो गया है तो उन्होंने उन्हे चार श्रेष्ठ सत्यों का उपदेश दिया। बुद्ध के व्याख्यानों का पोक्खरसादि पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह अपनी पत्नी, सतान, परिजनों एव परिचरों सहित बुद्ध की शरण में आ गया। उसने उनसे प्रार्थना की कि वे उसे अपना भक्त समझें

१. मज्झिम० १, पृ० १७६; संयुत्त० ५, पृ० ४।

और जिस प्रकार अन्य उपासकों के यहां भिक्षा मांगने जाते हैं उसी प्रकार उसके घर भी भिक्षा ग्रहण किया करें।'

लोहिच्चसुत्त भी इसी प्रकार से प्रारंभ होता है—'लोहिच्च ब्राह्मण ने अपने नाई भेसिक को समण गोतम को निमंत्रण देने के लिए भेजा, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। लोहिच्च ब्राह्मण का यह मत था कि यह सर्वथा उचित है कि मनुष्य अपने सत्कर्मों द्वारा पुण्य का अर्जन करे, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि वह दूसरों से भी कहता फिरे कि उसे किन उपायों से और क्या-क्या सिद्धियाँ प्राप्त हुई। बुद्ध ने तर्क और युक्ति के द्वारा उसे यह विश्वास करा दिया कि उसका यह मत ठीक नहीं है। उन्होंने उन गुरुओं की कथा सुनाई जिन्होंने पूर्णता नहीं प्राप्त की थी और जिनके शिष्य उनके उपदेशों का शुद्ध भाव से अनुसरण नहीं करते थे। परंतु बुद्ध तो स्वयं एक पूर्ण और आदर्श गुरु थे और उन्होंने कितनी ही आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। वे दूसरों को अपने धर्म का उपदेश देते थे, जो उनका अनुसरण कर उससे लाभ उठाते थे।' एक बार लोहिच्च ब्राह्मण[2] की भेंट महाकच्चायन से हुई, जिससे उन्होंने बुद्ध का यह उपदेश सुना कि मनुष्य को आत्मसंयम रखना चाहिए, और आत्मसंयम तभी आ सकता है जब मनुष्य अपने को विषयासक्ति से मुक्त रखे'।

चकीसुत्त[3] इससे किंचित भिन्न शैली में आरंभ होता है। चकी ब्राह्मण ने देखा कि ओपसाद के सभी गृहपति बुद्ध के पास उनका उपदेश सुनने जा रहे हैं। उसने उनके साथ जाने का निश्चय किया। परंतु दूसरे स्थानों से आए हुए कुछ ब्राह्मणों ने उसे मना कर दिया और कहा—"चकी! तुम विद्वान् गुरु हो, बहुत उच्च कुल में उत्पन्न हुए हो, संपन्न भी हो और राजा पसेनदि ने तुम्हें अनुदान भी दे रखा है, अतः तुम्हें समण गोतम से मिलने जाना उचित नहीं है।" चकी ने उन्हें समझाया कि "समण गोतम भी बहुत उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं, उनके पास धन संपत्ति की कमी नहीं, परंतु उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर युवावस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। वे पूर्ण सदाचारी हैं और उन्होंने राग को जीत लिया है। वे अगणित मनुष्यों के ज्ञानदाता हैं। उनके अनुयायियों में बिंबिसार और पसेनदि जैसे नृपतिगण भी हैं, और पोक्खरसादि महासाल

१. दीघ, १।

२. हो सकता है, यह लोहिच्च, लोहिच्च महासाल ब्राह्मण से भिन्न रहा हो। संयुत्त० ४, पृ० १२०।

३. मज्झिम० २, पृ० १६४।

ब्राह्मण भी उनका अनुयायी है। वे ओपसाद में पधारे हैं और मुझे उचित है कि उनका उचित सम्मान करूं।"

नकी बुद्ध के पास गया और उसके साथ बहुत से ब्राह्मण गए। परन्तु उसने बुद्ध से बातचीत नहीं की। उसने केवल उनका कापथिक-माणवों के साथ सत्य की प्राप्ति और उसकी अनुरक्षा (सचानुपत्ति और सचानुरक्खना) पर शास्त्रार्थ सुना।

जानुस्सोणि ब्राह्मण महासाल बुद्ध से तीन बार मिला था। पहले उसने पिलोतिक परिव्राजक से सुना कि बुद्ध सम्यक् सबुद्ध हैं, उनका सिद्धान्त सर्वोत्तम है और उनका संघ श्रेष्ठ और पवित्र है। उनका ज्ञान इतना गभीर है कि कोई उसकी थाह नहीं पा सकता। जिस किसी विद्वान् ने उनसे शास्त्रार्थ में जूझना चाहा उसे उन्होंने परास्त और निरुत्तर करके अपना अनुयायी बना लिया। उन्होंने कितने ही ब्राह्मणों और गहपति-महासालों को भी अपने तर्क और युक्तियों से समझाकर अपने सिद्धान्तों की निर्दोषिता सिद्ध कर दी। पिलोतिक से बुद्ध की ऐसी प्रशसा सुनकर जानुस्सोणि के हृदय में बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई और दूर ही से उसने बुद्ध को प्रणाम किया। तदनतर वह उनके निकट गया और उनसे पिलोतिक के साथ हुई अपनी बातचीत की चर्चा की। बुद्ध ने सक्षेप में उसे अपने धर्म का रहस्य समझाया और इंद्रिय-सयम के उपायों तथा स्मृति एव ध्यान के अभ्यास (सतिपट्ठान=स्मृत्युपस्थान और समाधि) के विषय में उपदेश दिया।[1] जानुस्सोणि उनके व्याख्यानों से बहुत प्रभावित हुआ और उनका अनुयायी बन गया। एक बार जानुस्सोणि ने उन तापसों की चर्चा की जो ध्यान के अभ्यास के लिए वन में चले जाते थे। उसने कहा कि वन में एकान्त जीवन व्यतीत करने के कारण उन्हें बड़ा कष्ट होना होगा। बुद्ध ने उत्तर में उसे अपने सब अनुभव बतलाए जो उन्हें सबोधि-प्राप्ति के पूर्व हुए थे। वे भी वन में एकांतवास में रहकर तपस्या करते थे और कभी-कभी बहुत भयभीत हो जाते थे। परन्तु पीछे उन्हें पता चलता था कि उनके भय का कारण कभी तो कोई पशु होता था, जो उनके पास से होकर निकल जाता था, कभी कोई मोर, जो वृक्ष की एक टहनी नोच कर गिरा देता था और कभी केवल भूमि पर गिरे हुए पत्ते, जो हवा से खड़खड़ा उठते थे। बुद्ध ने बतलाया कि भय का वास्तविक कारण अपने ही मन की विकारपूर्ण अवस्था है। जब उन्होंने अपने विकारों को दूर कर दिया तब वे अभय हो गए। भयकर वन में भी बैठ कर ध्यान करने से उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं लगता था। उन्हें यह सब अनुभव हो चुका था और अंत में

१. मज्झिम० १, पृ० १७६।

उन्हे उच्च आध्यात्मिक शक्तियाँ तथा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो गई ।[1] एक अन्य अवसर पर जानुस्सोणि ने यह प्रश्न उठाया कि विश्व की सत्ता है या नहीं । बुद्ध ने अपने सर्वविदित तर्कों द्वारा इन दोनो विरुद्ध कोटि के मतो का खडन कर दिया और अष्टाग मध्यम मार्ग का उपदेश दिया जिसे उन्होंने ब्रह्मयान की सज्ञा दी ।[2] उनके मत मे पदार्थों के अस्तित्व वा अनस्तित्व का प्रश्न ही नही उठाना चाहिए, क्योकि वे केवल मृगमरीचिका के समान है । उनके सत् या असत् होने के विषय मे कोई प्रश्न उठाना व्यर्थ है और वह प्रश्न अनुत्तरित (अव्याकत) ही रहना चाहिए ।[3]

राजञ्ञामहासाल––पायासि सुत्तत की शैली[4] चकीसुत्त के ही समान है । इस सुत्तत मे समण गोतम के स्थान पर अर्हत् कुमार कस्सप का नाम आता है । पायासि ब्राह्मण महासाल नही, प्रत्युत राजञ्ञ था । उसका मत था कि न परलोक है, न कोई स्वय उत्पन्न जीव है, न सत् या असत् कर्मो का कोई फल होता है । कुमार कस्सप ने अनेक उपमाओ और दृष्टातो द्वारा उसका मत परिवर्तित कर उसे अपना अनुयायी बना लिया ।

ब्रह्मलोक की प्राप्ति––जिन ब्राह्मणों से बुद्ध का सपर्क हुआ वे अधिकतर ब्रह्मपद (ब्रह्मसाह्वयता) प्राप्त करने के प्रयत्न मे थे । तेविज्जसुत्त[5] मे एक बातचीत यहाँ उदाहरण रूप मे प्रस्तुत की जाती है ––

दो युवा ब्राह्मण विद्यार्थी आपस मे विवाद कर रहे थे कि ब्रह्मलोक प्राप्त करने (ब्रह्मसाह्वयता) के लिए पोक्खरसाति द्वारा उपदिष्ट मार्ग उत्तम है अथवा तारुक्ख द्वारा । इस विवाद के निर्णय के लिए वे बुद्ध के पास गए । वे यह मानते थे कि ब्रह्मलोक प्राप्त करने के लिए विभिन्न शाखा के ब्राह्मणो द्वारा उपदिष्ट अनेक मार्ग है, यथा––अद्धरिय (अध्वर्यु), तित्तिरिय (तैत्तिरीय), छदोक (छादोग्य-सामवेदीय) और बह्वृरिज (बह्वृच-ऋग्वेदीय) । बुद्ध ने उनकी वाद-कोटियो को सुनकर उनसे प्रश्न किया कि क्या किसी ब्राह्मण ने अथवा तुम्हारे गुरु वा गुरु के भी गुरु ने अथवा अट्ठक, वामक, वामदेव, वेस्सामित्त, यामतग्गि, अगिरस, भरद्वाज, वासेट्ठ, कस्सप, भगु

१. वही १, पृ० १६ ।
२. संयुत्त० ५, पृ० ४ ।
३. वही १, पृ० ७६ ।
४. दीघ०, ३ ।
५. दीघ० १, पृ० २३५ तथा आगे ।

आदि ऋषियों में से किसी ने ब्रह्म को देखा है ? छात्रों ने स्वीकार किया कि किसी गुरु या ऋषि ने यह नहीं कहा कि मैंने ब्रह्म को देखा है। तब बुद्ध ने कहा कि सूर्य और चंद्र तो प्रत्येक व्यक्ति को नेत्रों से दिखाई पड़ते हैं, परन्तु फिर भी कोई उन तक पहुँचने का मार्ग हमें नहीं बता सकता। फिर ब्रह्म तो अदृश्य है, उस तक पहुंचने का मार्ग कोई कैसे बता सकता है ? क्या ब्रह्मलोक की खोज करना उस सुंदरी कन्या को पाने का प्रयत्न करने के समान नहीं है जिसका कोई पता ठिकाना ज्ञात नहीं है ? अथवा क्या वह उस व्यक्ति के प्रयत्न के समान नहीं है जो बिना यह जाने कि चढ़कर किस स्थान पर जाना है, अधर में सीढ़ी लगाना चाहता है ? फिर उन्होंने कहा कि ब्राह्मण लोग मंत्र के द्वारा इंद्र, सोम, वरुण, ईशान, प्रजापति, ब्रह्मा आदि देवों को बुलाते हैं।[1] यह तो उसी प्रकार हुआ, जैसे कोई व्यक्ति नदी पार करना चाहता हो और दूसरे तट को अपने पास बुला रहा हो।

इसके पश्चात् उन्होंने उन छात्रों से प्रश्न किया कि क्या यह सत्य नहीं है कि ब्रह्म लोभ, मत्सर तथा अन्य विकारों से रहित है, और क्या ब्रह्मपद के अभिलाषी ब्राह्मण भी उन विकारों से रहित हैं ? यदि नहीं, तो दो भिन्न प्रकार की वस्तुओं (एक विकार रहित, दूसरी सविकार) का मेल (सायुज्यता) किस प्रकार संभव है ? ब्राह्मण छात्रों से इसका कोई उत्तर देते न बन पड़ा और तब उन्होंने बुद्ध से पूछा कि क्या आप ब्रह्मलोक का मार्ग जानते हैं ? बुद्ध ने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया और कहा—'मेरे मत से वह मार्ग यह है कि पहले मनुष्य आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—इन पंचेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले पाँच प्रकार के सुखों (कामगुणा) से अपना संबंध विच्छिन्न कर पंचबाधाओं (नीवरणों)[2] को नष्ट करें, फिर चार विशुद्ध प्रकार के जीवन (ब्रह्मविहार) का अभ्यास करे, अर्थात् सब जीवों के प्रति मैत्री (मेत्ता) और करुणा का भाव रखे, शत्रु-मित्र सभी के सुख में वास्तविक सुख का अनुभव करे (मुदिता) और सुख और दुःख दोनों में

१. सयुत्त० १, पृ० २१९।
२. पाँच नीवरण इस प्रकार हैं—
   (क) कामच्छन्द = उत्कट सांसारिक विषय-वासना।
   (ख) व्यापाद = ईर्ष्या, द्वेष।
   (ग) थीनमिद्ध = आलस्य।
   (घ) उद्धच्च-कुकुच्च = औद्धत्य, संशय।
   (ङ) विचिकिच्छा त्रिरत्न में अनास्था।

समान भाव से रहे (उपेक्षा)। इन चार मानसिक अवस्थाओं की प्राप्ति दीर्घकाल के कठिन अभ्यास से प्राप्त होती है, किंतु केवल इन्हीं चारों (जिन्हें ब्रह्मविहार कहते हैं) के द्वारा मनुष्य ब्रह्मलोक के निवास का अधिकारी हो सकता है। इन चारों का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर मनुष्य राग, द्वेष तथा मोह से मुक्त हो जाता है और वह ब्रह्म का साक्षात्कार (ब्रह्मसाक्षात्कार) कर सकता है"।[1]

जन्मना ब्राह्मण की श्रेष्ठता––दूसरा विषय जिसपर ब्राह्मण आचार्यों का बुद्ध से प्राय शास्त्रार्थ हो जाया करता था, ब्राह्मणों का यह दावा था कि ब्राह्मण जन्म से ही सब जातियों से श्रेष्ठ होता है। उनकी इस श्रेष्ठता को स्वीकार न करने तथा उनके प्रति विशेष आदर भाव न रखने के कारण बुद्ध से वे रुष्ट रहते थे और कई अवसरों पर उन्होंने उनसे उद्धत व्यवहार किया। कहा जाता है कि जब सावत्थी में अग्गिक भरद्वाज यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करके उसमें आहुतियाँ दे रहा था, उसी समय बुद्ध भिक्षाटन करते हुए उसके यज्ञस्थल के निकट पहुँचे। अग्गिक भरद्वाज दूर से ही उन्हें देखकर चिल्लाया–– अरे मुंडिए, भिक्षु, वृषल, वहीं खड़ा रह' (तत्र एव मुण्डक, तत्र एव समणक, तत्र एव वसलक तिट्ठहीति)। बुद्ध ने शान्त भाव से उसके शब्द सुने और उस ब्राह्मण से पूछा कि क्या तुम 'वसलक' का ठीक अर्थ जानते हो? उन्होंने स्वयं उसे बतलाया कि 'वसलक' वस्तुत वह दुष्ट मनुष्य है जो धर्म और सदाचार के नियमों[2] का पालन नहीं करता, मेरे जैसा साधु वसलक नहीं होता।[3]

सुदरिक भरद्वाज ब्राह्मण यज्ञ में आहुतियां (अग्निहुत्त) देने के बाद आहुति का अवशिष्ट घृत (हव्यशेष) देने के लिए किसी व्यक्ति को ढूंढ रहा था। उस समय बुद्ध अपने सिर को ढके हुए एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। पैरों की आहट सुनकर उन्होंने सिर पर से वस्त्र हटा लिया और ब्राह्मण को आते देखा। ब्राह्मण उनका मुंडित सिर देखते

१. मज्झिम० २, पृ० १९५, २०७।

२. पंचशील ये हैं––
   (क) पाणातिपाता पटिविरतो होति––जीवहिंसा से विरत होना,
   (ख) अदिन्नादाना पटिविरतो होति––चोरी से विरत होना,
   (ग) मुसावादा पटिविरतो होति––असत्य-भाषण से विरत होना,
   (घ) अब्रह्मचरिया पटिविरतो होति––स्त्री-संभोग से विरत होना,
   (ङ) सुरमेरयमज्जपमादट्ठाना पटि विरतो होति––मदिरापान तथा प्रमोद के स्थानों में जाने से विरत होना।

३. सुत्तनिपात, पृ० २१।

ही अति क्रुद्ध हुआ और चिल्ला पड़ा--'अरे तू मुँडिया है !' वह लौटने ही वाला था, पर फिर यह सोचकर कि कभी-कभी ब्राह्मण भी सिर मुड़ा लेते हैं, बुद्ध की ओर मुड़ा और उनकी जाति पूछी। बुद्ध ने उत्तर दिया--'मैं न ब्राह्मण हूं, न क्षत्रिय, न वैश्य, मैं एक सन्यासी हूं, जो कुछ नहीं चाहता। मुझे दान देने का महान् फल होगा।'[1]

एक बार जब शाक्यों के देश में ब्राह्मणों की एक सभा हो रही थी उस समय बुद्ध सभागृह की ओर जाने लगे। ब्राह्मणों ने कहा--'कौन है ये मुंडिए समण ? ये क्या जाने सभा के नियम' ! (के च मुण्डका समणका, के च सभाधम्म जानिस्सन्ति)।[2] परन्तु बुद्ध चुपचाप सभाभवन में चले गए। ब्राह्मणों में कुछ ऐसे थे जिन्हें जन्म से ब्राह्मणों की श्रेष्ठता में संदेह था। इच्छानगल में, जहां बुद्ध ठहरे हुए थे, वासेट्ठ और भरद्वाज नाम के दो विद्यार्थियों में, जो क्रमश पोक्खरसाति और तारुक्ख के शिष्य थे, उक्त विषय पर मतभेद हो गया। एक कहता था कि ब्राह्मण जन्मना श्रेष्ठ है, दूसरे का कथन था कि ब्राह्मण अपने कर्मों से, अर्थात् धार्मिक क्रियाओं और सदाचार के नियमों के पालन द्वारा श्रेष्ठ होता है (जातिया ब्रम्हण होति उदाहु भवति कम्मणा)। इस विवाद का निर्णय करने के लिए उन्होंने यह समस्या बुद्ध के समक्ष उपस्थित की, जिन्होंने उन्हें समझाया कि यदि वृक्षों, झाड़ियों, सर्पों और पक्षियों में जन्म से ही भेद नहीं होता तो मनुष्यों में भी जन्मना भेद क्यों माना जाय ? अपने कर्म से ही कोई कृषक (कस्सक) शिल्पी (सिप्पिक), बनिया (वाणिज), सेवक (पेस्सिको), चोर, युद्धजीवी (योधाजीव), याजक अथवा राजा कहलाता है। अत ब्राह्मण को जन्म से ही श्रेष्ठ होने का दावा नहीं करना चाहिए। बुद्ध ने यह भी कहा कि ब्राह्मण उसी व्यक्ति को कहना चाहिए जो पूर्ण रूप से पवित्र और सदाचारमय जीवन व्यतीत करे। उनके विचार निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किए गए--

'न जच्चा ब्राह्मणो होति न जच्चा होति अब्राह्मण।
कम्मणा ब्राह्मणो होति कम्मणा होति अब्राह्मणो॥
तपेन ब्रह्मचरियेन सयमेन दमेन च।
एतेन ब्राह्मणो होति एत ब्राह्मण उत्तमम्॥[3]

(जन्म से न कोई ब्राह्मण है, न अब्राह्मण। केवल अपने कर्म से ही कोई ब्राह्मण

१. सुत्तनिपात पृ० ७९; संयुत्त १, पृ० १६७।
२. संयुत्त० १, पृ० १८४।
३. सुत्तनिपात, पृ० ११५।

वा अब्राह्मण होता है। तप ब्रह्मचर्य, सयम और दम के द्वारा ही मनुष्य उत्तम ब्राह्मण बन सकता है।)

जब बुद्ध सावत्थी मे ठहरे थे उस समय अस्सलायन ने इसी प्रश्न को कुछ भिन्न रूप मे बुद्ध के सामने उपस्थित किया था। उसका कथन था कि ब्राह्मण ही सब वर्णों मे उत्तम है, अन्य वर्ण नीच और अशुद्ध है। ब्राह्मण ब्रह्मा की सतान है। बुद्ध ने इसके उत्तर मे ये तर्क दिए––(क) ब्राह्मण अपनी माता के गर्भ मे ठीक उसी प्रकार जन्म लेता है जिस प्रकार अन्य जातिया, (ख) योन-कबोज तथा अन्य प्रत्यन्त देशो मे केवल दो ही जातिया होती हैं––स्वामी और दास, परन्तु वहा कभी-कभी स्वामी दास हो जाते है और दास स्वामी, (ग) ब्राह्मण अपने सत् वा असत् कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग वा नरक मे जाता है और अन्य जातियों के मनुष्यों के विषय मे भी यही सत्य है, (घ) ब्राह्मण हो या किसी अन्य जाति का मनुष्य, दोनो समान रूप से मैत्री और करुणा धर्म का पालन कर सकते है, नदी मे स्नान करके अपनी देह शुद्ध कर सकते है, और लकड़ी मे आग जला सकते है––ब्राह्मण और अन्य जाति के मनुष्य द्वारा जलाई गई आग मे कोई अतर नही होगा, (ङ) मूर्ख ब्राह्मण की अपेक्षा विद्वान् ब्राह्मण अधिक आदर पाता है, और इस प्रकार ब्राह्मण-ब्राह्मण मे भी भेद माना ही जाता है। अत जन्ममात्र से नही, प्रत्युत अपने कर्म से ही मनुष्य श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट माना जा सकता है।

सुभ तोदेय्यपुत्त सावत्थी मे बुद्ध के पास यह पूछने के लिए गया था कि मनुष्यों मे स्वास्थ्य, वर्ण, धन, कुटुब, ज्ञान आदि के आधार पर ऊँच-नीच का भेद माने जाने का क्या कारण है (मनुस्सान दिस्सति हीनप्पणीतता)। बुद्ध ने उत्तर दिया कि मनुष्य की उच्चता वा निकृष्टता उसके पूर्व जन्म के कर्मों का फल है। वस्तुत कर्म ही सब जीवों का जनक, दायाद और बधु है (कम्मस्सका सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनि कम्मबन्धु कम्मपटिसरणा)।[2] उन्होंने अपने इस व्याख्यान का उपसहार निम्नलिखित श्लोक से किया––

'कम्मणा वत्तति लोको कम्मणा वत्तति पजा।
कम्मनि बन्धना सत्ता रथस्साणीव यायतो" ॥[3]

१. मज्झिम० २, पृ० १४७।
२. वही ३, पृ० २०३।
३. सुत्तनिपात, पृ० १२३।

(कर्म ही से लोको की सत्ता है, कर्म ही से लोको के मनुष्यो की सत्ता है। सभी जीव अपने पूर्व कर्मों से उसी प्रकार बंधे हुए है जैसे चलता हुआ रथ अपने धुरे से।)

ब्राह्मण आचार्यो ने बुद्ध के समक्ष अनेक शकाएँ समाधान के लिये उपस्थित की, विशेषत ऐसे विषयो पर शकाएँ, जिनकी उस समय लोगो मे चर्चा हुआ करती थी। यथा, विश्व की सत्ता है या नही, आत्मा की सत्ता है या नही मृत्यु के बाद तथागत (पूर्ण मुक्त जीव) की सत्ता रहती है या नही, बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित धर्म के अभ्यास का क्या क्रम है, इत्यादि।

ब्राह्मण गृहस्थ--ब्राह्मण आचार्यो और तार्किको के अतिरिक्त बहुत से ब्राह्मण गृहस्थ भी बुद्ध के व्याख्यानों को ध्यानपूर्वक सुनते थे। उनमे से कुछ तो उपासक हो गए और कुछ भिक्षु-सघ मे सम्मिलित हो गए।

सयुत्तनिकाय[1] मे कोसल और शाक्य प्रदेश के अनेक ब्राह्मणो के नाम आए है, जो बुद्ध के पास अपनी शकाएं लेकर गए और उनके विचारोत्तेजक उत्तरो को सुनकर या तो भिक्षु हो गए अथवा उन्होने अपने को बौद्धधर्मी उपासक घोषित कर दिया। जिन्हे अर्हत् पद प्राप्त हुआ उनके नाम इस प्रकार है--(१) अहिसक, (२) जटा भरद्वाज, (३) सुधिक भरद्वाज, (४) अग्गिक भरद्वाज, (५) सुदरीक भरद्वाज, (६) बहुधीति भरद्वाज। जो ब्राह्मण-ब्राह्मणी उपासक हुए उनके नाम ये है--(१) उदय, (२) देवहित, (३) लुखयापूरण, (४) मानत्थद्ध, (५) पच्चनीकमात, (६) नवकम्मिक भरद्वाज, (७) कट्ठहार, (८) मानुपोगर, (९) भिक्खक, (१०) सगरव, (११) वेरहच्चानि ब्राह्मणी, (१२) खोमदुस्सक ब्राह्मण गहपतिका। कोसल के बौद्ध धर्म स्वीकार करनेवाले ब्राह्मणो की यह सूची पूर्ण नही समझी जानी चाहिए, इसमे केवल मुख्य-मुख्य ब्राह्मणो के ही नाम आए है।

साधारणत बुद्ध अपने गभीर विचारो का उपदेश उन लोगो को नही दिया करते थे जो केवल उपासक थे, अर्थात् बौद्ध धर्म स्वीकार करके भी भिक्षु नही हुए थे। उदाहरणार्थ, उपासक मानत्थद्ध ब्राह्मण को उन्होने अपने माता-पिता, ज्येष्ठ भ्राता और गुरु का आदर करने तथा अपने अहकार को वश मे करने का उपदेश दिया। मानुपोसक ब्राह्मण की उन्होने इसलिए प्रशसा की कि वह अपने माता-पिता की सेवा करता था। उससे उन्होने कहा कि अपने इस पुण्य-कर्म के फलस्वरूप उसका भावी जन्म स्वर्ग मे होगा। भिक्खक ब्राह्मण से उन्होने कहा कि केवल भिक्षा माँगना कोई गुण नही

१. संयुत्त० १, पृ० १६५।

है। भिक्षाजीवी को पवित्र जीवन व्यतीत करना तथा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। नवकम्मिक और कट्ठहारिक ब्राह्मण बुद्ध को अकेले वन में बैठकर ध्यान करते हुए देखकर बहुत प्रभावित हुए और उनके भक्त हो गए। सगरव ब्राह्मण पवित्र नदियों में स्नान के द्वारा शुद्ध होने में विश्वास करता था, परन्तु बुद्ध ने उसका भ्रम दूर किया और कहा कि शुद्धि के लिए सत्य की गभीर नदी में स्नान करना चाहिए जिसके द्वारा मनुष्य भवसागर को पार कर जाता है (फिर जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसता)।' इसके पहले सगरव ब्राह्मण धनञ्जनी ब्राह्मणी से इसलिए रुष्ट हो गया था कि उसने वृद्ध ब्राह्मणों की उपस्थिति में त्रिरत्न की प्रशसा की थी। परन्तु ब्राह्मणी ने सगरव को बुद्ध से मिलने का परामर्श दिया, जो उस समय तोदेय्य ब्राह्मण के आम्रवन चङालकप्प में पहुँच गए थे। सगरव बुद्ध के पास गया और उसने पूछा कि 'क्या आप को इस जीवन में अभिज्ञाएँ (अभिञ्ञा)[२] प्राप्त हो गई हैं'? बुद्ध ने उत्तर दिया कि तेविज्ज' अर्थात् अभिज्ञाप्राप्त व्यक्तियों की तीन श्रेणियाँ होती हैं। एक में वे अर्हत् लोग हैं जो दूसरों के उपदेश सुनकर अभिज्ञा प्राप्त करते हैं, दूसरी में वे तार्किक (तक्की-विमसी) हैं जो श्रद्धा के द्वारा उसे प्राप्त करते हैं और तीसरी में सम्मा सबुद्ध हैं जो बिना किसी की सहायता के अभिज्ञा प्राप्त करते हैं। परन्तु इसके लिए उन्हें गृहस्थजीवन के सुखों का त्याग कर दीर्घ काल तक कठिन अभ्यास करना पड़ता है। सगरव बुद्ध के वचनों को सुनकर बहुत प्रभावित हुआ और उनका भक्त हो गया।[४] एक अन्य अवसर पर सगरव ने यह स्थापना करनी चाही कि यज्ञ करने से अनेक मनुष्यों का लाभ होता है, यज्ञ करनेवालों का भी और करानेवालों का भी, परन्तु बौद्धधर्मी भिक्षु केवल अपने

१. वही, पृ० १८३।

२. छः अभिज्ञाएँ हैं—दिव्य चक्षु, दिव्य श्रोत्र, दूसरों के विचारों का ज्ञान, अपने पूर्व जन्म की स्मृति तथा अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति।

३. अंगुत्तर १, पृ० १६६—जानुस्सोणि ब्राह्मण के अनुसार तेविज्ज वह है जो अभिजात-कुलोत्पन्न तथा वेदांगों सहित तीनों वेदों का पंडित है। बुद्ध के मत के अनुसार तेविज्ज वह भिक्षु है जो इतनी ऊँची आध्यात्मिक भूमिका तक पहुँच चुका हो कि (१) अपने पूर्वजन्मों का वृत्त जान सके, (२) अन्य मनुष्यों के भावी जन्म की बात जान सके, और (३) चार सत्यों को समझकर यह अनुभव करे कि 'मैंने अपने तीन दोषों (आसवों) को नष्ट कर दिया है, मैं मुक्त हो गया हूँ और अब फिर मेरा जन्म नहीं होगा।'

४. मज्झिम० २, पृ० २०९।

ही कल्याण के लिए सब कुछ करता है। बुद्ध ने उत्तर दिया कि भिक्षु भी अनेक व्यक्तियों का कल्याण करते हैं, क्योंकि वे भिक्षु होने के बाद दूसरों को भी सांसारिक जीवन से निवृत्त होकर परिव्राजक का धर्ममय जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करते हैं।[1]

एक ब्राह्मणी उपाध्याया थी, जिसका नाम था वेरहच्चानी। उसने अपने एक शिष्य को उदायि को निमन्त्रित करने के लिए भेजा जो तोदेय्य के आम्रवन में ठहरे हुए थे। उदायि उसका निमन्त्रण स्वीकार कर उसके घर गये। भोजन के पश्चात् ब्राह्मणी साड़ी पहनकर ऊँचे आसन पर बैठ गई और मुख को अवगुंठित कर उसने उदायि से धर्म का व्याख्यान करने को कहा। परन्तु उदायि यह कहकर वहां से चले गए कि उपयुक्त समय पर मैं व्याख्यान करूंगा। दूसरी बार ब्राह्मणी ने फिर वैसा ही किया और उदायि फिर बिना प्रवचन किए चले गए। तीसरी बार ब्राह्मणी नंगे पैर, नीचे आसन पर, अवगुंठन हटाकर बैठी और उसने उदायि से दुःख और सुख का कारण पूछा। उदायि ने उत्तर दिया कि सुख-दुःख का कारण मनुष्य की इंद्रियां हैं जिन्हें वश में करके वह सुख और दुःख दोनों के परे पहुँच सकता है। ब्राह्मणी इस उत्तर से बहुत सन्तुष्ट हुई और उपासिका हो गई।[2]

१. अंगुत्तर० १, पृ० १६८-६९।
२. संयुत्त०, ४, पृ० १२१ तथा आगे।

अध्याय ६

बुद्ध तथा राजा प्रसेनजित् और उदयन

बौद्ध धर्म के इतिहास मे राजा बिंबिसार के साथ भगवान् बुद्ध का सपर्क अत्यत महत्त्वपूर्ण घटना है। उसके बाद कोसल के राजा (प्रसेनजित्) पसेनदि का स्थान है। पसेनदि बुद्ध का केवल समकालीन ही नही, उनका समवयस्क भी था।[1] शाक्य लोग तथा सभवत केसपुत्त के कालाम भी उसके अधीन थे।[2] अनाथपिंडिक के जेतवन विहार का निर्माण पूरा हो जाने पर जब बुद्ध प्रथम बार श्रावस्ती गए तो राजा पसेनदि ने उनके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए अपनी राजधानी मे उनका स्वागत किया और इस बात पर हर्ष प्रकट किया कि उसके राज्य की भूमि बुद्ध-जैसे महात्मा के चरणो से पवित्र हुई। उसने बुद्ध के उपदेशो को भी सुना, जिनका कदाचित् उसके मन पर कोई प्रभाव नही पडा। पसेनदि ने उनसे प्रश्न भी किया कि अवस्था मे कम होने तथा बहुत तपोवृद्ध न होने पर भी आप क्यो अपने को सम्यक् सबुद्ध घोषित करते है, जब कि पूरण कस्सप तथा मक्खलि गोसाल जैसे ज्येष्ठ एव ज्ञान-विशिष्ट आचार्य वैसा नही करते। बुद्ध ने उत्तर दिया कि क्षत्रिय, सर्प, अग्नि और भिक्षु—इनके छोटे होने पर भी इनकी शक्ति को कम नही समझना चाहिए।[3] एक अन्य अवसर पर, जब राजा पसेनदि मिगार-मातु-पासाद मे बुद्ध के सम्मुख बैठा हुआ था, बडे-बडे नखो और लबी जटाओ-वाले सात जटिल, सात निगठ, सात अचेल, सात एकसाटक, और सात परिव्राजक उसके निकट से होकर गए।[4] उन्हे देखकर राजा ने खडे होकर बडी भक्ति के साथ अपना नाम निवेदन कर उन्हे प्रणाम किया और जब वे चले गए तो उसने बुद्ध से उनकी विशिष्ट आध्यात्मिक सिद्धियो की बडी प्रशसा की। परतु बुद्ध ने उसकी बात का खडन किया और कहा कि किसी महात्मा का महात्मापन कोई दूसरा महात्मा ही जान सकता है, गृहस्थ नही और महात्मा के महात्मापन की परीक्षा उसके नेम-धर्म, उसके आचरण विपत्ति मे उसके धैर्य तथा उसके दार्शनिक एव धार्मिक विचार-विमर्श से होती है।

१. मज्झिम० २, पृ० १२४—'भगवापि असीतिको अहं पि असीतिको।'
२. अंगुत्तर० १, पृ० १८८ केसपुत्त कोसल के अंतर्गत ही माना गया है।
३. संयुत्त० १, पृ० ६८-६९।
४. वही० १, पृ० ७८।

जब बुद्ध श्रावस्ती में निवास कर रहे थे उस समय पसेनदि ने एक यज्ञ किया और उसमें अनेक पशुओं की बलि दी। कुछ भिक्षुओं ने इसकी सूचना बुद्ध को दी तब उन्होंने कहा कि अस्समेध, पुरिसमेध, सम्मापास और वाजपेय यज्ञों में, जिनमें पशुओं की बलि दी जाती है मनोवांछित फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती। केवल उन्हीं धार्मिक कर्मों से इष्ट फल की प्राप्ति होती है, देवता प्रसन्न होते हैं और यजमान को पुण्य होता है जिनमें पशुओं की बलि नहीं दी जाती।[1]

राजा पसेनदि ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड और शास्त्रों का प्रबल समर्थक था, यह उसके उन ग्रामों के दानों से भी प्रमाणित होता है जिन्हें उसने विशिष्ट ब्राह्मण आचार्यों को उनके गुरुकुलों और छात्रों के अनुरक्षण के लिए दिया था (द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ९५)। वह किस प्रकार शनैः शनैः बुद्ध और उनके उपदेशों की ओर आकृष्ट हुआ, इसका वर्णन कुछ कथाओं में मिलता है।

यद्यपि त्रिरत्न में पसेनदि का पक्का विश्वास नहीं था तथापि वह संघ को दान और सहायता देने लगा। उसने ५०० भिक्षुओं को नित्य भोजन देने के लिए एक सत्र खोल दिया। वह वहां उत्तम और स्वादिष्ट पक्वान्न भेजा करता था, परन्तु भिक्षु लोग उसे न ग्रहण कर साधारण गृहस्थों के ही यहां भिक्षा मांगने जाया करते थे। राजा ने बुद्ध से इसकी शिकायत की कि भिक्षु लोग उसके सत्र में भोजन नहीं ग्रहण करते, और उनसे इसका कारण जानना चाहा। बुद्ध ने उत्तर दिया कि इसका कारण पसेनदि तथा राज-परिवार के व्यक्तियों के हृदय में संघ के प्रति श्रद्धा एवं भिक्षुओं के प्रति उचित आदर का अभाव है। इसके पश्चात् पसेनदि ने एक शाक्य कुमारी को अपनी रानी बनाकर शाक्यों से अपना नाता जोड़ने का निश्चय किया। परन्तु शाक्यों को अपनी वंश-शुद्धता का बड़ा अभिमान था, अतः उन्होंने पसेनदि से छल करके, उसे शाक्य राजकुमारी न देकर, उसके साथ वासभखत्तिया नाम की एक कन्या का विवाह कर दिया जो शुद्धोदन के उत्तराधिकारी महानाम की दासी के गर्भ से उत्पन्न पुत्री थी।

इस विवाह के कुछ दिनों बाद राजा प्रसेनजित् राजा अजातशत्रु के द्वारा आक्रान्त और पराजित हुआ। अपनी रक्षा के लिए भागते हुए उसने कोसल के प्रधान माली के उपवन में शरण ली। उस माली के मल्लिका नाम की एक बड़ी धर्मात्मा और रूपवती कन्या थी, जिसे पसेनदि ने अपनी पटरानी बना लिया। रानी मल्लिका बुद्ध की बड़ी भक्त थी।

१. संयुत्त० १, पृ० ७५-६; अंगुत्तर० २, पृ० ४२।

उसके पश्चात् उप्पलवण के एक धनकुवेर श्रेष्ठि के भिक्षु हो जाने पर पसेनदि ने उसकी पत्नी को अपनी रानी बना लिया। यह रानी भी बुद्ध की भक्त थी। पसेनदि के राजप्रासाद में ५०० रानियां थीं और सभी जेतवन में होनेवाले धार्मिक प्रवचनों को सुनना चाहती थीं, परन्तु पसेनदि ने उन्हें वहां जाने की अनुमति नहीं दी। हां, उसने बुद्ध से यह प्रार्थना अवश्य की कि वे एक भिक्षु को प्रतिदिन धार्मिक प्रवचन करने के लिए प्रासाद में भेज दिया करें। बुद्ध ने इस कार्य के लिए आनंद को नियुक्त कर दिया। परन्तु बुद्ध-द्वेषी अश्रद्धालु पंडितों को यह व्यवस्था अच्छी न लगी और उन्होंने आनंद तथा प्रासाद की स्त्रियों के चरित्र पर लांछन लगाने का प्रयत्न किया, यद्यपि इसमें वे सफल नहीं हुए।

मल्लिका पसेनदि की सबसे प्रिय रानी थी। जब उसने एक कन्या को जन्म दिया तो राजा प्रसन्न नहीं हुआ। वह बुद्ध के पास गया, परन्तु बुद्ध ने उससे स्त्री के गुणों की बड़ी प्रशंसा की। मल्लिका बुद्ध की इतनी भक्त थी कि उनके प्रत्येक शब्द को वह वेद-वाक्य मानती थी। एक बार उसने बुद्ध के इस वचन में अपना पूरा विश्वास प्रकट किया कि 'प्रियजन दुःख के कारण होते हैं,' परन्तु राजा को यह बुरा लगा। मल्लिका ने नालिजंघ ब्राह्मण के द्वारा बुद्ध से उक्त वचन की पुष्टि कराने के बाद राजा को उसका रहस्य समझाकर उसे यह विश्वास करा दिया कि बुद्ध का वचन सत्य है। उसने राजा से कहा कि 'वजिरा (मल्लिका की कन्या और अजातशत्रु की रानी), वासभखत्तिया, उनका पुत्र विडूडभ, मैं और कासिकोसल के निवासी प्रजाजन निस्संदेह आपको परम प्रिय हैं, परन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि हम सभी जरा और मृत्यु के अधीन हैं और इस कारण अंत में दुःख के कारण होंगे?'[1] एक अन्य अवसर पर बातचीत में पसेनदि ने मल्लिका से स्वीकार किया कि मनुष्य को अपने आपसे बढ़कर कोई भी प्रिय नहीं होता, और बुद्ध के वचन द्वारा इसकी भी पुष्टि हुई।[2] रानी मल्लिका की मृत्यु के पश्चात् राजा सान्त्वना के लिए बुद्ध के पास गया। अपनी दादी की मृत्यु के पश्चात् भी वह सान्त्वना के लिए बुद्ध के पास गया था।[3] राजा के सोमा और सकुला नाम की दो बहनें थीं, वे भी बुद्ध की बड़ी भक्त थीं।[4]

१. मज्झिम० २, पृ० १०९ तथा आगे।
२. संयुत्त० १, पृ० ७५।
३. अंगुत्तर० ३, पृ० ५७, ९७।
४. मज्झिम० २, पृ० १२५।

ब्राह्मणों के प्रति राजा का पक्षपात होते हुए भी, निकायों में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि धीरे-धीरे वह अपनी वृद्धावस्था तक बुद्ध का सच्चा उपासक बन गया। कोसल संयुत्त[1] में अनेक ऐसे प्रवचन हैं जो विशेष रूप से पसेनदि के ही लिए किए गए थे। उनमें निम्नलिखित उपदेश दिए गए हैं—

(क) लोभ, द्वेष और मोह दुःख के प्रधान कारण हैं।

(ख) सभी ब्राह्मण और सभी क्षत्रिय, चाहे वे कितने ही धनी क्यों न हों, जरा और मृत्यु के अधीन हैं, इसलिए उन्हें धर्म और सदाचार का पालन करना चाहिए।

(ग) मन, वचन, अथवा कर्म से जो मनुष्य कोई पाप करता है वह अपने आत्मा का भी प्रिय नहीं करता, क्योंकि उसके पापों के कारण उसकी आत्मा को अगले जन्मों में दुःख भोगना पड़ता है।

(घ) कोई भी सेना मनसा, वाचा अथवा कर्मणा पाप करनेवाले की दुःख से रक्षा नहीं कर सकती।[2]

(ङ) ऐसे विरले ही लोग होंगे जो सांसारिक भोग-विलास में डूबे रहने पर भी अपने ऊपर संयम रख सकें।

(च) कितने ही संपन्न लोग भी अपने सांसारिक लाभों के लिए जान-बूझकर असत्य भाषण करते हैं।

(छ) मिताहारी होना मनुष्य के लिए कल्याणकर है (पसेनदि ने एक ब्राह्मण युवा को इसलिए नियुक्त किया था कि वह भोजन के समय उसे इस वचन का स्मरण दिलाया करे)।

(ज) अपने राजपुरुषों और परिचरों को परिश्रमी बनाने के लिए राजा को स्वयं परिश्रमी बनना चाहिए।

(झ) बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अष्टांग मार्ग मनुष्य का सर्वोत्तम मित्र और गुरु है।

(ञ) कृपणता मनुष्य को कहीं का नहीं रखती।

(ट) दान ऐसे संतों को देना चाहिए जो उसके पात्र हों, जिनके विकार नष्ट हो गए हों और जो उच्च आध्यात्मिक भूमिका पर पहुंच चुके हों।

एक बार सावत्थी और साकेत के मार्ग के मध्य में स्थित तोरणवत्थु में राजा पसेनदि

१. संयुत्त० १, पृ० ६८ और आगे।

२. मज्झिम०। २, पृ० ११४। आनंद राजा को समझाता है कि कायसमाचार, वाचिसमाचार और मनोसमाचार क्या है।

की भेंट खेमा भिक्खुणी से हुई जो पहले राजा बिंबिसार की रानी थी और अपनी सुंदरता के के लिए प्रसिद्ध थी। अब एक सत भिक्खुणी के रूप में उसकी ख्याति सुनकर राजा उसके पास गया और उससे प्रश्न किया कि मृत्यु के पश्चात तथागत का अस्तित्व रहता है या नहीं? खेमा भिक्खुणी ने कहा कि इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह तो वैसा ही प्रश्न है जैसे कोई राजा से प्रश्न करे कि क्या तुम अपने गणक की सहायता से यह बता सकते हो कि गंगा में कितने सिकता-कण हैं अथवा समुद्र में कितना जल है? खेमा ने राजा को समझाया कि सभी मनुष्य तथागत को मन तथा पंचभूतों अर्थात् पंचस्कंधों का बना हुआ एक मनुष्य समझते हैं, परंतु तथागत तो पंचस्कंधों (खंध) से सर्वथा रहित हैं, अतः उनका रूप समुद्र के समान ही अमेय और अज्ञेय है।[1]

राजा पसेनदि जब अस्सी वर्ष का हुआ तब वह बुद्ध का परम भक्त हो गया। यह घटना उस समय घटी जब बुद्ध शाक्यों के राज्य के अंतर्गत मंडलरूप में ठहरे हुए थे। राजा वहां नगरक से अपने प्रधानमंत्री [illegible] के साथ गया। बुद्ध के प्रकोष्ठ में प्रविष्ट होने के पहले राजा ने अपना मुकुट और खड्ग दीर्घकारायण को सौंप दिया। कहते हैं कि उस समय दीर्घकारायण राजा से अप्रसन्न था, अतः अनायास अवसर हाथ आया देख वह असि और मुकुट लेकर वहां से भाग आया। ये दोनों वस्तुएं उसने राजा के पुत्र और सेनापति विडूडभ को सौंप दीं और उसे कोसल का राजा बना दिया। राजा पसेनदि बुद्ध से घूमकर बातें करता रहा और बौद्ध संघ के भिक्षुओं की उसने बड़ी प्रशंसा की। उसने कहा कि मैं 'अनेक संन्यासियों को जानता हूं जो १० से ४० वर्ष तक गृह-त्यागी रहकर पुनः गृहस्थ जीवन में लौट आए और विषयभोग में पड़ गए'। परंतु किसी बौद्ध भिक्षु को ऐसा करते मैंने नहीं देखा। मैंने पिता माता और पुत्र को तथा राजाओं और उनके सामंतों को परस्पर लड़ते देखा है परंतु बौद्ध भिक्षुओं को सदा शांति और मेल से रहते पाया है। मैंने ऐसे संन्यासियों को देखा है जो रुग्ण होकर पीले पड़ गए हैं, परंतु बौद्ध भिक्षुओं में किसी को ऐसा नहीं पाया। मैंने न्यायालयों में लोगों को गाली मारते हुए सुना है परंतु जिस सभा में बुद्ध का प्रवचन होता है उसमें मैंने गाली मारने की कौन कहे, कभी किसी को खांसते हुए भी नहीं सुना। वहां कोई प्रश्न भी नहीं करता, जैसा कि मैंने अन्य धर्माचार्यों की सभाओं में लोगों को करते देखा

१. संयुत्त० ४, पृ० ३७७ 'तथागतो गम्भीरो अप्पमेय्यो दुप्परियोगाहो सेय्यथापि महासमुद्दो', अंगुत्तर १, पृ० २२७।

है। अंत में राजा ने अपने इसिदत्त और पूरण नामक दो अधिकारियों की चर्चा की, जो अपने स्वामी और अन्नदाता से अधिक बुद्ध का आदर करते थे। इस प्रकार राजा पसेनदि ने बुद्ध के प्रति अपना विशेष आदरभाव प्रकट किया।[1] अंगुत्तर निकाय[2] के अनुसार राजा पसेनदि जेतवन में बुद्ध के पास उस समय गया था जब वह एक युद्ध में विजय प्राप्त करके लौटा था। वह बड़े आदरभाव के साथ बुद्ध के निकट गया और निम्नलिखित कारणों से उसने उनकी प्रशंसा की—

(१) बुद्ध ने अपना जीवन मनुष्य के कल्याण के लिए अर्पित कर दिया था, (२) वे पूर्ण सदाचारी थे, (३) उन्हें अरण्य-वास में आनंद मिलता था, (४) वे अपने भोजन, वस्त्र और अन्य आवश्यक वस्तुओं के संबंध में यथालाभ संतोष करते थे, (५) वे सचमुच दान और प्रशंसा के पात्र थे, (६) एकांतवास, सदाचार, ध्यान आदि विषयों की चर्चा करने में उन्हें आनंद मिलता था और (७) उन्हें षडभिज्ञाएँ प्राप्त थीं।

राजा पसेनदि के कार्याधिकारी

राजा पसेनदि के इसिदत्त और पूरण नाम के दो कार्याधिकारी थे। उनकी त्रिरत्न में बड़ी श्रद्धा थी। सावत्थी में वर्षा-निवास के बाद जब बुद्ध वहाँ से जाने लगे तो वे दोनों बड़े दुःखी हुए। वे इसलिए बड़े चिंतित रहते थे कि जब राजा पसेनदि अपनी दो सुकुमार और सुंदरी रानियों के साथ, एक को अपने आगे और एक को पीछे बैठाकर, हाथी पर सवार होता था तो उसकी रक्षा का भारी उत्तरदायित्व उन्हीं दोनों अधिकारियों को वहन करना पड़ता था। एक ओर उन्हें हाथी को देखना पड़ता था, दूसरी ओर दोनों रानियों को, और सबसे बढ़कर उन्हें उन दोनों मोहिनी नारियों से अपने को बचाकर रखना पड़ता था। बुद्ध ने उन्हें त्रिरत्न में दृढ़ विश्वास रखने तथा कृपणता छोड़कर उदारतापूर्वक दान देने का (जिसके लिए वे पहले ही से प्रसिद्ध थे) उपदेश दिया।

पूरण की मिगसाला नाम की एक कन्या थी, जो उपासिका हो गई थी। उसने एक बार आनंद से पूछा कि उसका पिता, जो ब्रह्मचारी था, और इसिदत्त, जो अपनी स्त्री के साथ रहता था, दोनों ही क्यों मृत्यु के पश्चात् 'सकदागामी' पद के अधिकारी हुए? आनंद ने यह प्रश्न बुद्ध के सामने उपस्थित किया, तब बुद्ध ने समझाया कि

१. मज्झिम० २, पृ० ११८ तथा आगे।
२. अंगुत्तर० ५ पृ० ६५।

विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के लिए आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न मार्ग होते हैं।[1]

राजा पसेनदि के राजगुरु गग्ग के पुत्र अहिंसक का चरित्र बड़ा ही विचित्र और उदात्त था। उसका 'अहिंसक' नाम तो लोग प्राय भूल गए और पूर्वोल्लिखित कारणों[2] से वह अगुलिमाल के नाम से दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया। एक दिन जब पसेनदि ५०० अश्वारोही योद्धाओं के साथ माहिंसक (डाकू) अगुलिमाल को बंदी करने के लिए जा रहा था, तो उसने बुद्ध से मिलकर उन्हें अपना उद्देश्य बतलाया। बुद्ध ने उससे पूछा कि यदि तुम अगुलिमाल को सिर मुँडाए और पीला वस्त्र पहने हुए भिक्षु के रूप में पाओ तो क्या करोगे? तब पसेनदि ने उत्तर दिया कि मैं उसका उचित सम्मान करूंगा। तब बुद्ध ने उसका ध्यान अपने दाहिने पार्श्व में बैठे हुए एक भिक्षु की ओर आकर्षित किया और कहा कि अब इससे भय का कोई कारण नहीं है। जब अगुलिमाल पुरवासियों के पास भिक्षा मांगने के लिए जाता था तो लोग उससे घृणा करते थे और कभी-कभी उसे मारते-पीटते भी थे। एक दिन जब अगुलिमाल भिक्षा मांगने के लिए गया हुआ था तो एक स्त्री को असह्य प्रसव-वेदना से छटपटाते हुए देखा। लौटकर उसने बुद्ध को यह समाचार सुनाया, तब उन्होंने उसे फिर लौटकर उस स्त्री के पास जाने की आज्ञा दी और कहा कि तुम जाकर उससे इस प्रकार कहो—"यतो अह भगिनी जातो नाभिजानामि सचिच्चा पाण जीविता वोरोपेता, तेन सच्चेन सोत्थिते होतु सोत्थि गब्भस्सति" (अर्थात् मेरे इस सत्य वचन के प्रभाव से कि मैंने अपने जन्म से लेकर आज तक कभी जान-बूझकर किसी जीव की हत्या नहीं की, तुम स्वस्थ हो जाओ और सुख से प्रसव करो)। इस पर अगुलिमाल ने बुद्ध की ओर संदेह की दृष्टि से देखा, तब उन्होंने बतलाया कि 'जातो' से मेरा तात्पर्य एक दीक्षा-प्राप्त भिक्षु के रूप में तुम्हारे पुनर्जन्म से है। अगुलिमाल के इस सत्य कर्म का अभीष्ट फल हुआ और कोसल भर में उसका यश फैल गया।[3]

कौशाम्बी का राजा उदयन (उदेन)

कौशाम्बी के राजा उदेन के पास संभवत हाथियों की एक शक्तिशाली सेना थी,

१. अंगुत्तर० ३, पृ० ३४८।
२. द्रष्टव्य अध्याय ४, पृ० ८६।
३. मज्झिम० २, पृ० ९७ तथा आगे।

इस कारण वह एक बहुत बड़े हस्तिपालक के रूप में प्रसिद्ध हो गया और उसके विषय में कहानियाँ प्रचलित हो गई। कहा जाता है कि हाथी पालने की कला में अपनी इस विशेष निपुणता के द्वारा ही वह अवन्ती के राजा चंड पज्जोत की कन्या वासवदत्ता का हरण करने में समर्थ हुआ। घोषक सेट्ठि उसका कोषाध्यक्ष था, जिसने अपने एक मित्र की पुत्री सामावती को अपनी कन्या के रूप में गोद ले लिया था। सामावती अत्यन्त सुंदरी थी। राजा उदेन उसपर मोहित हो गया और घोषक की इच्छा के विरुद्ध उसने उसे अपनी रानी बना लिया। उसने मागंदिया नाम की एक और सुंदरी से विवाह किया जो कुरु देश के एक ब्राह्मण की कन्या थी। जब बुद्ध कौशांबी के तीन सेट्ठियों की प्रार्थना पर वहां गए थे तो सामावती की परिचारिका खुज्जुत्तरा बुद्ध के उपदेश सुनने के लिए जाया करती थी। वह त्रिपिटक के ज्ञान में प्रवीण हो गई और बुद्ध से सुने हुए उपदेशों का वह अनुवचन कर सकती थी। रानी सामावती और उसकी सखियों ने खुज्जुत्तरा से बुद्ध के उपदेशों का अनुवचन सुना और उन्हें त्रिरत्न में श्रद्धा हो गई। जब कभी बुद्ध राजप्रासाद के निकट से होकर जाते तो वे गवाक्षों में से उन्हें देखती और उनके प्रति सम्मान प्रकट किया करती थीं। रानी मागंदिया ने इसे देख लिया और इसकी सूचना राजा को दे दी। बुद्ध और उनके शिष्यों के प्रति राजा के भाव बहुत अच्छे न थे। मागंदिया ने भिक्षुओं को, जिनमें आनंद भी था, अपशब्द कहने और अपमानित करने के लिए कुछ मनुष्यों को नियुक्त किया और आनंद ने बुद्ध से इसकी शिकायत की। बुद्ध ने आनंद को अपशब्दों और अपमान की परवाह न करके सहनशीलता धारण करने का उपदेश दिया। मागंदिया ने ऐसा प्रपंच रचा कि राजा सामावती से बहुत अप्रसन्न हो गया। वह उसका वध करा देना चाहता था, परंतु किसी अदृष्ट शक्ति के प्रभाव के कारण वह इसमें असफल रहा और रानी बच गई। पीछे राजा ने पश्चात्ताप किया और प्रतिदिन राजप्रासाद में भिक्षुओं को भोजन कराने की सामावती की प्रार्थना स्वीकार कर ली। वह राजप्रासाद की स्त्रियों द्वारा भिक्षुओं को वस्त्रों का प्रचुर दान दिए जाने पर आपत्ति करता था, परंतु जब आनंद ने उसे बतलाया कि भिक्षु लोग उन वस्त्रों का किस प्रकार उपयोग करते हैं, तब उसके विचार बदल गए। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि बुद्ध से कभी उसकी भेंट हुई। केवल एक प्रवचन संयुत्त निकाय (४, पृ० ११०) में है जिसमें पिंडोल भरद्वाज ने राजा उदेन को इसका कारण बतलाया है कि क्यों युवकगण भिक्षु बनकर बुद्ध के संघ में सम्मिलित हो जाते थे। इस प्रवचन के अनंतर राजा ने त्रिरत्न में अपनी आस्था प्रकट की।

किंतु राजा उदेन के पुत्र बोधि राजकुमार की बुद्ध के प्रति अपने पिता की अपेक्षा

कहीं अधिक श्रद्धा थी। उसने भग्ग देश में सुसुमार गिरि पर बने हुए अपने कोकनद नामक राजप्रासाद में गृहप्रवेश के निमित्त बुद्ध को निमन्त्रित किया। उसने बुद्ध के लिए सीढ़ियों पर बहुमूल्य कालीन बिछाए, यद्यपि उन्होंने उसपर से चलना अस्वीकार कर दिया, क्योंकि वे अपने शिष्यों के सामने विलासिता का बुरा उदाहरण नहीं रखना चाहते थे। बुद्ध ने उसके प्रासाद में भोजन करने के उपरान्त राजकुमार को धर्म का उपदेश दिया, जिसमें उन्होंने बतलाया कि कठोर तपों से सदैव सुख की प्राप्ति नहीं होती। उन्होंने स्वयं तप करके इसका अनुभव प्राप्त किया था। इसके अनन्तर उन्होंने उसे समझाया कि जिस प्रकार संसार में किसी भी कला या शिल्प आदि को सीखने के लिए श्रद्धा, शक्ति, शुद्ध व्यवहार तथा उत्तम स्वास्थ्य की आवश्यकता होती है उसी प्रकार भिक्षुओं के लिए भी ज्ञान में पूर्णता प्राप्त करने के लिए ये गुण आवश्यक है। इस उपदेश से राजकुमार के ज्ञाननेत्र खुल गए और वह बुद्ध का श्रद्धालु उपासक हो गया। उस समय राजकुमार ने कहा कि जब मैं बालक था तभी मेरी माता की इच्छा थी कि मैं बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करूँ, अतः मेरा बुद्ध का उपासक बन जाना मेरी माता की उस इच्छा के अनुरूप ही है।

अध्याय ७

उपासकों की साधना

कोसल के कुछ ब्राह्मण आचार्यों और गृहस्थों को यह जिज्ञासा हुई कि क्या ब्राह्मण आचार्यों की भाँति बुद्ध ने भी अपने शिष्यों के लिए साधना का कोई क्रम निर्धारित किया है? सुभ तोदेय्यपुत्त का कथन था कि ब्राह्मणों ने श्रेय-साधन के लिए पाँच नियम बतलाए हैं—(१) सत्य (सच्च), (२) तप (तप), (३) शुद्ध और पवित्र जीवन (ब्रह्मचरिय), (४) अध्ययन (अज्झेसन) और (५) दान या त्याग (चाग)।[1] बुद्ध ने सुभ-माणव से प्रश्न किया कि 'क्या तुम किसी ऐसे ऋषि या आचार्य को जानते हो जिसे इन नियमों के अनुसार आचरण करने का फल प्राप्त हुआ हो?' सुभ ने इसका नकारात्मक उत्तर दिया। बुद्ध ने पूछा कि क्या इन नियमों के अनुसार आचरण करने का अभ्यास गृहस्थ या सन्यासी लोग करते हैं? सुभ ने उत्तर दिया कि इनका अभ्यास गृहस्थ लोग करते हैं, परन्तु गृहत्यागी लोग इनका पालन अधिक सुचारु रूप से कर सकते हैं। बुद्ध उसके इस उत्तर से सहमत हुए और उन्होंने उससे कहा कि इन साधनाओं में से प्रत्येक के द्वारा द्वेष, वैर आदि विकारों से मन को मुक्त करके उसे ध्यान के योग्य बनाने में सहायता मिलती है। सत्य, तप, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और त्याग से मनुष्य को आन्तरिक शान्ति और आनंद प्राप्त होता है और ध्यान में एकाग्रता आती है। गृहस्थ लोग इनकी साधना के द्वारा अपना कल्याण-साधन कर सकते हैं, यद्यपि उन्हें इनसे उच्च आध्यात्मिक भूमिका तक पहुँचने में प्रत्यक्ष रूप से सहायता नहीं मिल सकती।[2]

उपासक—सुभ तोदेय्य द्वारा व्याख्यात ब्राह्मणों का उपर्युक्त साधना-क्रम मुख्यत गृहस्थों के लिए था, गृहत्यागियों के लिए नहीं, जिनको विशेष रूप से लक्ष्य करके बुद्ध ने साधना का मार्ग निर्दिष्ट किया था। अत बुद्ध ने सुभ से कहा कि मैंने अपने उपासकों के लिए कुछ नियम और कर्तव्य निर्धारित कर दिए हैं जो ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित साधनाक्रम के समान ही फलप्रद हैं। वस्तुत बुद्ध ने उपासकों के लिए कोई

१. **मज्झिम**० २, पृ० १९९।
२. **वही** २, पृ० २०६।

साधना-पद्धति निश्चित नहीं की।[1] परन्तु उनके पथ-प्रदर्शन के लिए दिए गए उनके कुछ उपदेश बिखरे हुए मिलते हैं। इन उपदेशों को एकत्र संकलित कर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे बौद्ध धर्म के अंतर्गत उपासकों के स्थान की कल्पना की जा सकती है। कपिलवस्थु के शाक्य राजपुत्र महानाम ने बुद्ध से यह प्रश्न किया था कि बौद्ध उपासक की परिभाषा क्या है। बुद्ध ने उत्तर दिया कि जो कोई व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति वा धर्म का हो, निम्नलिखित नियमों का पालन करता है उसे मैं उपासक मानता हूँ—

(१) **त्रिशरण**—उपासक के लिए बुद्ध, धम्म और संघ—इन तीनों की शरण लेना आवश्यक है।

(२) **पंचशील**—उसे पंचशील का पालन करना चाहिए, अर्थात् जीव-हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य-भाषण तथा मदिरापान कभी न करना चाहिए।

(३) **सद्धा** (श्रद्धा)—उसे बुद्ध को सृष्टि-तत्त्व के ज्ञाता, मनुष्यों और देवों के सर्वश्रेष्ठ गुरु और पथ-प्रदर्शक एवं सम्यक् संबुद्ध मानकर उनमें दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए।

(४) **चाग** (त्याग)—उसे कृपणता त्याग कर उदारतापूर्वक धर्म के कार्यों में धन व्यय करना चाहिए और याचकों को दान देने के लिए सदा समुत्सुक रहना चाहिए।

(५) **पञ्ञा** (प्रज्ञा)—उसे अपनी बुद्धि से विचार करना चाहिए और पदार्थों की उत्पत्ति एवं नाश के रहस्य तथा दुःख से मुक्त होने के उपाय को जानने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे लोभ (अभिज्झा), द्वेष (व्यापाद), आलस्य (थीनमिद्ध) औद्धत्य (उद्धच्च-कुकुच्च) एवं विषय में संशय-भाव (विचिकिच्छा) का सर्वथा त्याग करना चाहिए।[2]

१. सुत्तनिपात (सावत्थी में प्रोक्त धम्मिक सुत्त), पृ० ६९-७०—

"गहट्ठवत्तं पन वो वदामि
यथकारो सावको साधु होति
नो हेस लब्भा सपरिग्गहेव
फस्सेनं यो केवलो भिक्खु धम्मो।"

(मैं तुम्हें गृहस्थों का धर्म बतलाता हूँ जिसके द्वारा मनुष्य अच्छा उपासक बन सकता है, परंतु सांसारिक बंधनों में फँसे हुए मनुष्य के लिए भिक्षु-धर्म सुलभ नहीं है।)

२. संयुत्त० ५, पृ० ३९५।

३. अंगुत्तर० २, पृ० ६७।

(६) **सुत्त** (स० श्रुत)--उसे धार्मिक प्रवचनों को ध्यानपूर्वक सुनना और उपदेशों पर मनन करना चाहिए।

कुछ उपासकों को बुद्ध के प्रवचनों का अध्ययन करने का भी उपदेश किया गया था। धम्मिकसुत्त[1] में तथा अन्यत्र बुद्ध ने उपासकों का यह धर्म बतलाया है कि वे दस शीलों में से प्रथम पाच का, जिनका ऊपर वर्णन किया गया है, पालन करें और जो अपनी साधना में और अधिक गहराई तक पैठना चाहें उन्हें तीन और शीलों का पालन करना चाहिए, जो निम्नलिखित है--

(१) रात्रि में भोजन न करना।

(२) माला और सुगंधित पदार्थों का सेवन न करना।

(३) धरती पर साधारण शय्या बिछाकर सोना।

बुद्ध ने इन आठ शीलों का पालन करनेवालों की बड़ी प्रशंसा की है। उनके मत में उन्हें भारत के सोलह महाजनपदों की प्रभुता से भी बढ़कर महान् फल की प्राप्ति होती है (महप्फलो महानिसंसो महाजुतिको महाविप्पहारो) और वे दिव्य लोकों में जन्म लेकर दीर्घ जीवन और दिव्य सुखों के अधिकारी होते हैं।

उपासक साधारणत उपोसथ के दिन अर्थात् मास की आठवीं, चौदहवीं और पद्रहवीं तिथियों को उक्त अष्टशीलों का पालन करने की प्रतिज्ञा करता था और ऐसा करने के लिए वह प्राय विहार में रहता था। उपोसथ के बाद भिक्षुओं को भोजन कराना उसका कर्तव्य था।

एक दूसरे अवसर पर महानाम के साथ धर्म-चर्चा के प्रसग में बुद्ध ने कहा था कि उपासक को केवल स्वय ही उपर्युक्त छ नियमों का पालन नहीं करना चाहिए, अपितु दूसरों को भी उसके लिए प्रेरित करना चाहिए। सच्चे उपासक को मागलिक विधि-कर्मों (कोतूहल-मगलिकों) की अपेक्षा अपने ही सत्कर्मों पर अधिक निर्भर रहना चाहिए। दान भी उसे केवल सद्धर्मियों को ही देना चाहिए, सद्धर्म के बाहर के लोगों को नहीं (नो इतरा बहिद्धा दक्खिणेय्यम्)।[2]

कई अवसरों पर बुद्ध ने आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत स्तर पर पहुँचे हुए उपासकों को और अधिक कठिन साधनाएं करने की आज्ञा दी थी। एक बार जब बुद्ध भग्ग देश में समुमार गिरि पर भेसकलावन मिगदाय में ठहरे हुए थे तो एक ऐसा ही उपासक

१. **सुत्तनिपात, अगुत्तर० १, पृ० २१४; ४, पृ० २५४, २५७-८, २६२।**
२. **अंगुत्तर० ३, पृ० २०६; ४, पृ० २८१।**

नकुलपिता गृहपति उनके पास गया और उनसे पूछा कि 'अब मैं वृद्ध हो गया हूँ, अत इस वृद्धावस्था म मुझे क्या करना चाहिए।' बुद्ध ने उसे अपने मन को अनातुर (स्वस्थ) रखने की सलाह दी। तब वृद्ध से इसके विषय मे और कुछ न कहकर उसने सारिपुत्त से बुद्ध के उस उपदेश का आशय पूछा। सारिपुत्त ने कहा कि अनातुर से भगवान् का तात्पर्य यह है कि तुम्हे अपने शरीर के पचस्कधो से किसी प्रकार का सबध नही रखना चाहिए।[1] अर्थात् तुम्हे यह जानना चाहिए कि तुम्हारा स्वरूप रूप, वेदना आदि से भिन्न है। तुम रूप, वेदना आदि नही हो—न रूप, वेदना आदि तुम्हारे गुण या धर्म है, न तुम रूप वेदना आदि मे प्रतिष्ठित हो और न रूप, वेदना आदि तुममे प्रतिष्ठित है। जब बुद्ध वाराणसी मे इसिपत्तन मे ठहरे हुए थे उस समय धम्मदिण्ण उपासक उनके पास गया और उनसे कुछ उपदेश देने की प्रार्थना की। तब बुद्ध ने उसे अपने प्रवचनो (सुत्तो) का अध्ययन करने का आदेश दिया, विशेषत उन प्रवचनो का जिनमे लोकोत्तर (लोकुत्तर) विषयो की तथा सासारिक पदार्थों के अनस्तित्व की चर्चा है। उपासक ने निवेदन किया कि भगवन्! मै तो गृहस्थ हूँ, मेरे पुत्र है, सुवर्ण और रजत का व्यापार करता हूँ और बडे सुख से जीवन व्यतीत करता हूँ, अत अधिक गभीर सुत्तो का अध्ययन करना मेरे लिए सभव नही है।' तब बुद्ध ने उसे बुद्ध, धम्म और सघ मे दृढ श्रद्धा रखने का उपदेश किया और कहा कि इससे तुम्हे सोतापत्ति अवस्था प्राप्त होगी। बुद्ध, धम्म और सघ मे श्रद्धा रखने से मनुष्य स्वर्ग मे जन्म पाने का भी अधिकारी हो जाता है।[2] बुद्ध ने यह भी कहा कि कुछ गृहस्थो को अष्टाग मार्ग का आचरण करने से उतना ही फल हो सकता है जितना गृहत्यागी भिक्षुओ का।[3]

गृहस्थो के लिए विहित जो सब से बडा धर्म हो सकता है उसे अनुरुद्ध ने पचकग ठपति को उस समय बतलाया था जब बुद्ध सावत्थी मे ठहरे हुए थे। पचकग ठपति ने अनुरुद्ध से पूछा कि गृहस्थो के आचरण के लिए विहित 'अप्पमाण चेतो विमुत्ति' और 'महग्गत चेतो विमुत्ति' के अर्थो मे अतर क्या है? अनुरुद्ध ने उत्तर दिया कि प्रथम का अर्थ है अपरिमित क्षेत्र मे मैत्री (मेत्ता), करुणा, मुदिता और समभाव (उपेक्खा) का अभ्यास करके मानसिक मुक्ति प्राप्त करना और द्वितीय का अर्थ है

१. पच स्कंध है—रूप, वेदना, सज्ञा (सञ्ञा), सस्कार (सखारा) और विज्ञान (विञ्ञाण)।

२. संयुत्त० ४, पृ० २७४; ५, पृ० ४०७।

३. वही ५, पृ० १९।

इनका अभ्यास परिमित क्षेत्र में करना, यद्यपि यह क्षेत्र एक ग्राम से संपूर्ण पृथ्वी विस्तृत हो सकता है। भाव यह है कि गृहस्थ को अपने पुत्र के प्रति उसक प्रेम है उसे क्रमश पहले अपने ग्राम के निवासियों तक, फिर नगर के लोगों फिर देशवासियों तक और अन्त में विश्व भर के मनुष्यों तक विस्तृत करने का उ दिया गया है। अर्थात् उसे सबसे अपने पुत्र के समान ही प्रेम करना चाहिए। इस प्र गृहस्थ को क्रमश अपनी 'मैत्री', 'करुणा', 'मुदिता' और 'उपेक्षा' का वि करना पड़ता है। उक्त दोनों प्रकार का सफल अभ्यास करनेवाले मनुष्य देवयों जन्म पाते हैं, परन्तु प्रथम श्रेणी के लोग (अपरिमित क्षेत्र में अभ्यास करनेव द्वितीय श्रेणी के (परिमित क्षेत्रवाले) लोगों की अपेक्षा अधिक तेजस्वी और दी मान् होते हैं।[1] बुद्ध के सर्वोत्तम उपासक चित्त-गृहपति और हत्थक-आलवक थे उपासिकाओं में सर्वश्रेष्ठ थीं खुज्जुत्तरा और वेलुकटकीया नंदमाता।[2]

दान—दान देने के संबंध में उपासक को कई प्रकार के आदेश दिए गए हैं। की आज्ञा के अनुसार दान ऐसे ही व्यक्तियों को देना चाहिए जो दान के पात्र हों, उच्च आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचे हुए भिक्षु या परिव्राजक, जो अनन्य भाव से अ साधना में लीन रहते हों। जैसे राजा अपने शिल्पियों और योद्धाओं में से सर्वोत्तम चुनकर उन्हीं को पुरस्कृत करता है, अयोग्य लोगों को नहीं उसी प्रकार गृहस्थ दान देने में विवेक से काम लेना चाहिए।[3] बुद्ध का कथन था कि दान वही सार्थ है जिसमें दाता और गृहीता दोनों के भाव पवित्र हों और दोनों शील का पालन क वाले हों।[4] उन्होंने यह भी बतलाया कि दान देकर दाता को यह नहीं समझना चा कि मैंने कोई बड़ा पुण्य किया जिसके फलस्वरूप मुझे धन संतान, ऐहिक सुख मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग मिलेगा।[5] बौद्ध भिक्षुओं को आदेश था कि वे ऐसे लोगों का ग्रहण न करें जो भिक्षुओं के प्रति आदर का व्यवहार न करते हों और त्रिरत्न की नि करते हों।[6] भिक्षु-संघ को भोजन, वस्त्र शय्या तथा औषध का दान करने का यह

१. मज्झिम० ३, पृ० १४४ तथा आगे।

२. संयुत्त० २, पृ० २३६। चित्त गहपति के संबंध में विशेष विवरण के लि संयुत्त० ४ भी द्रष्टव्य है।

३. सुत्तनिपात, पृ० ८८; संयुत्त० १, पृ० ९९।

४. अंगुत्तर० २, पृ० ८१।

५. वही ४, पृ०२३९।

६. वही ५, प० ३४५।

बतलाया गया है कि दाता इस लोक मे पुण्य और यश का भागी होता है और मृत्यु के पश्चात् उसे स्वर्ग मिलता है।

अनाथपिंडिक—बुद्ध अनाथपिंडिक को सघ के दाताओ मे सर्वश्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशसा करते थे, अत उन्होंने दान के विषय मे उसे कई अनुदेश दिए। उन्होंने उससे कहा कि 'तुम्हे केवल भिक्षुओ को भोजन, वस्त्र और औषध का दान करके ही सतोष नही करना चाहिए, अपितु प्रीति (पीति) का अर्थात् मन को प्रसन्न रखने का भी अभ्यास करना चाहिए, जिससे सत्कर्म वा दुष्कर्म जनित सुख वा दु ख का तुम्हारे मन पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा।' भिक्षुओ को तुम छोटी या बड़ी जिस किसी भी वस्तु का दान दो वह दान पूर्ण श्रद्धा के साथ दिया जाना चाहिए।' बौद्ध धर्म मे बतलाया गया है कि किसी भी प्रकार का दान देने से मनुष्य को यश प्राप्त होता है और वह सतो तथा अन्य लोगो का प्रिय हो जाता है। परन्तु उत्तम वस्तु का दान करने से उत्तम जीवन, उत्तम वर्ग, सुख और यश तथा मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग प्राप्त होता है। सबसे उचित दान वह है जो किसी सत को उस अवसर पर दिया जाय जब वह किसी रोगी को देखने वा दुर्भिक्ष-पीडित लोगो की सहायता करने जा रहा हो।[3] एक बार कोसल की राज-कुमारी सुमना ने प्रश्न किया कि यदि दो समान श्रद्धा, शील और ज्ञानवाले मनुष्यो मे एक दाता (दायक) हो और दूसरा अ-दाता (अदायक), तो उन दोनो के भावी जीवन मे कोई अतर होगा या नही? तब बुद्ध ने उत्तर दिया कि दोनो का जन्म देव अथवा मनुष्य योनि मे होगा और दोनो को समान आयु, वर्ण, सुख और यश प्राप्त होगा, परन्तु अ-दाता की अपेक्षा दाता के सुख आदि अधिक उत्तम प्रकार के होगे।[4]

बुद्ध ने यह कहकर अनाथपिंडिक की प्रशसा की थी कि 'उसका धन-सपत्ति अर्जन करना सार्थक है, क्योकि एक तो वह उपासको के लिए विहित नियमो का पालन करता है, दूसरे इसलिए भी कि वह धर्मपूर्वक तथा कठिन परिश्रम करके धनोपार्जन करता है। इस प्रकार अर्जित धन-सपत्ति से वह अपने को तथा अपनी स्त्री, पुत्रो, भृत्यो और मित्रो को सुखी कर सकता है, अग्नि, चोरो तथा अन्य प्रकार के सकटो से अपने गृहादि की रक्षा कर सकता है और अपने सबधियो, अतिथियो, पितरो, शासको, देवताओ

१. अंगुत्तर० ३, पृ० २०६–७।
२. वही ४, पृ० ३९२।
३. वही २, पृ० ६३; ३, पृ० ४१, ४२।
४. वही ३, पृ० ३२–३३।

और धर्मप्राण सतों को उनका उचित भाग दे सकता है। इसके अतिरिक्त उसको इस बात का सतोष है कि उसके पास धन है जिससे वह धर्म कर सकता है, अपने को ऋण से मुक्त रख सकता है और मन, वचन और कर्म से पवित्र रह सकता है।"[1] उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि बुद्ध अनाथपिंडिक के गृहस्थ एवं अतुल-वैभव-सपन्न होने पर भी उसकी प्रशसा करते थे।

कुछ ऐसे सामान्य आदेश भी हैं जो सभी गृहस्थों को लक्ष्य करके दिए गए थे।[2] जैसे (१) गृहस्थों के लिए शस्त्रों और जीवित प्राणियों का तथा मास, मदिरा एवं विष का व्यापार करना वर्जित है। (२) परिवार में पुत्रों का कर्तव्य है कि वे अपने माता-पिता की सेवा देवता के समान करें और अपने वृद्ध गुरुओं को भोजन, वस्त्र, शय्या आदि दें तथा सब प्रकार से उनकी सुविधाओं का ध्यान रखें। बुद्ध कहते थे कि उपोसथ के दिन चातुम्महाराजिक देवगण अपने मत्रियों को यह पता लगाने के लिए भेजते हैं कि मर्त्यलोक के मनुष्य अपने माता-पिता के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं या नहीं, और इस प्रकार वे इसका निश्चय करते हैं कि कितने मनुष्य स्वर्ग जायँगे और कितने असुरलोक में। सक्क (इंद्र) के कथनानुसार उसे देवराज का पद पूर्व जन्मों में अपने माता-पिता की सेवा करने के कारण प्राप्त हुआ था। (३) उपासकों को अप्रिय-भाषण नहीं करना चाहिए, सत्य और प्रिय वचन बोलना चाहिए और कृपणता छोड़कर दोनों को मुक्तहस्त होकर दान देना चाहिए। (४) उन्हें क्रोध आए तो तुरत उसे दबाना चाहिए।[3]

स्त्रियों के गुण और दोष—सघ को दान देनेवाली स्त्रियों में विशाखा का स्थान सर्वप्रथम था। उसने पुब्बाराम विहार का निर्माण कराया था जो उसी के नाम पर मिगारमातुपासाद के नाम से भी प्रसिद्ध था, क्योंकि अपने श्वसुर मिगार की पुत्री की भाँति सेवा करने के कारण विशाखा को लोग प्यार से मिगार की माता कहा करते थे। विशाखा उपोसथ के तीन दिनों में पहले बनाए गए आठ शीलों का पालन करती थी। बुद्ध ने एक दिन उसे यह उपदेश दिया[4] कि वह उपोसथ का पालन उनके सच्चे शिष्य की भाँति किया करे, उस ग्वाले की भाँति नहीं जिसका ध्यान उसकी गायों में लगा

१. अंगुत्तर० २, पृ० ६३–७०।
२. वही १, पृ० २०८।
३. वही १, पृ० १३२, १४१, १५१।
४. संयुत्त० १, पृ० २२८; २, पृ० २३५।

रहता है, और जो यही सोचता रहता है कि उपोसथ के बाद क्या-क्या भोजन करेंगे, न निगठ नाटपुत्त के शिष्यों की भाँति, जो इस भय से वस्त्र तक नहीं पहिनते कि मन में कभी किसी वस्तु के लिए कोई इच्छा न उत्पन्न हो। बौद्ध धर्म का सच्चा उपासक त्रिरत्न के उत्तम गुणों पर मनन करता है, विकारों को नष्ट कर अपने मन को निर्मल करता है और दिव्य जीवन प्रदान करनेवाले अष्टशीलों का पालन करता है।[1]

बुद्ध ने विशाखा को एक उत्तम स्त्री के साधारण कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में कुछ सामान्य उपदेश दिये, जो इस प्रकार है—(१) स्त्री को सहानुभूति के साथ अपने सास-ससुर के सुख का ध्यान रखना चाहिए, उनसे सदा मधुर वचन बोलना चाहिए, उनसे पहले जागना और पीछे सोना और दासी की भाँति उनकी सेवा करना चाहिए, (२) उसे अपने सास-ससुर के अतिरिक्त अपने पति द्वारा आदृत साधु-सन्तों का भी उचित आदर करना चाहिए, (३) घर में रखे हुए कपास और ऊन का यथोचित उपयोग करने में उसे निपुण होना चाहिए, घर के सेवकों और मजूरों को जो काम दिया जाय उसे वे सुचारु रूप से करते हैं या नहीं, इसका सावधानी से निरीक्षण करना तथा उनके भोजन का उचित ध्यान रखना चाहिए, (५) पति घर में जो अन्न या धन ले आये उसे यत्नपूर्वक सँभाल कर रखना और उसमें से अपने लिए खर्च नहीं करना चाहिए; (६) त्रिशरण (बुद्ध, धर्म और संघ की शरण) लेकर उसे उपासिका बन जाना चाहिए, (७) पञ्चशील का पालन करना तथा (८) कृपणता त्याग कर मुक्तहस्त होकर दान करना चाहिए।[2]

नकुलमाता नाम की एक दूसरी उपासिका थी जिसे बुद्ध आदर्श उपासिका कहा करते थे। जब उसका पति बीमार होकर मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ था उस समय उसने उसके समक्ष स्वयं अपने गुणों का विवरण दिया था। उसने उसे शांति और आश्वासन देते हुए कहा था कि 'हे स्वामी, आप मेरे भविष्य की कोई चिंता न कर शांतिपूर्वक प्राण-त्याग करें जिससे परलोक में आपका जीवन सुखमय हो। मुझे कोई कष्ट नहीं होगा और मैं अपने धर्म पर अटल रहूँगी। मैं रूई का व्यापार और केश-प्रसाधन की कला जानती हूँ और इन कार्यों के द्वारा मैं जीविकोपार्जन कर अपना और बच्चों का जीवन-निर्वाह कर लूँगी। मैं आपके ज्ञान से सोलह वर्ष तक ब्रह्मचारिणी का जीवन बिता चुकी हूँ, अतः मेरे दूसरा विवाह करने की कोई संभावना नहीं है। मैं भगवान् बुद्ध तथा

१. अंगुत्तर० १, पृ० २०५-१५; ४, पृ० २५५।
२. वही ४, पृ० २६७।

भिक्षुओं के सत्संग में और अधिक समय दूँगी। मैं सदा शील का पालन करती रहूँगी, मन को शान्त रखने (चेतो समथ) का अभ्यास करूँगी और बुद्ध में और अधिक श्रद्धा रखूँगी। भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ हैं, आप मेरे कथन की सत्यता का निश्चय उनसे पूछकर कर सकते हैं।' अपनी पत्नी से इस वार्तालाप के बाद नकुलपिता शीघ्र नीरोग हो गया और बुद्ध की सेवा में उपस्थित हुआ, तब बुद्ध ने उसकी पत्नी को उपासिकाओं में सर्वश्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशंसा की।'

बुद्ध ने एक बार अनाथपिंडिक के घर में बड़ा कोलाहल सुना। पूछने पर उन्हें पता चला कि उस अशान्ति का कारण अनाथपिंडिक की पुत्रवधू सुजाता है। उसे शिक्षा देने के लिए बुद्ध ने उसमें सात प्रकार की पत्नियों का वर्णन किया, जो इस प्रकार हैं—(१) हत्यारिनी, (२) चोर, (३) कर्कशा, (४) माता, (५) भगिनी, (६) मित्र, (७) दासी। प्रथम प्रकार की पत्नी अत्यन्त दुष्ट और व्यभिचारिणी होती है और धन के लिए अपने पति की हत्या तक कर डालती है। द्वितीय प्रकार की पत्नी अपने पति के अन्न, धन, आदि की चोरी किया करती है। तृतीय प्रकार की पत्नी आलस्य में समय बिताती है, काम नहीं करना चाहती, अत्यधिक भोजन करती है, स्वभाव की चिड़चिड़ी और कठोरभाषिणी होती है और परिवार के सब लोगों पर अपना आतंक जमाये रहती है। चतुर्थ प्रकार की पत्नी उसी प्रकार अपने पति की हितकामना और रक्षा करती है जैसे माता अपने पुत्र की। वह अपने पति के धन को भी बचाने का प्रयत्न करती है। पंचम प्रकार की पत्नी सकोचशीला भगिनी के सदृश होती है और सदा अपने पति का आदर तथा उसके सुख एवं हित का उपाय करती है। षष्ठ प्रकार की पत्नी, चिर-वियोग के बाद मिलनेवाले मित्र की भांति, सदा अपने पति की प्रिया बनी रहने का प्रयत्न करती है, वह मितव्ययी, शील का पालन करनेवाली और पतिव्रता होती है। सप्तम प्रकार की पत्नी डंडे से पीटी जाने पर भी कभी क्रोध नहीं करती, सर्वथा द्वेषरहित एवं सहनशील तथा अपने पति की [illegible] होती है।[२] बुद्ध द्वारा स्त्रियों का यह सामान्य गुण-वर्णन बहुत कुछ परंपरागत है और संभवतः अपनी उपासिकाओं को शिक्षा देने के लिए उन्होंने इसका उपयोग किया था।

---

१. अंगुत्तर० ३, पृ० २९५-८।
२. वही ४, पृ० ९२-९३।

अध्याय ८

भिक्षुओं की क्रमिक साधना-पद्धति

उपासकों के आध्यात्मिक उत्थान की ओर बुद्ध की बहुत रुचि नहीं थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि भिक्षु बने बिना कोई उनके उपदेशों का पूरा लाभ नहीं उठा सकता। उन्होंने स्वयं बहुत लोगों को घरबार छोड़कर भिक्षु बनने के लिए प्रेरित किया। परन्तु अपने सभी शिष्यों के लिए उन्होंने कोई एक सामान्य साधना-क्रम निर्धारित नहीं किया। वस्तुतः वे प्रत्येक शिष्य की मानसिक वृत्तियों का अध्ययन करके उसके अनुकूल कोई विशेष साधना-क्रम निश्चित कर देते थे। परन्तु कुछ ऐसे सामान्य नियम भी थे जिनका पालन प्रायः उनके सभी शिष्य कर सकते और उनसे लाभ उठा सकते थे।

जब बुद्ध सावत्थी के मिगारमातुपासाद में ठहरे हुए थे, उस समय गणक-मोग्गल्लान ब्राह्मण एक बार उनसे मिला। उसने उनसे प्रश्न किया कि सभी विषयों की शिक्षा के लिए—चाहे वह भवन-निर्माण की शिक्षा हो, अथवा गणित या अन्य किसी शास्त्र की—एक क्रमोच्च शिक्षा-पद्धति हुआ करती है, क्या बौद्ध धर्म में भिक्षुओं की साधना के लिए भी कोई ऐसी क्रमोच्च शिक्षण-पद्धति निर्धारित है? बुद्ध ने इसका सोदाहरण उत्तर देकर अपने द्वारा निर्धारित भिक्षुओं के साधना-क्रम का वर्णन किया, जो इस प्रकार है—

(१) सबसे पहले भिक्षु को सदाचार के नियमों[1] तथा पातिमोक्ख में दिए गए विनय के २२७ नियमों का पालन करने एवं अपने आचरण के विषय में तथा भिक्षाटन

१. छब्बिसोधन सुत्त (मज्झिमं ३, पृ० ३३ तथा आगे)—

(१) पाणातिपात पटिविरतो, (२) अदिन्ना दाना पटिविरतो, (३) विरतो मेथुना गामधम्मा, (४) मुसावादा पटिविरतो, (५) पिसुणाय वाचाय पटिविरतो, (६) फरुसाय वाचाय पटिविरतो, (७) सम्फपलापा पटिविरतो, (८) बीजगाम भूतगाम समारंभा पटिविरतो, (९) एकभट्टिको, पटिविरतो विकाल भोजना, (१०) उच्चासयना मयहासयना पटिविरतो, (११) जातरूप रजत-पटिग्गहणा पटिविरतो, (१२) आमकधञ्ञ-पटिग्गहणा पटिविरतो, (१३) इत्थि-कुमारिका-पटिग्गहणा पटिविरतो, (१४) दासिदास-पटिग्गणा पटिविरतो, (१५) अजेलक-पटिग्गहणा पटिविरतो, (१६) कुक्कुट-सूकर पटिग्गहणा पटिविरतो, (१७) हत्थि-

आदि सभी कार्यों और व्यवहारों में अत्यन्त सावधान रहने की शिक्षा दी जाती है, जिससे उसके द्वारा छोटे से छोटा पाप भी न हो सके।

(२) इसके पश्चात् उसे अपनी इन्द्रियों पर संयम रखने का अभ्यास करने का उपदेश दिया जाता है, जिससे किसी वस्तु को देखकर उसका मन उस वस्तु के गुणों के प्रति आकर्षित न हो, क्योंकि उस आकर्षण से मन में लोभ, निराशा और अन्य प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। यही बात श्रवण (=सुनना), घ्राण (=सूँघना) रसन (=स्वाद लेना), स्पर्श और मनन के विषयों के सबंध में भी सत्य है।[1]

(३) फिर उसे यह शिक्षा दी जाती है कि वह अपने शरीर के निर्वाह मात्र के लिए, उसे केवल पवित्र और धर्माचरण के योग्य बनाए रखने के लिए भोजन ग्रहण करे, उसे हृष्ट-पुष्ट बनाकर अलंकारों से भूषित करने के लिए नहीं। अपने भोजन के लिए किसी जीव की हिंसा भी न करे। साथ ही वह शुद्ध और सदाचारमय जीवन व्यतीत करे और इस बात का ध्यान रखे कि जहाँ उसे अपनी पुरानी वासनाओं को नष्ट कर देना है, वहाँ उसके मन में नई वासनाएँ न उत्पन्न होने पाएँ।

(४) फिर उसे बतलाया जाता है कि वह परिभ्रमण करते-करते किसी एक स्थान पर बैठ जाय और अपने मन के विकारों को दूर करने का प्रयत्न करे,[2] क्योंकि उनके कारण आध्यात्मिक उन्नति में बाधा पड़ती है। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि रात्रि के प्रथम तथा तृतीय प्रहरों में भी इसका अभ्यास करे। द्वितीय प्रहर में उसे दाहिनी करवट, एक के ऊपर दूसरा पैर रखकर, सोने की अनुमति दी जाती है, परन्तु नींद ऐसी हल्की हो कि आवश्यकता होने पर वह तुरन्त जाग सके।

(५) तत्पश्चात् उसे उपदेश दिया जाता है कि वह प्रथम सतिपट्ठान (स्मृत्युपस्थान) का अभ्यास करे, अर्थात् हाथों को फैलाना या सिकोड़ना, किसी वस्तु को

गवस्सवलञ्ज पटिग्गहणा पटिविरतो, (१८) खेत्तवत्थु पटिग्गहणा पटिविरतो, (१९) दुतेय्यपहीन गमनानुयोग पटिविरतो, (२०) कयविक्कय पटिविरतो, (२१) तुलाकूट-कंसकूट-मानकूटा पटिविरतो, (२२) उक्कोटनवंचन निकति साचियोग पटिविरतो, (२३) छेदन-वध-बन्धन-विपरामोस-आलोपसहसाकार पटिविरतो, (२४) सन्तुट्ठो कायपरिहारिकेन चूवरेन कुच्छि-परिहारिकेन पिण्डपतेन।

१. संयुत्त० ४, पृ० १०४।

२. आवरण =नीवरण=उपक्किलेस; तुल० संयुत्त० ५, पृ० ९४। पाँचों नीवरण ये हैं—कामच्छन्द (अभिज्झा), व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच्चकुकुच्च और विचिकिच्छा।

देखना, खाना, पीना, शौचादि करना, वस्त्र धारण करना, भिक्षा-पात्र उठाना, खड़े होना, बैठना, सोना, जागना, चुप रहना—आदि जो भी क्रियाएँ वह अपने शरीर से करे उनमें पूर्ण रूप से सावधान रहे, शून्य मन से अज्ञानपूर्वक उन्हें न करे।

(६) फिर उसे किसी वन वा वन-मार्ग में अथवा वृक्ष के नीचे या पर्वत पर, या किसी गुफा में, या श्मशान या सुनसान मैदान में रहकर अभ्यास करने के लिए कहा जाता है। वहाँ वह मध्याह्न-भोजन के पश्चात् सावधान-चित्त होकर, पद्मासन लगाकर, शरीर को सीधा करके बैठ जाता है और उसी अवस्था में बैठे-बैठे अपने मन को लोभ, द्वेष, आलस्य, अभिमान और सद्धर्म के प्रति संशय-भाव—इन विकारों से मुक्त करने का प्रयत्न करता है।

(७) अंत में, जब प्राय उसके संपूर्ण मनोविकार नष्ट हो जाते है तब उसे ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है, जिसकी निम्नलिखित चार भूमिकाएँ है—

(क) प्रथम भूमिका में वह इच्छाओं और विकारों से अपने मन को मुक्त कर किसी एक वस्तु पर, जैसे मिट्टी के ढेले या चक्र पर या छिद्र से आते हुए प्रकाश-बिंदु पर, अपने ध्यान को एकाग्र करने का अभ्यास करता है। पहले तो उसका मन ध्यान के विषय के चारों ओर चक्कर काटता है (सवित्तक्क सविचार—विचार और निर्णय), परंतु ध्याता को यह सोचकर संतोष होता है कि 'मेरा मन इच्छाओं और विकारों से मुक्त हो गया है और मैं एकांत स्थान में बैठा हुआ हूँ।'

(ख) द्वितीय भूमिका में ध्याता का चित्त भ्रमित नहीं होता (अवितक्क अविचार), प्रत्युत ध्यान के विषय पर एकाग्र हो जाता है (चेतसो एकोदीभावम्) और चित्त की पूर्ण एकाग्रता होने पर उसे आंतरिक शांति और आनंद का अनुभव होता है।

(ग) तृतीय भूमिका में ध्याता का मन किन्हीं उत्तम गुणों की प्राप्ति से होनेवाले आनंद और जीवन की क्षणभंगुरता, मृत्यु आदि के चिंतन से होनेवाले दुःख—दोनों से ऊपर उठ जाता है और उसे मानसिक साम्यावस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में भी उसे आंतरिक शांति और आनंद का अनुभव होता है और उसके शरीर और मन में जो भी क्रियाएँ होती हैं उनके प्रति वह सजग और सावधान रहता है। उसके शरीर को ऐसा विश्राम मिलता है जैसे वह गाढ़ निद्रा से सोकर उठा हो।

(घ) चतुर्थ भूमिका में ध्याता का मन किसी भी प्रकार के बुरे या भले अनुभव से विक्षुब्ध नहीं होता। यतः उसके संपूर्ण मानसिक दोष नष्ट हो गए रहते है, अतएव उसका मन पूर्ण रूप से शांत और सम हो जाता है, और शरीर वा मन की सूक्ष्म से

सूक्ष्म क्रियाएँ भी उसे अवगत होती रहती है। इस भूमिका में वस्तुत प्रथम तीन भूमिकाओं की ही परिणति होती है और उनके अतिरिक्त इसका कोई विशिष्ट फल नहीं है।[1]

(ङ) ध्यान सिद्ध हो जाने पर उसे चार सत्यों (दु ख, दु ख-समुदय, दु ख-नाश, दु ख-नाश का उपाय) को समझने का प्रयत्न करना चाहिए और चार दोषों (आसवों) तथा उनकी उत्पत्ति, नाश एव नाश के उपाय पर मनन करते हुए पूर्ण 'खीणासव' या अर्हत् होने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

सक्षेप में नए साधकों के लिए यही क्रमोच्च साधना-पद्धति निर्धारित की गई है। परन्तु नव-दीक्षित भिक्षुओं में ऐसे भी होते थे जिनका पर्याप्त आध्यात्मिक विकास हो चुका रहता था और उन्हें उक्त अभ्यास की आवश्यकता नहीं पडती थी।

बुद्ध अपने शिष्यों को स्वय शिक्षा देते थे और सघ में नए-नए दीक्षित होकर आने-वाले भिक्षुओं पर बडी सतर्क दृष्टि रखते थे। कपिलवस्तु में एक दिन जब वे मध्याह्न-भोजन के अनतर विश्राम कर रहे थे, तो उनके ध्यान में आया कि मेरे सघ में भिक्षुओं की सख्या निरतर बढती जा रही है, अत मुझे स्वय नवदीक्षित भिक्षुओं की देखरेख करनी चाहिए, अन्यथा उनके अभ्यास में त्रुटियाँ होंगी। उनका रक्षण उसी प्रकार सावधानी से होना चाहिए जैसे एक छोटे पौधे का माली के द्वारा किया जाता है।[2] आनद ने बुद्ध के एक विशिष्ट शिष्य पुण्ण मतानीपुत्र की इसलिए प्रशसा की थी कि नवदीक्षितों के लिए उसकी सहायता बडी लाभकर होती थी।[3] बुद्ध ने अपने फुफेरे भाई (पैतृष्वसेय) तिस्स में त्रुटियाँ देखकर एक बार उसे बुलाया और आवश्यक अनु-देश दिए।[4] इसी प्रकार उनका ममेरा भाई (मातृष्वसेय) नद अपने शरीर और वस्त्रों की ओर बहुत ध्यान दिया करता था, उसे भी उन्होंने इस विषय में उपदेश दिया।[5] उन्होंने अन्य कितने ही भिक्षुओं को, जो उद्धत, कलहप्रिय और प्रमादी थे, शिक्षा देकर ठीक मार्ग पर लगाया।[6]

१. तुल० संयुत्त० ३, पृ० २६८; ४, पृ० २६५।
२. संयुत्त० ३, पृ० ९१।
३. वही ३, पृ० १०५।
४. वही, पृ० १०६।
५. वही २, पृ० २८१।
६. वही ५, पृ० २६९।

गणक-मोग्गलान ने बुद्ध से पुन प्रश्न किया कि क्या दीक्षित होकर संघ में प्रविष्ट होनेवाले सभी भिक्षुओ को उपर्युक्त प्रकार से साधना करने से 'निब्बाण' प्राप्त होता है ? इसपर उन्होंने उत्तर दिया कि 'ऐसी बात नही है, किंतु मै केवल मार्ग का प्रतिपादक और प्रदर्शक हूं, अत उन सबको उस मार्ग पर चलने की अनुमति देता हूं। परन्तु उनमे से कुछ ही 'निब्बाण' की अवस्था तक पहुँच पाते है'।[1]

बुद्ध के उक्त उत्तर से यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा निर्धारित साधना का उपर्युक्त क्रम अनिवार्य रूप से निर्वाण (निब्बान) पद प्रदान करनेवाला नही है। हाँ, यह अवश्य है कि जो साधक उपर्युक्त साधना-क्रम को सफलतापूर्वक पूरा कर लेते है वे बौद्ध धर्म के मूल सत्यो की दीक्षा प्राप्त करने के योग्य हो जाते है। चूल-राहुलोवाद सुत्त[2] से यह बात भली भाति स्पष्ट हो जाती है। बुद्ध जब सावत्थी मे ठहरे हुए थे तो उन्होंने देखा कि राहुल अब विमुक्ति प्राप्त करने योग्य परिपक्व अवस्था मे पहुँच गया है (परिपक्को खो राहुलस्स विमुत्ति परिपाचनीया धम्मा) और उसे अब सूक्ष्मतर विकारो को नष्ट करने के लिए उपयुक्त शिक्षा देना आवश्यक है (उत्तरि आसवान खये विञ्ञेय्य ति)। तब वे राहुल को अपने साथ अंधवन नामक वन मे ले गए और उन दोनो मे निम्नलिखित वार्तालाप हुआ—

बुद्ध—आँखे (चक्खु) नित्य है या अनित्य ?

राहुल—अनित्य है।

बुद्ध—अनित्य पदार्थ दु ख देनेवाले होते है या सुख ?

राहुल—अनित्य पदार्थ दु खमय होते है।

बुद्ध—क्या परिवर्तनशील अनित्य पदार्थ को अपना समझना या उसे अपना आत्मा मानना उचित है ?

राहुल—नही।

बुद्ध—क्या आँखो से देखी गई वस्तु (रूप) या उस वस्तु से आँखो का सपर्क (चक्खु-सम्फस्स) या उस सपर्क से होनेवाला अनुभव (वेदना) या बोध (सञ्ञा) या सस्कार (सखार) या ज्ञान (विञ्ञाण) नित्य है ?

राहुल—नही।

तब बुद्ध ने बतलाया कि एक सच्चे शिष्य को इंद्रियो और उनके विषयो, अर्थात्

१. मज्झिम० २, पृ० १ तथा आगे।

२. मज्झिम० ३, पृ० २२७ तथा आगे; सयुत्त० ४, पृ० १०६।

ससार के समस्त पदार्थों, के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नही होनी चाहिए। इस अनासक्ति से विराग उत्पन्न होता है जो मन को मुक्त कर देता है और साधक यह अनुभव करन लगता है कि उसका मन सासारिक विषयो के राग से पूर्णत. मुक्त हो गया है। तब हम यह कह सकते है कि उसकी साधना पूरी हो गई, अब उसका कोई कर्तव्य कर्म शेष नही है, अब उसका पुन जन्म नही होगा। राहुल भी पूर्णमुक्त अर्हत् हो गया।

एक दूसरे वार्तालाप[1] मे बुद्ध ने उपर्युक्त रीति मे ही राहुल को समझाया कि जीव के पचस्कध अर्थात् रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान नामक तत्त्व, चाहे वे अतीत के हो अथवा वर्तमान वा भविष्य के, आतरिक हो वा बाह्य, स्थूल हो वा सूक्ष्म, उत्तम हो वा निकृष्ट, दूर हो वा निकट, उन्हे अपना समझना वा अपना आत्मा मानना उचित नही है। भौतिक तत्त्वो (रूप) का अस्तित्व गगा के जल पर तैरते हुए फेन (फेनपिड) से अधिक नही है। उसकी सत्ता है, इसमे तो कोई सदेह नही, परन्तु उसमे कोई तत्त्व नही है (रिक्तक, तुच्छक)।[2] 'वेदना' का अस्तित्व जल मे उठनेवाले बुद्बुद के सदृश है और 'सज्ञा' ज्येष्ठ मास की दुपहरी मे दिखाई पडनेवाली मृग-मरीचिका के समान है। 'सस्कारो' मे केले के खभे से अधिक कोई तत्त्व नही है और विज्ञान केवल जादूगर के खेल के समान है।

उक्त वार्तालाप का उपसहार इस कथन के साथ होता है—मनुष्य की आयु उष्णता (उष्मा) और चेतना (विञ्ञाण) समाप्त हो जाने पर उसका निर्जीव शरीर गिद्धो के भोजन के लिए फेक दिया जाता है। जीव के स्कधो की नित्यता की चर्चा मूर्ख लोग किया करते है, उनमे कोई तत्त्व नही है। जो समर्थ भिक्षुगण स्कधो (खधो) को रातदिन इस प्रकार निस्तत्त्व और नाशवान् समझते है उनके सारे बधन कट जाते है और वे अमृत पद प्राप्त करते है।[3] जो लोग उक्त स्कधो मे से किसी एक को अपना आत्मा मान बैठते है वे मूर्ख है। वे उसके चारो ओर इस प्रकार चक्कर काटते है जैसे खभे मे बँधा हुआ पशु उसी खभे के चारो ओर घूमता है। इस चक्कर का न कहीं

१. संयुत्त० ३, पृ० १३६।
२. संयुत्त० ३, पृ० १४२—
"फेनपिण्डुपमं रूपं वेदना बुब्बुलूपमा।
मरीचिकुपमा सञ्ञा संखारा कदलूपमा।
मायुपमं च विञ्ञाणं दिपितादिच्च बन्धुना॥"
३. वही।

आदि है न अत।[1] बुद्धिमान् मनुष्य कभी स्कधो को आत्मा समझने की भूल नही करता, परतु ऐसी बुद्धि आने के पहले उसे राग, द्वेष और मोह से सर्वथा मुक्त होना पड़ता है। इन मानसिक विकारो से मुक्ति पाने का केवल यही उपाय है कि मनुष्य यह भली भाँति समझ ले कि ससार के सभी पुरुष और स्त्रियाँ चित्र मे लिखे हुए मनुष्यो के समान है। यह समझने के लिए कि मनुष्य का अस्तित्व चित्र-लिखित मनुष्यो की अपेक्षा अधिक सारवान् नही है, पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि स्कध उत्पत्ति-विनाश-शील है।

---

१. वही, पृ० १५१।

अध्याय ९

निर्वाण-प्राप्ति के साधन

निर्वाण का मार्ग अथवा धम्मचक्क पवत्तन सुत्त––जब विश्व के परम वा अंतिम तत्त्वों के विषय में बुद्ध के समक्ष कोई प्रश्न उपस्थित किया जाता था तो वे सदैव लोगों को ऐसे प्रश्नों की उपेक्षा करने और उनका निश्चित उत्तर पाने की अपेक्षा न करने तथा अपने बताए हुए मार्ग पर चलने का उपदेश दिया करते थे, क्योंकि उनके मतानुसार ऐसे प्रश्नों के उत्तर से कोई लाभ होनेवाला नहीं। न तो उससे जीवन शुद्ध और पवित्र बन सकता है, न मन विकारों से मुक्त हो सकता और न ज्ञान एवं निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। अतः ऐसे प्रश्नों के उत्तर के फेर में न पड़कर लोगों को उनके उन उपदेशों के अनुसार आचरण करना चाहिए जो उनके धर्म-प्रवर्तन काल के आदि और अंत में उनके द्वारा इसिपत्तन तथा कुसीनारा में दिए गए थे।

बुद्ध के द्वारा दिया गया सर्वप्रथम व्याख्यान प्रसिद्ध 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त' है। इस सुत्त के प्रारंभ ही में कहा गया है कि मनुष्य को दोनों प्रकार की अति से बचना चाहिए। एक ओर तो ऐसे लोग हैं जो गृहस्थ-जीवन में रहकर धार्मिक कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, परंतु साथ ही दिन-रात सांसारिक भोग-विलास में डूबे रहते हैं, और दूसरी ओर वे लोग हैं जो घर-बार छोड़कर एकांत में रहते और कठोर तपस्या के द्वारा शरीर को सुखा डालते हैं। ये दोनों अंतिम कोटि के जीवन बुरे हैं। साधक को इन दोनों के बीच का मार्ग (मध्यम मार्ग) अपनाना चाहिए, जिसपर चलने से ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं, मन को शांति प्राप्त होती है और अंत में ज्ञान और निर्वाण (पूर्ण मोक्ष) प्राप्त होता है। प्रथम कोटि के अंतर्गत बुद्ध के ध्यान में निश्चय ही वे धनी ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग थे जो अत्यंत विलासमय जीवन व्यतीत करते थे और ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों को प्राप्त करने की आशा से अपार धन व्यय करके बड़े-बड़े यज्ञ करते थे, जिनमें पशु-पक्षियों की बलि दी जाती थी। द्वितीय कोटि के लोगों से उनका अभिप्राय उन अ-ब्राह्मण तापसों से था जो अपने शरीर और मन को वश में करने के लिए अत्यंत घोर कर्म किया करते थे, जैसे निर्जन वन में निवास करना, अत्यल्प भोजन अथवा उपवास करना, इत्यादि। यों बुद्ध ने भी कुछ साधारण प्रकार की तपस्या का अनुमोदन किया परंतु उसे सब शिष्यों के लिए अनिवार्य नहीं बनाया।

उन्होंने दोनों अंतिम कोटियों को अस्वीकार कर अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया कि वे अपनी शारीरिक शक्ति की रक्षा के लिए निर्वाह भर को भोजन करें, वस्त्र पहनें और आवास में रहें, क्योंकि उनके द्वारा बताए गए कर्तव्यों के पालन के लिए शरीर का स्वस्थ और शक्त रखना आवश्यक था। वे यह चाहते थे कि उनके शिष्य भोजन और वस्त्र के विषय में कोई चिंता न करें और किसी विशेष प्रकार के भोजन अथवा किसी विशेष आवश्यक वस्तु की इच्छा प्रकट किए बिना उन्हें भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी पर वे संतोष करें। उनके पथ-प्रदर्शन के लिए उन्होंने विस्तृत नियम बनाए, जो पातिमोक्ख सुत्त नामक ग्रंथ में संगृहीत हैं। अपने भिक्षु शिष्यों के लिए उन्होंने जो मध्यम मार्ग निर्धारित किया वह इस प्रकार है--

शील — { सम्मा वाचा = सम्यक् अर्थात् सत्य वचन
सम्मा कम्मन्तो = सम्यक् कर्म
सम्मा आजीवो = सम्यक् आजीव अर्थात् जीविका

चित्त = { सम्मा वायाम = सम्यक् व्यायाम
सम्मा सति = सम्यक् चिंतन
सम्मा समाधि = सम्यक् समाधि

पञ्ञा — { सम्मा संकप्प = सम्यक् संकल्प
सम्मा दिट्ठि[1] = सम्यक् दृष्टि

इसके अनंतर उन्होंने चार आर्य सत्यों का निरूपण किया है जो ये हैं--दुःख (दुक्खम्), दुःख का कारण (दुक्ख-समुदयम्), दुःख-नाश (दुक्ख निरोधम्) और दुःख-नाश का उपाय (दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा)। संक्षेप में यही धम्मचक्कपवत्तन सुत्त का विषय है।

उपर्युक्त शब्दों की व्याख्या पाली ग्रंथों में इस प्रकार की गई है--

सम्मा वाचा = असत्य, द्वेषयुक्त, कठोर और निरर्थक वचन न बोलना।

सम्मा कम्मन्त = हिंसा, चोरी और व्यभिचार से दूर रहना।

१. ये आठों ही तीन वर्गों में विभाजित हैं--सदाचार (शील), मानसिक विकास (चित्त) और ज्ञान (पञ्ञा)। तुल० संयुत्त० १, पृ० १६५।--

"सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो,
चित्तं पञ्ञं च भावयम्।
आतापी निपको भिक्खु,
सो इमं विजटये जटम्॥"

सम्मा आजीव = अनुचित उपायों से अर्थात सद्धर्म-वर्जित कला-शिल्पों के द्वारा जीविकोपार्जन न करना। ऐसे कला-शिल्पों में से कुछ ये हैं—ज्योतिष द्वारा मनुष्यों का भाग्य-कथन, स्वप्न और शकुन का विचार, मंत्र-प्रयोग, सामुद्रिक विद्या अर्थात् शरीर के लक्षणों को देखकर मनुष्यों और पशुओं की प्रकृति का निरूपण, राजाओं के बीच मध्यस्थ का कार्य करना, विवाह-संस्कार कराना, औषध वितरण करना, इत्यादि।

सम्मा वायाम = वर्तमान कुविचारों को मन से निकाल देने, नवीन कुविचारों को पास न आने देने तथा सत्-विचारों को अधिकाधिक प्रश्रय देने का अभ्यास करना।

सम्मा सति = शरीर और मन के भीतर जो कुछ क्रिया हो रही हो उसके प्रति सजग रहना, संसार के पदार्थों का निरीक्षण करना, साथ ही लोभ (अभिज्झा) को दबाना और दुर्मनता (दोमनस्स) को पास न आने देना।

सम्मा समाधि = चार प्रकार के ध्यान (ज्ञान), जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है।

सम्मा दिट्ठि = सांसारिक सत्ता का इन चार सत्यों के रूप में ज्ञान होना—दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-नाश, दुःख-नाश का उपाय।

ऊपर जिस अष्टांग मार्ग का वर्णन किया गया है उसमें आध्यात्मिक जीवन के सभी पक्षों (कर्तव्यपक्ष, मन पक्ष, ज्ञानपक्ष) का समावेश है। आठ अंगों में से प्रथम तीन का संबंध वचन, कर्म तथा आहार (जीविका) से है, और इनके विषय में बहुत से नियम निकायों तथा विनय ग्रंथों में संकलित हैं, जिनमें भिक्षुओं के उचित आचरण और व्यवहार के विषय में विस्तृत निर्देश दिए गए हैं। इसके बाद के तीन अंगों में वह विधि बतलाई गई है जिसके अनुसार साधक यौगिक साधना के द्वारा अपनी वृत्तियों को संयत कर लेता है और उसका मन इस प्रकार शांत और निश्चल हो जाता है कि सुख वा दुःख में वह तनिक भी विचलित नहीं होता। शारीरिक और मानसिक अभ्यास सिद्ध हो जाने के पश्चात् साधक इस योग्य हो जाता है कि वह अपने मन को सांसारिक रागों से पूर्णतया मुक्त करके उसे चार आर्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त करने की ओर लगाए और उसके द्वारा 'सम्मा दिट्ठि' (सम्यक दृष्टि) प्राप्त करे।

मग्ग संयुत्त[1] में अष्टांग मार्ग को आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक (कल्याणमित्र) कहा गया है और बताया गया है कि बौद्ध साधक जो भी आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करने की कामना करे वे सभी उसे इसके द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। इसके द्वारा उसके निम्नलिखित दुःखों, दोषों वा बाधाओं का निवारण वा नाश हो जाता है—

१. संयुत्त० ५, पृ० ६४-६५।

(१) जन्म, जरा एव मरण जनित दु ख, दु ख तीन प्रकार के होते है—एक तो वह दु ख (दुक्ख) जो साधारणत· ससार मे देखा जाता है, दूसरा पूर्व जन्मो के सस्कारो के कारण होनेवाला दु ख (सस्कार-दुक्खता), तीसरा परिवर्तन-जनित दु ख (विपरिणाम-दुक्खता),

(२) राग, द्वेष तथा मोह,

(३) उत्कट इच्छा (छद), चिनन (वितक्क) तथा सज्ञान (सञ्ञा);

(४) सासारिक विषयो की तृष्णा (काम-तण्हा), पुनर्जन्म की तृष्णा (भव-तण्हा), स्व-नाश की तृष्णा (विभव-तण्हा),

(५) इच्छा-दोष (कामासव), पुनर्जन्म-दोष [भवासव, अर्थात् कामभव, रूपभव, अरूपभव (मर्त्यलोक, स-रूप देव-लोक तथा अ-रूप देवलोक मे से किसी एक मे जन्म लेने) का दोष], अविद्या-दोष (अविज्जासव) एव दृष्टि-दोष (दिट्ठासव),

(६) सासारिक विषयो, मिथ्या विचारो, व्रतादि कर्मो तथा आत्मवाद के प्रति तीव्र राग (कामुपादान, दिट्ठुपादान सीलब्बतुपादान, अत्तवादुपादान),

(७) सात वृत्तियाँ (अनुसय), यथा सासारिक विषयों मे राग (कामराग), वैर (पटिघ), भ्रान्त दृष्टि (दिट्ठि), त्रिरत्न मे अनास्था (विचिकिच्छा), अभिमान (मान), पुनर्जन्म की इच्छा (भवराग) तथा अविद्या (अविज्जा),

(८) पाँच ज्ञानेन्द्रिया तथा उनके तत्तत् विषयो के सपर्क मे होनेवाले पाँच प्रकार के सुख,

(९) निर्वाण-मार्ग की पाच बाधाएँ (नीवरण), अर्थात् तीव्र इच्छा (कामच्छद), द्वेष (व्यापाद), आलस्य (थीनमिद्ध), औद्धत्य एव सशय (उद्धच्च कुकुच्च), तथा त्रिरत्न के प्रति सदेहभाव (विचिकिच्छा)। 'कामच्छद' इद्रियार्थो के आकर्षक गुणो (सुभ निमित्त) के कारण उत्पन्न एव प्रवृद्ध होना है, 'व्यापाद' द्वेष-भाव (पटिघ) के कारण, 'थीनमिद्ध' निद्रा, अति भोजन एव मानसिक दौर्बल्य के कारण, 'उद्धच्च-कुकुच्च' अशाति (अनुपशम) के कारण तथा 'विचिकिच्छा' सदेहोत्पादक वस्तुओ के कारण,

(१०) पाच निम्न शृखलाएँ (ओरभागियानि सयोजनानि) अर्थात् आत्मा मे विश्वास (सक्काय दिट्ठि), त्रिरत्न मे सदेह (विचिकिच्छा), व्रतादि कर्मो मे विश्वास (सीलब्बत), तीव्र काम (कामच्छद) तथा वैर (व्यापाद),

(११) पाँच ऊर्ध्व शृखलाएँ (उद्धम्भागियानी), अर्थात् रूपलोक मे देहधारी

देव के रूप में जन्म लेने की कामना, अभिमान (मान), औद्धत्य (उद्धच्च), अविद्या (अविज्जा);

मानव-दोषों की उपर्युक्त गणना में कई शब्द ऐसे है जो विभिन्न दोष-वर्गों में समान रूप में आए है।

यदि अष्टांग मार्ग की साधना एकांत-सेवन (विवेक), विराग, वृत्ति-निरोध तथा त्याग (वोसग्ग) के साथ की जाय तो उससे निम्नलिखित लाभ होते हैं—

(१) मन शुद्धि के चार फलों (सामञ्ञ फल) की प्राप्ति,

(२) उच्च शक्तियों (अभिञ्ञा) की प्राप्ति,

(३) सैंतीस बोधिपक्षीय धम्मों में पूर्णता, जिससे बोधि प्राप्त होती है,

(४) अमृत निर्वाण (अमत निब्बान) की प्राप्ति।

चार आर्य सत्य

धम्मचक्कपवत्तन सुत्त के दूसरे भाग में चार सत्यों की सामान्य व्याख्या की गई है, जो इस प्रकार है—

प्रथम सत्य है दुःख (दुक्ख), जो जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, अप्रिय जनों के मिलन, प्रिय जनों के वियोग तथा इच्छित वस्तुओं की अ-प्राप्ति आदि के कारण होता है। संक्षेप में, जिन पंचस्कंधों से जीवधारियों का निर्माण हुआ है वे सभी दुःखमय है।

द्वितीय सत्य है दुःख का मूल (दुक्ख समुदय)। दुःख का मूल कारण है तृष्णा (तण्हा)—सांसारिक वस्तुओं की तृष्णा, पुनर्जन्म की तृष्णा (जो सर्वास्तिवादियों को होती है), स्व-नाश की तृष्णा (जो उच्छेदवादियों को होती है)। इन तीनों में से प्रत्येक प्रकार की तृष्णा सुख और राग से संबद्ध है और उसी के कारण जीव का पुनर्जन्म होता है।

तृतीय सत्य है दुःख का नाश वा अंत (दुक्खनिरोध)। यह तृष्णा के पूर्ण त्याग वा समूल नाश के द्वारा ही संभव है।

चतुर्थ सत्य है दुःख के नाश का उपाय वा मार्ग (दुक्ख-निरोध-गामिनी पटिपदा)। यह वही अष्टांग मार्ग है जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

चार सत्यों की उपर्युक्त व्याख्या, जो यहाँ महावग्ग (पृ० १०) के अनुसार दी गई है, जनसामान्य के लिए है। वस्तुतः दुःख का अर्थ यहाँ सांसारिक दुःख नहीं है, जैसा कि साधारणतः समझा जाता और कहीं-कहीं ग्रंथों में भी पाया जाता है। दुःख का

वास्तविक अर्थ है इस संसार में किसी भी रूप में जन्म लेना वा जीवन धारण करना, चाहे वह पशु के रूप में हो अथवा मनुष्य, देव वा ब्रह्मा के रूप में। तात्पर्य यह है कि मनुष्य इस संसार में जो कुछ भी प्राप्त करना है—स्वास्थ्य, धन-संपत्ति, संतान, पृथ्वी वा स्वर्ग का राज्य, यहाँ तक कि उच्चतर दिव्य शक्तियाँ भी—वह अंत में नाश को प्राप्त होता है। इस संसार में कुछ भी शाश्वत वा नित्य नहीं है, अतएव मनुष्य को सभी अनित्य वस्तुओं की कामना त्याग कर नित्य सत्य की खोज करनी चाहिए। अतः 'दुक्ख' का अर्थ है 'यह सुख-दुःखमय सांसारिक जीवन,' जो वस्तुतः सारहीन (अनत्त) एवं अनित्य (अनिच्च) है। और 'सम्मा दिट्ठि' का अर्थ है दुःख के उपर्युक्त अर्थ को ठीक-ठीक समझ लेना। इसी प्रकार द्वितीय सत्य अर्थात् 'दुक्ख समुदय' का अर्थ है सांसारिक जीवन तथा उसके सुखों एवं दुःखों का कारण। तृतीय सत्य 'दुक्खनिरोध' का अर्थ है 'निब्बान', जहाँ सांसारिक जीवन का प्रवाह पूर्ण रूप से निरुद्ध हो जाता है। चतुर्थ सत्य अर्थात् 'दुक्ख निरोध-गामिनी पटिपदा' से तात्पर्य उस अष्टांग मार्ग से है जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, जिसके विषय में विश्वास किया जाता है कि उससे न केवल अनित्य सांसारिक जीवन के प्रवाह तथा उससे होने-वाले दुःखों का नाश हो जाता है। अपितु उसके द्वारा पूर्ण मोक्ष अर्थात् 'निब्बान' भी प्राप्त हो जाता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त चारों सत्य, उपर्युक्त तात्त्विक अर्थ में, साधारण जनों के लिए नहीं है। इसी कारण उन्हें सदा 'अरियसच्च' (आर्य सत्य) कहा जाता है। इसमें 'अरिय' विशेषण से यह यह सूचित किया गया है कि ये सत्य केवल उन लोगों के लिए हैं जिनका पर्याप्त आध्यात्मिक उत्थान हो चुका है और जो अपनी साधना के फलस्वरूप 'सोतापत्ति', 'सकदागामी', 'अनागामी' और 'अर्हत्'—इन चारों में से कोई अवस्था प्राप्त कर चुके हैं। यह कोई नियम नहीं है कि सभी भिक्षु 'अरिय' ही होते हैं, उनमें से अनेक 'पुथुज्जन' अर्थात् दोषों से युक्त साधारण मनुष्य होते हैं। 'अरिय' केवल वही भिक्षु कहला सकता है जो कम से कम सोतापत्ति की अवस्था तक पहुँच चुका हो। जब तक 'अरिय' न हो जाय तब तक इस सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता कि संसार में धन-संपत्ति और संतान आदि की प्राप्ति दुःख है।

अनत्तलक्खण सुत्त

बुद्ध द्वारा पंचब्राह्मणों को दिया गया दूसरा उपदेश 'अनत्त-लक्खण सुत्त' है। बुद्ध किसी नित्य आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे। उनका तर्क था कि यदि

आत्मा (अत्त) शरीर के भौतिक तत्त्वों (रूप) से भिन्न है, तो उसे यह आदेश देने में समर्थ होना चाहिए कि 'रूप' कभी अस्वस्थ न हो, अथवा 'रूप' इस प्रकार का हो, इस प्रकार का न हो। परन्तु ऐसा सभव नहीं है। रूप अनित्य (अनिच्च) है और इस कारण वह दुःख का मूल है। परन्तु यदि आत्मा (अत्त), जैसा कि बौद्धेतर लोग मानते हैं, सत्य, नित्य एव सुखरूप है तथा दुःख का सबध 'रूप' से है, तो फिर 'रूप' का सबध आत्मा से किस प्रकार हो सकता है? आत्मा का गुण-स्वभाव रूप के गुण-स्वभाव से तत्त्वत भिन्न होने के कारण इन दोनों का सबध किसी प्रकार सभव नहीं है। उपर्युक्त से यह तात्पर्य निकलता है कि आभ्यतर हो वा बाह्य, अतीत हो अथवा वर्तमान वा भविष्य, स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, 'रूप' का यह पिंड 'मैं' वा 'मेरा' से भिन्न है। इस तर्क को 'रूप' के अतिरिक्त अन्य स्कधों अर्थात् 'वेदना', सज्ञा (सञ्ञा), सस्कार (सखारा) और विज्ञान (विञ्ञाण) पर भी इसी प्रकार घटाया जा सकता है। इस सत्य का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य को इन अनित्य एव दुःखमय स्कधों के प्रति 'विराग' हो जाता है और 'विराग' के द्वारा उसे मानसिक मुक्ति (विमुत्ति) प्राप्त हो जाती है। तब उसे यह अनुभव होता है कि मैं मुक्त हो गया हूँ, मेरे दोष (आस्रव) नष्ट हो गए हैं और मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा। इस उपदेश को सुनकर पाँचों ब्राह्मण विमुक्त हो गए और उन्हें अर्हत् पद प्राप्त हुआ।

सैंतीस बोधिपक्खीय धम्म

अपने जीवन के अतिम दिनों में तथा अन्य अनेक अवसरों पर भी जब कभी बुद्ध को अपने शिष्यों के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाने की आशका होती थी तब वे कहा करते थे कि मेरे शिष्य अन्य विषयों में भले ही एकमत न हों, किंतु उन्हें सात वर्गों में विभाजित सैंतीस बोधिपक्खीय धम्मों को अवश्य मानना चाहिए, जिनमें कि उनके समस्त उपदेश आ जाते हैं। वैसे धर्म का रहस्य जाननेवालों के लिए सैंतीस धम्मों के सातों वर्गों का पालन करना आवश्यक नहीं है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए केवल एक या दो वर्गों के अनुसार पूर्ण रूप से आचरण करना पर्याप्त है, क्योंकि वस्तुत उन सात वर्गों में से प्रत्येक में निर्वाण के लिए आवश्यक सभी धर्मों का समावेश है और इस कारण ध्यान देने से प्रतीत होता है कि सैंतीस में से अनेक धम्म ऐसे हैं जिनमें परस्पर कोई भेद नहीं है, यद्यपि उनके अर्थ जिन वर्गों या अगों के अतर्गत उनका समावेश है उनके शीर्षनामों के अनुरूप ही हैं, जैसे, 'इन्द्रियों' और 'बलों' की सूचियाँ एक-सी हैं, परंतु उनके अर्थों में थोड़ा सा अतर है।

१—धर्मों के प्रथम वर्ग का नाम 'सतिपट्ठान' (स० स्मृत्युपस्थान) है, जिसका अर्थ है जागरूकता, सजगता अथवा इस बात का ज्ञान कि हमारे शरीर (काय), अनुभव (वेदना) और मन (चित्त) में क्या हो रहा है और हमारे धर्म (धम्म) क्या हैं। इस वर्ग के धर्मों को बुद्ध ने निर्वाण का एकमात्र उत्तम मार्ग (एकायन) कहकर उनकी प्रशंसा की है और दीर्घ[1] तथा मज्झिम[2] निकायों के दो सुत्तों एवं अन्य स्थलों[3] में उनका विस्तृत वर्णन किया गया है। सतिपट्ठान चार हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) काय सतिपट्ठान—इसका अभ्यास करने के लिए साधक को चाहिए कि वह बराबर यह लक्ष्य करता रहे कि उसके श्वास-निःश्वास में, उठने-बैठने-सोने में, अपने अंगों को फैलाने और सिकोड़ने में तथा ऐसे ही अन्य कार्यों को करते समय उसके शरीर के भीतर क्या हो रहा है। उसे इसपर भी विचार करना चाहिए कि उसके शरीर में कौन-से पदार्थ हैं और मृत शरीर को श्मशान में छोड़ देने पर उसकी क्या अवस्थाएँ होती हैं। यह सब विचार करते समय उसे बराबर स्मरण रखना चाहिए कि उसका शरीर उत्पत्ति-विनाश-शील है।

(२) वेदना सतिपट्ठान—इसके अभ्यास में साधक को चाहिए कि वह इस बात को ध्यानपूर्वक लक्ष्य करता रहे कि उसकी 'वेदना' अर्थात् उसे होनेवाले अनुभव सुखात्मक हैं वा दुःखात्मक, अथवा वे दोनों में से कोई नहीं हैं, अथवा वे शुद्ध हैं वा अशुद्ध, इत्यादि। साथ ही उसे सदैव स्मरण रखना चाहिए कि उसके अनुभव उत्पत्ति-विनाश-शील हैं।

(३) चित्त सतिपट्ठान—इसके अभ्यास में साधक को इस बात की अवधारणा करनी चाहिए कि उसका मन राग, द्वेष और मोह से मुक्त है वा नहीं, तथा वह संक्षिप्त (सङ्खित्त) अर्थात् संकुचित है वा विक्षिप्त (विक्खित्त), उसका उत्थान हुआ है वा पतन, इत्यादि। उपर्युक्त स्मृत्युपस्थानों की भाँति यहाँ भी उसे स्मरण रखना चाहिए कि उसका मन उत्पत्ति-विनाश-शील है।

(४) धम्म सतिपट्ठान—इसके अभ्यास में साधक को इन बातों का पता लगाना चाहिए कि वह विघ्नों (नीवरणों, इनकी सूची के लिए देखिए पृ० १००) से मुक्त हो गया है वा नहीं, शरीर के स्कंधों की उत्पत्ति और विनाश किस प्रकार होता

१. दीघ० २, महासतिपट्ठान सुत्तंत।
२. मज्झिम० १, पृ० ५५, सत्तिपट्ठान सुत्त।
३. संयुत्त० ५, पृ० १४१ तथा आगे।

है, उसे सबोज्झगो (देखिए आगे पृ० १४३), चार सत्यो तथा ऐसे अन्य उच्च धम्मो की प्राप्ति हो गई है वा नहीं।

२—धम्मो के द्वितीय वर्ग को 'सम्मप्पधान' (=सम्यक् प्रहाण) अथवा समुचित अभ्यास वा प्रयत्न कहते है। इसके अतर्गत बताए गए कर्तव्य वे ही है जो अष्टाग मार्ग के 'सम्मावायाम' मे बताए गए है, अर्थात् पापो को नष्ट करना तथा पुण्यो का सग्रह एव उनकी रक्षा और वृद्धि करना (दे० पृ० १३३-१३४)।

३—धम्मो का तृतीय वर्ग 'इद्धिपाद' (स० ऋद्धिपाद) कहलाता है, जिसका अर्थ है निम्नलिखित उपायो से असाधारण सिद्धियां प्राप्त करना—

(क) छद-समाधि-पधान-सखार (स० छद-समाधि-प्रहाण-सस्कार), अर्थात् चार प्रकार के ध्यानो मे सिद्धि प्राप्त करने की प्रबल इच्छा,

(ख) विरिय-समाधि-पधान-सखार (स० वीर्य-समाधि-प्रहाण-सस्कार), अर्थात् चार प्रकार के ध्यानो मे सिद्धि प्राप्त करने मे अपनी शक्ति का विनियोग,

(ग) चित्त-समाधि-पधान-सखार (स० चित्त-समाधि-प्रहाण-सस्कार), अर्थात् चार प्रकार के ध्यानो की सिद्धि मे अपने मन को लगाना, तथा

(घ) विमस-समाधि-पधान-सखार (मीमासा-समाधि-प्रहाण-सस्कार), अर्थात् ध्यान की अवस्थाओ मे काम करनेवाले मनस्तत्त्वो की परीक्षा और उनका विवेक।

साधक को सदा सचेत रहना चाहिए कि उसका उक्त चारो सतिपट्ठानो का अभ्यास क्षीण अथवा आलस्य और अभिमान के कारण अवरुद्ध न हो जाय। साथ ही उसे ध्यान रखना चाहिए कि सासारिक सुखो के आकर्षण मे पडकर कहीं वह अपनी साधना खडित न कर दे। इन अभ्यासो को करते-करते साधक देश और काल अथवा दिन और रात्रि के भेदो से ऊपर उठ जाता है और साथ ही उसे अपने शरीर के तत्त्वो का ज्ञान रहता है।

कहा गया है कि इन अभ्यासो के फलस्वरूप अनेक अलौकिक सिद्धिया प्राप्त होती है जिनकी एक लबी सूची निकायो मे दी हुई है, जैसे—इनके द्वारा साधक ऊपर उठकर आकाश मे उसी प्रकार चल सकता है जैसे धरती पर, वह एक दीवार या ऐसी अन्य किसी ठोस वस्तु के घेरे मे से उस पार निकल जा सकता है, इत्यादि।

४—धम्म का चतुर्थ वर्ग इद्रिया अर्थात् शरीर की प्रधान शक्तियां है, जो इस प्रकार है—

(क) 'सद्धिन्द्रिय' (स० श्रद्धेन्द्रिय) अर्थात् श्रद्धा-शक्ति। साधक मे यह अपेक्षा की जाती है कि वह बुद्ध को सम्यक् ज्ञानी, ससार-तत्त्व का ज्ञाता तथा मनुष्यो एव देवो

का उत्तम गुरु मानकर उनमें श्रद्धा रखे। फिर वह धम्म और संघ में भी श्रद्धा करे। इस प्रकार त्रिरत्न में श्रद्धा रखना साधक के सिद्धि की प्रथम भूमिका अर्थात् 'सोतापत्ति' अवस्था तक पहुँचने के लिए न्यूनतम शर्त है (सोतापन्न=वह व्यक्ति जो निर्वाण की प्राप्ति के लिए स्रोत में प्रविष्ट होता है)। इस अभ्यास के द्वारा त्रिरत्न के विषय में साधक का संशय-भाव (विचिकिच्छा) दूर हो जाता है।

(ख) 'विरियिन्द्रिय' (सं० वीर्येन्द्रिय), अर्थात् वीर्य या शक्ति का तत्त्व। साधक में पर्याप्त शक्ति और सामर्थ्य होना चाहिए और उसे अपने दोषों के क्षय तथा गुणों के संग्रह एवं उनकी रक्षा और वृद्धि के लिए परिश्रम करना चाहिए। इसमें और ऊपर उल्लिखित 'सम्मप्पधान' वा 'सम्मावायाम' में कोई अंतर नहीं है।

(ग) 'सतिन्द्रिय' (स्मृतीन्द्रिय), अर्थात् स्मरण-शक्ति। साधक की स्मरण-शक्ति तीव्र होनी चाहिए, जिससे वह बहुत समय पहले किए गए कर्मों वा बोले गए वाक्यों को स्मरण रख सके। इस शक्ति के प्रयोग द्वारा साधक को उपर्युक्त चार 'सति-पट्ठानों' का भी अभ्यास करना चाहिए।

(घ) 'समाधिन्द्रिय', अर्थात् वह शक्ति जिसके द्वारा विचारों को एकाग्र किया जा सकता है और साधक ध्यान की उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाओं पर उठ सकता है। पर इसमें एक शर्त यह है कि साधक इसके अभ्यास (योगमग्ग) में पूर्ण रूप से अपना तन-मन लगा दे। इसका अभ्यास तथा चार 'झान' (ध्यानों) का अभ्यास, दोनों एक ही हैं।

(ङ) 'पञ्ञिन्द्रिय' (सं० प्रज्ञेन्द्रिय), अथवा प्रज्ञा वा बुद्धि-शक्ति। इस शक्ति के प्रयोग से साधक यह जानने में समर्थ होता है कि उसके ज्ञान में क्या क्या बातें आ रही हैं और किन बातों को उसे त्याग देना चाहिए। इस शक्ति का मुख्य कार्य यह है कि साधक को इसके द्वारा दुक्ख, समुदय, निरोध और मग्ग—इन चार सत्यों का ज्ञान हो जाय।[1]

१. बौद्ध ग्रंथों में 'धातु', 'आयतन', और 'इंद्रिय' नाम की शक्तियों में सूक्ष्म भेद किया गया है। जब कोई शक्ति, अथवा ज्ञानेंद्रिय, जैसे 'चक्षु' इंद्रिय, काम नहीं करती रहती—जैसे निद्रा में—तो उसे केवल 'धातु' (यहाँ चक्षु-धातु) कहते हैं। इंद्रिय के कार्यक्षेत्र को 'आयतन' कहते हैं, जैसे 'रूप' चक्षु का आयतन (चक्खायतन) है। जब इंद्रिय कार्य करती रहती है तब उसे 'इंद्रिय' कहते हैं। जैसे जब मनुष्य अपने चक्षुओं से किसी वस्तु को देखता रहता है तब उसकी देखने की शक्ति 'चक्खु-इंद्रिय' कहलाती है।

उपर्युक्त शक्तियाँ विभिन्न साधकों मे भिन्न-भिन्न मात्रा मे होती हैं, और इसी भेद के आधार पर साधना की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे साधकों की श्रेणियाँ निर्धारित की जाती हैं।'

उपर्युल्लिखित इंद्रियों का संबंध कार्यरत शक्तियों से है, अतः उनके लिए 'इंद्रिय' शब्द का प्रयोग किया गया है। बौद्धो के मत से इंद्रियो की संख्या बाईस है, जो इस प्रकार है--

(क) छः ज्ञानेंद्रियाँ--आँख, कान, नाक, जीभ, शरीर और मन।

(ख) जीवित व्यक्तियो में पाए जानेवाले तीन तत्त्व—जीवितेंद्रिय (जीवितिंद्रिय), पुरुषेंद्रिय (पुरुसिंद्रिय) और स्त्री-इंद्रिय (इत्थिंद्रिय)।

(ग) पाँच मनःशक्तियाँ--सुख (सुखिन्द्रिय), दुःख (दुक्खिन्द्रिय), प्रसन्नता (सोमनस्सिन्द्रिय), अप्रसन्नता (दोमनस्सिन्द्रिय), सुख-दुःख दोनों का अभाव (उपेक्खिन्द्रिय)। प्रथम दो का संबंध शरीर से है, द्वितीय दो का मन से और अंतिम एक का शरीर और मन दोनों से। इन इंद्रियो में से प्रत्येक का एक विशेष आधार (निमित्त), कारण (निदान), अनुबंध (पच्चय) और प्रेरक हेतु (संखार) होता है। 'दुक्खिन्द्रिय' का लय प्रथम प्रकार के ध्यान में हो जाता है, दोमनस्सिंद्रिय का द्वितीय प्रकार के ध्यान में, सुखिन्द्रिय का तृतीय प्रकार के ध्यान में और सोमनस्सिन्द्रिय का चतुर्थ प्रकार के ध्यान में। जब साधक ध्यान की अंतिम भूमिका अर्थात् 'सञ्ञावेदयितनिरोध' (जिसमें चेतना प्रायः विलीन हो जाती है) में स्थित होता है तब उपेक्खिंद्रिय का भी लय हो जाता है।

(घ) तीन प्रकार की ज्ञान-शक्तियाँ, अर्थात् (१) वह शक्ति जो मनुष्य को अज्ञात का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है (अन-ञातञ्ञास्सामीतिन्द्रियं = सं० अनज्ञात-आज्ञास्यामि इति इन्द्रियम्); (२) वह शक्ति जो मनुष्य को ज्ञान में पूर्णता प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है (अञ्ञिन्द्रियं = (सं० आज्ञा + इन्द्रियम्); और (३) वह शक्ति जिससे संपूर्ण ज्ञान, सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है (अञ्ञातावीन्द्रियं = सं० आज्ञातावीन्द्रियम्)।

(ङ) ऊपर चतुर्थ वर्ग में गिनाई गई पाँच इंद्रियाँ।

१. दोषक्षय वा चित्त-संस्कार की सर्वोच्च अवस्था अर्हत् पद है, जिसमें समस्त दोषों का क्षय हो जाता है (खीणासव)। ऊपर से नीचे की ओर अवस्थाओं का क्रम इस प्रकार है--

(१) अर्हत् (पूर्ण वा सिद्ध पद); (२) 'अंतरापरिनिभायी', अर्थात् वे अनागामी जो देवयोनि में रहते हुए अपने अंतरकालीन जीवन में ही 'निब्बान'

५—धम्म का पंचम वर्ग 'बल' वा आंतरिक शक्ति कहलाता है। इसके अंतर्गत बताए गए पाँच प्रकार के बल वही हैं जो इंद्रियों में गिनाए गए हैं, अर्थात् श्रद्धा (सद्धा), शक्ति (विरिय), स्मृति (सति), ध्यान (समाधि) और ज्ञान वा प्रज्ञा (पञ्ञा)। 'इंद्रिय' और 'बल' में मुख्य अंतर यह है कि इंद्रिय क्रियाशील होती है और उसका सदा एक ही रूप में रहना आवश्यक नहीं है, परंतु बल इंद्रिय की क्रिया का परिणाम है और इस कारण वह स्थिर होता है और साधक को दृढ़तापूर्वक इंद्रिय में स्थित रखता है, अर्थात् इंद्रिय बल के रूप में परिणत हो जाती है।

अन्य सभी अभ्यासों के समान बलों के साथ 'विवेक' (एकांतता), 'विराग' (राग या आसक्ति का न होना), 'निरोध' (नाश), और 'वोसग्ग' (बल की प्राप्ति के लिए पूर्ण तन-मन से प्रयत्नशील होना) भी होना चाहिए। ये बल प्राप्त हो जाने पर सूक्ष्म बंधनों (उद्धभागिय—संयोजन) को काटने में सहायक होते हैं और साथ ही निब्बान के उच्च स्तर तक पहुँचने के लिए सीढ़ी का काम करते हैं।

प्राप्त करते हैं; (३) 'उपहच्च परिनिभायी', अर्थात् वे अनागामी जो अपने जीवन के अंत के कुछ पहले निब्बान प्राप्त करते हैं; (४) 'असंखार-परिनिभायी', अर्थात् वे अनागामी जो अत्यल्प परिश्रम से निर्वाण प्राप्त करते हैं; (५) 'ससंखार-परिनिभायी', अर्थात् वे अनागामी जो अत्यंत परिश्रम से निर्वाण प्राप्त करते हैं; (६) 'उद्धंसोतो—अकनिट्ठगामी', अर्थात् वे अनागामी जो क्रमशः एक स्वर्ग से दूसरे उच्च स्वर्ग में जाते हैं और अकनिट्ठ स्वर्ग में रहते हुए निर्वाण प्राप्त करते हैं; (७) 'सकदागामी', अर्थात् वे जिनका, निर्वाण प्राप्त करने के लिए एक बार पुनः इस संसार में जन्म होगा; (८) 'एकबीजी', अर्थात् वे सकदागामी जो निर्वाण प्राप्त करने के लिए केवल एक बार और कामधातु में जन्म लेंगे; (९) 'कोलंकोल', अर्थात् वे सकदागामी जो एकाधिक बार कामधातु की देवयोनि में जन्म लेंगे (देवकुलंकुल, जो कम-से-कम एक बार मनुष्य-योनि में जन्म लेते हैं वे 'मनुष्य-कुलंकुल' कहलाते हैं)। सबसे निचली अवस्था (१०) 'सोतापन्न' वा 'सत्तक्खत्तुपरम' की होती है, जिसे निर्वाण प्राप्त करने के लिए इस संसार में सात बार और जन्म लेना पड़ता है। सोतापन्न दो प्रकार के होते हैं—एक (११) 'सद्धानुसारी', जो ज्ञान की अपेक्षा श्रद्धा पर अधिक निर्भर रहते हैं और दूसरे (१२) 'धम्मानुसारी', जो ज्ञानी होते हैं और श्रद्धा की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक निर्भर रहते हैं। (अधिक विवरण के लिए दे० नलिनाक्ष दत्त, 'ऐस्पेक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म', पृ० २५०, २६३, २६८; कोश, ३)।

६—षष्ठ वर्ग के धम्म, जो सबोज्झग (सं० सम्बोध्यग) कहलाते हैं, और जिनके द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है (बोधाय सवत्तन्तीति सबोज्झग), बुद्ध के द्वारा सम्यक् सबुद्ध के चक्रवर्तिरत्नों के समान सात रत्न कहे गए हैं। उन्होंने इनका बहुत बड़ा महत्त्व बतलाया है। इनके अभ्यास से दोषों या आसवों (काम, भव, दिट्ठि) का नाश हो जाता है, पच बाधाएँ (नीवरण) पूर्णत दूर हो जाती हैं और साधक को ज्ञान (विज्जा) और मुक्ति (विमुत्ति) प्राप्त हो जाती है, दूसरे शब्दों में वह अर्हत् (खीणासव) हो जाता है और उसे यह अनुभव होने लगता है कि 'अब मेरा कर्तव्य पूरा हो गया और अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा' (खीणा जाति कत करणीय नापर इत्थत्ताय)। सबोज्झग की प्राप्ति के लिए यह अत्यत आवश्यक है कि साधक पूर्ण रूप से शीलों का आचरण करनेवाला हो, जो कि उसके लिए वैसे ही आधाररूप है जैसे वृक्ष के लिए पृथ्वी (सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्त पञ्ञ च भावयम), और तब उसे अष्टाग मार्ग (अट्ठगिकमग्ग) को गुरु वा पथ-प्रदर्शक (कल्याणमित्त) के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

इस वर्ग के धम्मों को ऐसे क्रम में रक्खा गया है कि प्रत्येक धम्म अपने बाद वाले धम्म के लिए एक सीढ़ी के समान है और प्रथम धम्म से अतिम धम्म तक क्रमश प्रगति को हम उसी रूप में समझ सकते हैं जैसे ध्यान में साधक का क्रमश प्रथम से चतुर्थ भूमिका तक उत्थान होता है। उनकी क्रमिक व्याख्या से यह भली भाँति स्पष्ट हो जायगा—

(१) सतिसम्बोज्झग (=स्मृतिसम्बोध्यग)—इसकी प्राप्ति उसी रीति से की जाती है जैसे उपर्युक्त चार सतिपट्ठानों की (दे० पूर्व पृ० १३८–३९), जो वस्तुत ध्यान के ही एक प्रकार हैं। इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि साधक ने शील के आचरण, ध्यान (समाधि) के अभ्यास और प्रज्ञा की प्राप्ति में तथा सामारिक विषयों से अपने मन को मुक्त करने में बहुत-कुछ सफलता प्राप्त कर ली हो। उसमें यह समझने की अतर्दृष्टि भी होनी चाहिए कि विमुक्ति क्या है (विमुक्ति-ञाण-दस्सन)। साथ ही उसे अपनी स्मरण-शक्ति इतनी बढ़ा लेनी चाहिए कि धर्म का प्रवचन सुनने के बाद वह एकात में जाकर उसके तत्त्वों पर मनन कर सके।

(२) धम्म विचय सबोज्झग अथवा धम्म का विवेक (विचय)—साधक को इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि उसे जिन धम्मों का अभ्यास और आचरण करना है वे उत्तम हैं वा निकृष्ट, सदोष हैं वा निर्दोष, इत्यादि। सबोज्झग की सिद्धि के लिए उसे एकात में बैठकर सुने हुए धम्म-प्रवचन के विषयों और अर्थों का विवेचन करना चाहिए।

(३) विरिय सबोज्झग अथवा शक्ति—सब प्रकार से अपनी शक्ति (निक्कम और परक्कम) के प्रयोग (आरभ) से इसकी वृद्धि होती है। यह वस्तुत 'विरियिन्द्रिय' के ही समान है जिसकी विस्तृत व्याख्या ऊपर की जा चुकी है, केवल इतना इसमे और कहा गया है कि साधक को प्रवचन सुनने और उसका मनन और विवेचन करने के बाद उसी के अर्थ वा विषय की 'भावना' करनी चाहिए।

(४) पीति सबोज्झग (=प्रीति वा प्रसन्नता)—इसकी प्राप्ति वस्तुत पूर्वोक्त तीनो की ही प्राप्ति से होती है। इसकी रीति वही है जो तीसरे प्रकार के ध्यान की बतलाई गई है, जिसमे साधक वितर्क और विचार से बिलकुल रहित होकर आनद प्राप्त करता है। इसके पूर्व के सबोज्झग मे वह भावना का अभ्यास करता है और उसमे सफल होने पर उसे प्रीति (पीति) प्राप्त होती है।

(५) पसद्धि सबोज्झग अथवा मानसिक शाति—पूर्वोक्त चार सबोज्झगो, विशेषत 'पीति', के प्राप्त होने पर शारीरिक और मानसिक शाति प्राप्त होती है।

(६) समाधि सबोज्झग अथवा ध्यान—पूर्वोक्त 'पसद्धि' अर्थात् शाति की प्राप्ति से ध्यान एकाग्र हो जाता है और साधक को मानसिक दृढता और विश्राति प्राप्त होती है।

(७) उपेक्खा सबोज्झग अथवा मानसिक समभाव—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, चतुर्थ ध्यान की भाति इसके द्वारा चित्त की वृत्तियाँ सम हो जाती है और किसी भी लाभ-अलाभ, सुख-दुख वा हर्ष-शोक से चित्त मे विक्षोभ नही होता।

ये सात अभ्यास बुद्ध ने रुग्ण भिक्षुओ के स्वास्थ्य लाभ करने के लिए बतलाए है। इन्हे सिद्ध कर लेने के उपरात साधक बहुत लोकप्रिय हो जाता है और लोगो को अपने प्रवचनो और व्याख्यानो से सतुष्ट कर सकता है। इनके द्वारा अनागामी 'अतरापरिनिभायी', 'उपहच्च परिनिभायी' अथवा 'उद्धसोतो अकणिट्ठगामी' हो जाता है (पृ० १४२)। अत मे इनके द्वारा तीन दोषो—राग, द्वेष, मोह—का नाश हो जाता है। साधकगण कभी-कभी इनका अभ्यास चार ब्रह्मविहारो (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्खा) के साथ-साथ करते है।

अध्याय १०

दार्शनिक समस्याएँ

(क) प्रतीत्य समुत्पाद (पटिच्च समुप्पाद)

'प्रतीत्य समुत्पाद' बौद्ध धर्म के मूल उपदेशो मे से एक है। कहा जाता है कि बुद्ध को इसका ज्ञान उसी रात्रि मे हुआ था जिसमे उन्हे बोधि प्राप्त हुई थी। जब उनका मन पूर्ण रूप से मुक्त हो गया तब उन्हे इस दृश्य-विश्व के मौलिक सत्य का अनुभव हुआ। तब उन्होने स्वाभाविक क्रम से कारणो की एक शृखला या परपरा स्थिर की, जिसकी व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि ससार मे जीवो वा पदार्थों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसकी अनित्यता वा क्षणभगुरता के कारण कैसे वे दु ख के बधन मे फँस जाते है और फिर किस प्रकार उक्त कारण-शृखला की प्रत्येक कडी को काटकर जीव पुनर्जन्म के चक्र तथा उससे होनेवाले दु खो से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इस कारण-परपरा या प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धात से इस सत्य की स्थापना हुई कि ससार मे बारबार जन्म और उससे होनेवाले दु खो का सबध किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर, वा नित्य प्रकृति, वा अणु-परमाणु, वा अपरिवर्तनशील एव अविनाशी ब्रह्म वा आत्मा, वा कारण रहित सयोग, अथवा नियति से नही है, प्रत्युत उनके कुछ निश्चित हेतु (कारण) और प्रत्यय (शर्तें) होते है।

इस सिद्धात के द्वारा इस प्रकार के वितर्कों की निस्सारता प्रकट हो गई कि यह ससार शाश्वत है वा अनित्य (उच्छेद), इसका कोई आदि (पूरुआत) अथवा अत (अपरात) है वा नही, यह सात (अनवान्) है वा अनत (अनतवान्) इत्यादि। बुद्धघोष के मत से इसमे 'समुत्पाद' शब्द द्वारा नास्तिवाद (नत्थिता) और उसके विरोधी अस्तिवाद (अत्थिता) दोनो सिद्धातो का निरसन है, जिन्हे बुद्ध ने अस्वीकृत कर दिया था। इस सिद्धात से 'मै क्या था ? क्या हूँ ? क्या होऊँगा ?' इत्यादि प्रश्नो का, अर्थात् आत्मा के अस्तित्व और उसकी नित्यता के सबध मे सभी प्रकार की धारणाओ का, अत हो गया। इस प्रकार इसने बुद्ध के समय मे प्रचलित वेदात, साख्य, न्याय-वैशेषिक, जैन वा आजीवक सभी मतो का खडन कर दिया और इस सत्य की दृढ स्थापना कर दी कि इस दृश्य जगत् की उत्पत्ति और इसका विनाश कारण और कार्य के अखड नियम के अधीन होता है, जो कि प्रत्येक पदार्थ मे प्रतिक्षण क्रियाशील रहता है और इस कारण उसमें

होनेवाला परिवर्तन क्षणिक होता है। दूसरे शब्दों में, समार के सभी जीव और पदार्थ एक अखड प्रवाह की स्थिति में है। फिर प्रत्येक लघु क्षण मे भी, जिसका कि अस्तित्व भी अकल्पनीय है, तीन भाग होते है—'उत्पत्ति', 'स्थिति' और 'व्यय' (=नाश) अत इसकी भली भाँति कल्पना की जा सकती है कि यह परिवर्तन कितना शीघ्र और साथ ही निरतर गति से होता है और इस निरतर परिवर्तन मे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि इसम ऐसा कुछ भी नही है जो नित्य तत्त्व समझकर ग्रहण किया जा सके। इस सत्य का ज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य सासारिक विषयो के आकर्षण मे अपने को बचाने मे समर्थ होता है, उसका मन पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है और फिर उसका ससार मे जन्म नही होता। तब उसे निर्वाण (निब्बान) की स्थिति प्राप्त हो जाती है, जो सर्वथा कारण-रहित और प्रत्यय-रहित (अप्रतीत्यसमुत्पन्न) है और जिसकी उपमा केवल आकाश से दी जा सकती है। जिस प्रकार आकाश के दर्शन के लिए कोई श्रम नही करना पडता, केवल उसके और हमारे बीच से दृष्टि को रोकनेवाले पर्वत, वृक्ष, भवन आदि पदार्थो के हट जाने से ही वह दिखाई पड जाता है उसी प्रकार निर्वाण की प्राप्ति श्रम के द्वारा नही प्रत्युत मन की मुक्ति मे बाधक होनेवाले कारणो,अर्थात् मिथ्या ज्ञान, मानस-मल एव दार्शनिक तर्क-वितर्क आदि, को दूर करने से ही होती है। निर्वाण कोई ऐसी अवस्था नही है जिसे प्राप्त करने के लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता हो। प्रत्युत ऐसे व्यक्ति को वह स्वत प्राप्त हो जाता है जो प्रतीत्य समुत्पाद अर्थात् कारण-परपरा के सिद्धात को समझकर प्रत्येक प्रकार की मिथ्या धारणाओ से अपने मन को मुक्त कर लेता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निर्वाण वा सत्य को प्राप्त करने अथवा बुद्ध होने के लिए केवल कारण-परपरा के सिद्धात को समझ लेना आवश्यक है। निम्नलिखित वाक्यो से यह भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है—

यो प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति सो धर्मं पश्यति। यो धर्मं पश्यति स बुद्धं पश्यति। (जो प्रतीत्य समुत्पाद को समझता है उसे सत्य का साक्षात्कार होता है। जिसे सत्य का साक्षात्कार होता है उसे बुद्धत्व प्राप्त होता है।)

उत्पादाद्वा तथागतानां अनुत्पादाद्वा तथागतानां स्थितैवेयं धर्मता धर्मस्थितिता धर्मनियमता तथता अवितथता अनन्यतथता भूतता सत्यता तत्त्वं अविपरीतता विपर्यासेत्येवमादिभगवान्मैत्रेयवचनम् (कोशव्याख्या, ३।४१)। (भगवान् मैत्रेय ने सत्य कहा है कि तथागत की उत्पत्ति, अनुत्पत्ति वा स्थिति तथा संसार के पदार्थों की उत्पत्ति, अनुत्पत्ति वा स्थिति में कोई अंतर नहीं है। उसका तथा स्थिति, प्राकृतिक नियम, यथार्थता, अपरिवर्तनशीलता, सत्यता, अविपरीतता, भ्रमरहितता इत्यादि का एक ही अर्थ है।)

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में से प्रथम से यह विदित होता है कि प्रकृति का यथार्थ ज्ञान हो जाने से सत्य का, बुद्ध का, दर्शन स्वतः हो जाता है, और द्वितीय से यह विदित होता है कि यदि तथागत को गौतम बुद्ध के समान एक देहधारी व्यक्ति के रूप में (यद्यपि उन्हें सर्वथा दोषरहित और पवित्र मानकर) देखा जाय तो अन्य सब पदार्थों की भाँति उन्हें भी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के अधीन मानना पड़ेगा, परन्तु यदि उन्हें अशरीरी समझा जाय, जो वे वस्तुतः सत्य के साक्षात्कार द्वारा हो गए हैं, तो उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की बात करना व्यर्थ है।

बौद्ध दर्शन में यह तथ्य सिद्ध मान लिया गया है कि सभी सांसारिक पदार्थ 'संस्कृत' हैं और निर्वाण, बुद्ध वा तथागत तथा आकाश 'असंस्कृत' हैं। प्रतीत्य समुत्पाद वा सहेतु उत्पत्ति के नियम का विनियोग केवल 'संस्कृत' पदार्थों के ही संबंध में हो सकता है, अतः यदि कोई यह भली भाँति समझ ले कि 'संस्कृत' पदार्थ क्या है, तो उसे 'असंस्कृत' सत्य का साक्षात्कार उसी प्रकार हो जाता है जैसे बीच के दृष्टिबाधक पदार्थों के हट जाने से आकाश का दर्शन होता है।

इस प्रकार बौद्ध दर्शन जो सिद्धान्त स्थापित करना चाहता है वह यह है कि हमारी संकुचित दृष्टि और ज्ञान के द्वारा 'लोकोत्तर', 'असंस्कृत', 'भूतकोटि' (चरम सत्ता) वा सत्य के स्वरूप को समझना किसी प्रकार संभव नहीं है, परन्तु यह समझ लेना सरल है कि सांसारिक दृश्य पदार्थों में कोई तत्त्व ढूँढना मृगमरीचिका के पीछे दौड़ने के समान है, वे सर्वथा निस्सार हैं। प्रतीत्य समुत्पाद के नियम द्वारा मनुष्य को पदार्थों की इस निस्सारता का ज्ञान सरलता से हो जाता है, जिससे उसका संपूर्ण भ्रम और मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है। उसका मन दर्पण की भाँति स्वच्छ हो जाता है, जिसमें सत्य बिना किसी प्रयास के स्वतः आभासित होता है।

परन्तु नागार्जुन ने इस नियम से दूसरा ही तात्पर्य निकाला है। उनका तर्क यह है कि सत् पदार्थों का कभी अभाव नहीं होता, वे शाश्वत होते हैं, तथा असत् पदार्थों का भाव वा अस्तित्व नहीं होता। इन दोनों के बीच की कोई अल्पस्थायी सत्ता नहीं है; ऐसे मध्यवर्ती पदार्थ का अस्तित्व तर्कविरुद्ध है। इस प्रतिज्ञा के आधार पर उनका कथन है कि हेतु अपने फल में अपरिवर्तित रूप में विद्यमान रहना चाहिए। परन्तु यह संभव नहीं है, इसलिए कोई फल हेतु वा प्रत्यय से उत्पन्न नहीं होता। उनके मत से केवल निर्वाण ही सत् है, क्योंकि वह किसी हेतु या प्रत्यय से उत्पन्न नहीं होता। परन्तु सांसारिक पदार्थ, जो हेतु और प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं, असत् हैं, वे केवल मानसी सृष्टि (प्रपंच) है। इस प्रकार नागार्जुन ने इस नियम का उपयोग वेदान्तियों के

मायावाद की भाँति सामान्य पदार्थों की असत्ता वा मिथ्यात्व (धर्मशून्यता) सिद्ध करने के लिए किया है। इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए कि 'अस्मिन् सति इद भवति' के नियम का प्रतिपादन स्वय बुद्ध ने किया था, नागार्जुन का कहना है कि इस नियम का सबध मुख्यत पदार्थों की सापेक्ष किंतु दृश्य सत्ता—जैसे दीर्घ-लघु, कृष्ण-शुक्ल, काष्ठ-मच, राम-श्याम—से है। सामान्य पदार्थों के केवल भिन्न-भिन्न नाम भर हैं, वस्तुत वे एक ही तत्त्व है, जिसे नागार्जुन ने एक गुणरहित आधार के रूप में माना है और उसे 'शून्यता' नाम दिया है। इस नियम का प्रतिपादन बुद्ध ने अज्ञानी मनुष्यों को पदार्थों की तात्त्विक एकता का बोध कराने के लिए किया था।

नागार्जुन की इस व्याख्या को बुद्धघोष और वसुबधु जैसे बौद्ध मत के प्राचीन आचार्यों ने नहीं माना है। अभिधर्म के लेखकों ने कारण-शृखला की प्रत्येक कड़ी की विस्तृत व्याख्या की है, जो इस प्रकार है—

अविज्जापच्चया संखारा, संखारपच्चया विञ्ञान, विञ्ञानपच्चया नाम रूपं, नामरूपपच्चया सडायतनं, सडायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति। एवमेतस्स केवलस्स दुक्खखंधस्स समुदयो होति। अविज्जयात्वेव असेसविरागनिरोधा संखार निरोधो, संखारनिरोधा विञ्ञाननिरोधो, विञ्ञाननिरोधा नामरूप निरोधो,.....जातिनिरोधा जरामरणं सोक परिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति। एवमेतस्स दुक्खखन्धस्स निरोधो होति।

उपर्युक्त नियम में बारह कारण तीन वर्गों में इस प्रकार विभक्त हैं—

पूर्वान्त (पूर्व जन्म)—१ अविद्या, २ सस्कार,

मध्य (वर्तमान जीवन)—३ विज्ञान (चेतना), ४ नाम-रूप, ५ षडायतन (छ ज्ञानेंद्रियाँ), ६ स्पर्श, ७ वेदना, ८ तृष्णा, ९ उपादान, १० भव (पुनर्जन्म की इच्छा);

अपरान्त (भविष्य जन्म)—११ जाति (पुनर्जन्म), १२ सोक-परिदेवन-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास (जरा-मरण, शोक, विलाप, दुःख और निराशा)।

दूसरा वर्गीकरण इस प्रकार है—

क्लेश—अविद्या, तृष्णा, उपादान,

कर्म—सस्कार, भव;

वस्तु—विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति, जरा-मरण।

इन शब्दो की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

अविज्जा (=अविद्या) का मूल अर्थ है चरम सत्य, बोधि वा निर्वाण के ज्ञान का अभाव ; सासारिक पदार्थो की अनात्मता के ज्ञान का अभाव तथा उनकी अनित्यता के कारण, जो कि दु ख का मूल है, चार आर्य सत्यो के ज्ञान का अभाव, जिनके अन्तर्गत कारण-परपरा का नियम तथा अष्टाग मार्ग भी है। बौद्ध धर्म के मूल सिद्धातो के इस ज्ञानाभाव के कारण मोह उत्पन्न होना है और मोह से राग और द्वेष उत्पन्न होते है। ये तीनो मनुष्य जीवन के लिए घोर बाधास्वरूप तथा समस्त दु खो के कारण है। अविद्या को वस्तुत ज्ञान का अभाव मात्र नही मानना चाहिए, क्योकि अभाव से कोई वस्तु उत्पन्न नही हो सकती। अविद्या से तात्पर्य राग द्वेष, मोह आदि दोषो या मलो से है जो भावरूप तथा सस्कारो (सखारा=मिथ्या धारणाएँ) के जनक है। ये अविद्या अर्थात् मूल सत्यो के अज्ञान से उत्पन्न होते है, क्योकि इसके द्वारा मन मे पुण्य, अपुण्य और 'अनेञ्ज' (न पुण्य, न अपुण्य) सबधी कल्पनाओं की सृष्टि होती है। जब इस प्रकार की कल्पनाएँ मनुष्य के मन मे बद्धमूल होकर उसके जीवन के अत तक बनी रहती है तो उन्हे 'सस्कार' कहते है। ये सस्कार मनुष्य के द्वारा उसके सपूर्ण जीवन मे किए गए कर्मो के परिणाम-स्वरूप भी होते है। मनुष्य के इन्ही सस्कारो वा कर्मफलो के द्वारा उसके अगले जन्म के भविष्य का निर्माण होता है। उपर्युक्त दोनो, अर्थात् अविद्या और सस्कार, का सबध जीव के पूर्वजन्म (पूर्वान्त) से जोडा गया है।

'मध्य' अर्थात् वर्तमान जीवन का प्रारभ 'विज्ञान' (विञ्ञाण) से होता है, जिसका अर्थ 'कोश' (३।२८) के अनुसार वह विशेष चेतना तत्त्व है जो पुनर्जन्म का कारण है (प्रतिसन्धि विज्ञान)। यह मन (जो छ. ज्ञानेन्द्रियो मे से एक है) का एक रूप भी है (मनोविज्ञान)।

इस मनस्तत्त्व से अन्य मनस्तत्त्व अर्थात् 'वेदना', 'सज्ञा', 'सस्कार' और पंच ज्ञानेन्द्रियाँ (पच-इन्द्रिय-विज्ञान) उत्पन्न होती है। इन सबको समष्टि रूप मे 'नाम' कहते है जो नम् धातु (=मोडना या झुकाना, मन को विषयो की ओर प्रवृत्त करना) से व्युत्पन्न होता है। मानसिक वृत्तियाँ बिना किसी बाह्य आश्रय या विषय के नही रह सकती, अत उनके लिए 'रूप' वा धातुओ—जैसे मास, रक्त, अस्थि इत्यादि—की आवश्यकता होती है। इस कारण पूर्व जन्म के सस्कार एक नए जीव को उत्पन्न करते है जो अपना जीवन गर्भ के भीतर एक वर्धमान डिभ के रूप मे प्रारभ करता है और जिसका पोषण माता के रक्त द्वारा होता है। गर्भ के भीतर ही बढते हुए इस नाम-

रूपात्मक पिंड में ज्ञानेंद्रियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, यद्यपि अपने-अपने विषयों के अभाव में वे निष्क्रिय बनी रहती हैं।

जीव जब गर्भ वा अंड से बाहर आता है तब उसकी छहों ज्ञानेंद्रियों का संपर्क (फस्स=स्पर्श) उनके छः प्रकार के विषयों से होता है और वे 'वेदना' अर्थात् बुरे या भले अनुभव उत्पन्न करती हैं। वेदनाएँ अपने स्वभाव के अनुसार विभिन्न प्रकार की तृष्णा (तण्हा) उत्पन्न करती हैं, जैसे—सांसारिक विषयों की तृष्णा (काम-तृष्णा), काम, रूप और अरूप इन तीन प्रकार की योनियों में से किसी में पुन जन्म लेने की तृष्णा (भव-तृष्णा), अथवा अपने जीवन का अंत कर देने की तृष्णा (विभव-तृष्णा)। इनमें से भव-तृष्णा केवल शाश्वतवादियों तक सीमित है और विभव-तृष्णा केवल उच्छेदवादियों तक। किसी भी प्रकार की तृष्णा से अपनी इच्छित वस्तुओं एवं मिथ्या धारणाओं के प्रति घोर आसक्ति (उपादान) हो जाती है। 'उपादान' शब्द का अर्थ है अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने (छंद) और प्राप्त वस्तु को अपने पास बनाए रखने की बलवती इच्छा (राग)। यह चार प्रकार का कहा गया है—सांसारिक विषयों में आसक्ति (काम), भ्रांत विचारों (दृष्टि) के प्रति आसक्ति, यज्ञ-तप आदि कर्मों (शील-व्रत) के प्रभाव तथा आत्मा के अस्तित्व में विश्वास के प्रति आसक्ति। उपादान का परिणाम है काम, रूप और अरूप—इन तीन योनियों में से किसी में पुनर्जन्म (भव वा पुनर्भव)।

कारण-शृंखला की तीन अंतिम कड़ियाँ, अर्थात् 'भव' (पुनर्जन्म की इच्छा), 'जाति' (जन्म) एवं 'जरा-मरण' वस्तुत पूर्ववर्ती कारणों की भाँति कोई क्रमिक कड़ियाँ नहीं हैं, प्रत्युत वे केवल यह संकेत करती हैं कि कारण-शृंखला पुन प्रारंभ हो जाती है। अत सच पूछा जाय तो 'उपादान' का परिणाम है पुनर्जन्म की चेतना (प्रतिसंधि विज्ञान), जिसका अर्थ है दूसरे जन्म का प्रारंभ।

कारण-शृंखला की बारह कड़ियों में से 'विज्ञान' से लेकर 'भव' तक आठ कड़ियों का क्रम एक माला के रूप में है और वे वर्तमान जीवन की व्याख्या करती हैं। प्रथम दो (अविद्या, संस्कार) तथा अंतिम दो कड़ियों (जाति, जरा-मरण) के संबंध में यह माना गया है कि वे क्रमश. जीव के अतीत एवं भविष्य जन्मों की सूचक हैं, जिनमें बौद्ध धर्म विश्वास करता है।

(ख) कर्म-सिद्धांत

पहले कहा जा चुका है कि बुद्ध ने मनुष्य के जीवन का भविष्य निर्धारित

करने में कर्म के प्रभाव पर बहुत जोर दिया था। मनुष्य-जीवन पर उसके कर्मों के प्रभाव की बात ब्राह्मण-मतों में भी स्वीकृत है, परन्तु बौद्ध लोग नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करने के कारण, कर्म-फलों के दूसरे जन्मों में सक्रमित होने के सबध में और ही प्रकार के तर्क उपस्थित करते हैं।

बौद्ध लोग इस बात को नहीं मानते कि जो मनुष्य कर्म करता है वही उस कर्म का फल भोगता है, अथवा एक मनुष्य कर्म करता है और दूसरा मनुष्य उसका फल भोगता है (सो करोति सो पटिसवेदयति, अञ्ञो करोति अञ्ञो पटिसवेदयति)।[1]

बौद्ध लोग नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, इस कारण उन्हें यह मत भी स्वीकार्य नहीं है कि जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है, अथवा जो कर्म करता है उसके अतिरिक्त कोई दूसरा उसका फल भोगता है। उनका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति एक निरन्तर प्रवाह की स्थिति में है, अर्थात् उसके पांचों स्कध—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान—जिनसे वह बना हुआ है, प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहे हैं, इसलिए यह कहना ठीक नहीं हो सकता कि जो व्यक्ति कर्म करता है वही उसका फल भोगता है। जिस व्यक्ति ने कर्म किया वह तो वस्तुत उस कर्म का फल होने के समय तक वही व्यक्ति रह ही नहीं गया—प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने के कारण वह परिवर्तित हो गया—यद्यपि वह पहले से सर्वथा भिन्न व्यक्ति नहीं हो गया।

बौद्धों का कर्म-सिद्धात उनके क्षणिकवाद तथा कारण-परपरा के सिद्धात से सबद्ध है। उनके मत के अनुसार ससार के समस्त जीव एव अन्य पदार्थ एक निरन्तर प्रवाह की स्थिति में हैं, अत किन्हीं भी दो क्षणों में वे एक ही स्थिति में नहीं रह सकते। एक क्षण की स्थिति के नष्ट होने पर ही दूसरे क्षण की स्थिति प्राप्त होती है, जैसे एक बीज के नष्ट होने पर ही उससे वृक्ष (अकुर) उत्पन्न होता है। बीज से उत्पन्न अकुर वह बीज नहीं है, परन्तु वह सर्वथा उससे भिन्न भी नहीं है, क्योंकि बीज के गुण अकुर में सक्रमित हो जाते हैं, यद्यपि भूमि, जल, वायु इत्यादि की स्थिति के अनुसार उनमें कुछ परिवर्तन हो जाता है। कर्म के सबध में बौद्धों की यह युक्ति कतिपय ब्राह्मण दार्शनिकों को भी मान्य हो गई होती, यदि बौद्धों ने आत्मा को शरीर से पृथक् एक अपरिवर्तनशील सत्ता के रूप में स्वीकार किया होता। परन्तु बौद्ध आचार्यों के मत से यदि देहधारियों में आत्मा नाम की कोई वस्तु हो भी तो वह अपरिवर्तनशील नहीं मानी जा सकती, क्योंकि आत्मा वा पुद्गल (पुग्गल) अविच्छेद्य रूप से शरीर के पच-स्कधों के साथ

१. संयुत्त० २, पृ० ७५-६।

बँधा हुआ है और उनसे पृथक् उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कर्म-सिद्धान्त को समझाने के लिए बौद्ध लोग प्राय कई प्रकार के दृष्टान्त दिया करते हैं। वे यह तर्क देते हैं कि एक छोटी-सी जलती हुई दियासलाई एक बृहत् अग्निराशि का कारण है, परन्तु कोई यह नहीं कह सकता कि दोनों अग्नियाँ एक ही हैं अथवा दोनों एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। इसी प्रकार एक आम की गुठली और उससे उत्पन्न वृक्ष के फल एक हो नहीं हैं।

अत इससे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'सो करोति सो पटिसवेदयति' वा अञ्ञो करोति अञ्ञो पटिसवेदयति' कहना ठीक नहीं है। ये दोनों दो अतकोटि के मत हैं, जिन्हें बुद्ध ने त्याग कर मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया था जो उनके मत से यह है—'न च सो न च अञ्ञो' (वह न वही है न उससे भिन्न कोई अन्य है)। इसमें सदेह नहीं कि मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता है,परन्तु उसके कर्म का परिणाम, जैसा कि कारण-परम्परा के सिद्धान्त से सिद्ध है, तत्काल होता है, जो उसके पचस्कधो मे विकार वा परिवर्तन उपस्थित करता है। यह परिवर्तन बुरा भी हो सकता है और भला भी। जैसे,जीव-हिंसा करके मनुष्य अति घोर हिंसक भी बन सकता है और अत्यत महान् सत भी—अगुलिमाल ९९ मनुष्यों का वध करने के बाद सत हो गया था। एक खट्टे आम की गुठली से विशेष परिस्थितियों मे मीठे आम भी उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव बौद्ध लोग यह नहीं मानते कि कर्म जिस प्रकार से किया जाता है उसी प्रकार से उसका फल भी प्राप्त होता है। कर्म-सिद्धान्त की इस प्रकार की व्याख्या के कारण ही ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के बीच मौलिक अतर आ गया।

(ग) अनात्मवाद (अनत्त)

बुद्ध द्वारा राहुल को दिए गए उपदेशों मे तथा अनत्तलक्खण सुत्त मे यह बतलाया गया है कि देही के पचस्कधों का अस्तित्व वास्तविक नहीं है; वे सब तत्त्वहीन हैं, मिथ्या हैं, और जब 'आयु', 'ऊष्मा' और 'विज्ञान' का अत हो जाता है तब वे विघटित हो जाते हैं। पचस्कधों के अतिरिक्त देही के भीतर आत्मा (अत्त) नाम का कोई छठा तत्त्व नहीं है। जब पचस्कध सघटित होकर देहधारी का निर्माण करते हैं तब वे उपादान-स्कध बन जाते हैं, दूसरे शब्दों मे प्रत्येक स्कध एक निश्चित मात्रा मे अन्य सब स्कधों के साथ मिलकर देही का निर्माण करते हैं। स्कधों का यह सघटन किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर की इच्छा वा प्रेरणा से नहीं प्रत्युत कारण-परम्परा के सिद्धान्त के अनुसार होता है, जैसे वन मे उगा हुआ एक वृक्ष पहले पुष्पों

और फिर फलों को जन्म देता है,[1] और यदि नव-निर्माण के लिए आवश्यक हेतु औ परिस्थितियां विद्यमान हों तो वे ही फल धरती पर गिरकर पुन दूसरे वृक्षो को उत्पन्न करते है । इस उत्पत्ति-परपरा मे आत्मा नाम की किसी वस्तु का कोई स्थान नही है क्योकि वन के भीतर वृक्ष की स्वाभाविक उत्पत्ति मे हमे आत्मा की कोई आवश्यकता ही नही प्रतीत होती, यद्यपि पूर्ववर्ती वृक्ष के गुण उसके बीज मे उत्पन्न नवीन वृक्ष मे बराबर पाए जाते है ।

निकायो मे ऐसे अनेक प्रवचन है जिनमे यह स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है कि ससार मे कोई ऐसा पदार्थ नही है जो अनित्य (अनिच्च) और इस कारण अनात्म (अनत्त) न हो । पचस्कध भी इस सत्य के अपवाद नही है, अत उनमे से किसी एक स्कध को, या सबको समष्टि रूप मे, आत्मा समझना भ्राति है । पचस्कधो के अतिरिक्त और उनसे पृथक् भी किसी वस्तु को हम आत्मा नही कह सकते, जो 'अह' और 'मम' (मै और मेरा) की प्रतीति का आधार माना जा सके । पाली[2] मे इसे इस प्रकार समझाया गया है--

अस्सुत वा पुथुज्जनो
(१) रूप (वेदन सञ्ञा सखारा विञ्ञाण वा) अत्तनो समनुपस्सति ।
(२) रूपवन्त व अत्तान
(३) अत्तानि व रूप
(४) रूपस्मि व अत्तान समनुपस्सति ।

अज्ञानी प्राकृत जन भौतिक तत्त्वो अर्थात् 'रूप' को, अथवा अन्य स्कधो मे से किसी एक को आत्मा समझ लेते है (यह वैसा ही है जैसे दीपशिखा और उसके रग को एक ही समझ लिया जाय), अथवा वे पच स्कधो मे से किसी एक को उसी प्रकार आत्मा वा उसका अग समझ लेते है जैसे छाया को वृक्ष का, अथवा वे स्कधो को आत्मा मे उसी प्रकार मानते है जैसे सुगध को पुष्प मे, अथवा उस प्रकार जैसे रत्नो को मजूषा के भीतर[3]

बौद्ध दर्शन मे यह युक्ति उपस्थित की गई है कि यदि आत्मा और स्कध एक ही है तो आत्मा अनित्य और नाशवान् हुआ, और यदि वह स्कधो से भिन्न है तो उसी प्रकार

१. संयुत्त० ३, पृ० ५४, बीज पांच प्रकार के है--मूल बीज, खंधबीज अग्गबीज, फलबीज और बीजबीज ।

२. वही ३, पृ० १, ४२, ५५ ।

३. रूप के स्थान में अन्य स्कंधों को रखना चाहिए ।

हुआ जैसे गौओं के साथ गोपाल। अत न यही कहा जा सकता है कि आत्मा और स्कध एक हैं और न यही कि दोनो भिन्न है। यह एकता और भिन्नता पाली मे इस प्रकार व्यक्त की गई है--

न जीव त सरीर, अञ्ञ जीव अञ्ञ सरीर।[1]

बुद्ध ने इन दोनो को अनवधारणीय (अव्याकत) कहा है।

इसिपत्तन (बनारस) मे पाँचो ब्राह्मणो के लिए बुद्ध द्वारा किए गए द्वितीय प्रवचन का विषय भी आत्मा का अनस्तित्व है। बुद्ध ने उन्हे बतलाया था कि यदि आत्मा समष्टि रूप मे वा पृथक्-पृथक् पचस्कधो मे अभिन्न है तो उसे स्कधो को यह आज्ञा देने मे समर्थ होना चाहिए कि वे कभी रोगग्रस्त न हो, अथवा वे उसकी इच्छा के अनुसार अमुक-अमुक प्रकार से रहे। परन्तु यह सुविदित है कि स्कध अनित्य है और जो वस्तु अनित्य है वह निश्चय ही दु ख के अधीन है। अत स्कधो को आत्मा मानना तर्कसगत किसी प्रकार नही। स्कध चाहे वे अतीत जीवन के हो अथवा वर्तमान वा भावी जीवन के, आत्मा नही हो सकते। जिन्हे इस सत्य का ज्ञान हो जाता है वे स्कधो मे राग वा आसक्ति नही रखते,[2] और इस विराग के परिणामस्वरूप वे मुक्त हो जाते है, उनका फिर जन्म नही होता। इस उपदेश से पाँचो ब्राह्मणो के ज्ञाननेत्र खुल गए और वे अर्हत् हो गए।[3]

सावत्थी के निकट उक्कट्ठ मे बुद्ध द्वारा किए गए मज्झिम निकाय के प्रथम प्रवचन 'मूलपरियाय सुत्त' मे आत्मा के अनस्तित्व को उनके उपदेशो का मूल आधार बतलाया गया है। इस सुत्त मे वे कहते है कि मनुष्य को सासारिक पदार्थो के साथ अपना किसी प्रकार का सबध स्थापित नही करना चाहिए। केवल अज्ञानी मनुष्य ही पृथ्वी, अप्, तेज, वायु आदि तत्त्वो के अस्तित्व मे विश्वास करते है और यह समझते है कि ये हमारे है, या इनमे से कोई वस्तु निर्गत हुई है, अथवा इनमे कोई वस्तु प्रविष्ट हुई है। इसी प्रकार वे छोटे से बडे तक समस्त जीवो तथा अपने द्वारा देखे, सुने, जाने या सोचे गए पदार्थों

१. सयुत्त० २, पृ० ६१।

२. तुल० सयुत्त० ३, पृ० ३४--रूप भिक्खवे, न तुम्हाक तं पजहथ···वेदना··· सञ्ञा...संखारा···विनासनं य भिक्खवे न तुम्हाकं तं पजहथ। त वो पहीनं हिताय सुखाय भविस्सति।

३. विनय १, पृ० १३-१४; संयुत्त० ३, पृ० ६६-८।

की भी सत्ता में विश्वास करते हैं, यहां तक कि निर्वाण को भी कोई बाहर से प्राप्त होनेवाली स्थिति मानते हैं। और इन सबके साथ वे अपना एक सबंध स्थापित कर लेते हैं। वे यह नहीं जानते कि यथार्थ में न स्वयं उनकी कोई सत्ता है और न उन पदार्थों की जिनके साथ वे अपना सबंध स्थापित करते हैं। वे अज्ञानवश निर्वाण को बाहर से प्राप्य वस्तु समझते हैं परन्तु वास्तविक निर्वाण कोई प्राप्य वस्तु वा स्थिति नहीं है, न वह कोई स्वर्गीय पद वा उससे भी बढ़कर कोई वस्तु है, वह तो वस्तुतः अपने भीतर ही अनुभव करने की वस्तु है। इस कारण बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश किया कि वे आत्मा तथा सांसारिक पदार्थों की सत्ता के संबंध में अपनी धारणाएं निर्मूल कर दें।

उपर्युक्त उपदेश का बुद्ध ने 'छब्बिसोधन सुत्त'[1] में और अधिक विस्तार किया है। इस सुत्त में उन्होंने कहा है कि सिद्ध भिक्षु अपने द्वारा देखे, सुने, जाने वा सोचे हुए[2] पदार्थों की धारणा से अपने मन को मुक्त कर लेता है और उसके फलस्वरूप उसके दोष (आसव) नष्ट हो जाते हैं और उसे मानसिक मुक्ति प्राप्त हो जाती है। वह जीव के पंचस्कंधों (पंच उपादानखन्धा), वा ज्ञानेंद्रियों और उनके विषयों, अथवा पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान—इन छ तत्त्वों की सत्ता की कल्पना नहीं करता। वह जानता है कि तत्त्व अनात्म (अनत्त), अर्थात् असत् है और इसलिए वह उनके प्रति अपने मन में राग नहीं आने देता, जिससे उसका मन मुक्त हो जाता है।

बौद्धेतर मत आत्मा में कुछ गुणों वा उसके स्वभाव की कल्पना करते हैं, जैसे वे मानते हैं कि आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और अपरिवर्तनशील है। और भी वे कहते हैं कि आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं, पर उनके फलों का भोक्ता है। वह निर्गुण और निष्क्रिय है। वह अपरिवर्तनशील है, परन्तु फिर भी सांसारिक विषयों (प्रकृति) से संयोग हो जाने पर उसमें कुछ विशेषता आ जाती है। बौद्धों का इसपर कथन है कि अपरिवर्तनशील वा अविकारी सत्ता का परिवर्तनशील सत्ता के साथ संयोग किसी भी परिस्थिति में नहीं हो सकता, न अपरिवर्तनशील आत्मा परिवर्तनशील प्रकृति का भोक्ता ही हो सकता है। जो नित्य एवं अपरिवर्तनशील है उसे सदा वैसा ही बने रहना चाहिए और परिवर्तनशील वस्तु के साथ उसका कभी संयोग नहीं होना चाहिए। बौद्धों के मत में आत्मा केवल एक धारणा है जो 'मैं' और 'मेरा' की प्रतीति का आधार है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उनका कथन है कि 'एकता' से भिन्न

१. मज्झिम० ३, पृ० २९।
२. तुल० संयुत्त० ४, पृ० ७३।

अन्य किसी भी प्रकार की सत्ता में कुछ सामान्यिक विशेषताएँ होनी चाहिएँ, परन्तु अ-बौद्ध लोग ऐसा नहीं मानते। किसी प्रकार से स्कंधों का विश्लेषण किया जाय, उसमें आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार दर्पण के कारण प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है उसी प्रकार स्कंधों के कारण अहंता (मैं-पन) वा आत्मा (अत्ता) की धारणा उत्पन्न होती है। जैसे दर्पण के बिना प्रतिबिंब नहीं दिखाई पड़ता उसी प्रकार स्कंधों के संयोग बिना अहंता की प्रतीति नहीं हो सकती।[1]

कमलपुष्प में से सुगंध निकलती है, परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि सुगंध उसके दलों में, या रंग में, या किंजल्क[2] में है, अथवा वह कमल से अलग उससे बाहर कहीं है? इसी प्रकार पंचस्कंधों में अहंता (मैं-पन) की प्रतीति होती है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अहंता उन पंचस्कंधों में से किसी एक में वा उन सबमें है, अथवा उनके बाहर है। आत्मा बांसुरी में से निकली हुई ध्वनि के समान है।[3]

(घ) मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व

आत्मा की सत्ता के प्रश्न से ही संबद्ध एक दूसरा प्रश्न यह है कि परिनिर्वाण के पश्चात् मुक्त व्यक्ति अर्थात् अर्हत्, बुद्ध वा तथागत का अस्तित्व रहता है या नहीं?[4] इस प्रश्न पर विचार करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि प्राचीन बौद्ध धर्म के अनुसार अर्हत् और बुद्ध में क्या अंतर है। संयुत्त निकाय में यह बताया गया है कि सम्मा संबुद्ध ही निर्वाण-पथ के सर्वप्रथम आविष्कर्ता, प्रतिपादक तथा उपदेष्टा हैं, उनसे पहले वह अज्ञात था। सम्मा संबुद्ध ही बौद्ध धर्म के सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं। उनके शिष्य उनसे धर्म का उपदेश सुनकर क्रमशः उसमें पूर्णता प्राप्त करते हैं। पहले वे 'सोतापन्न' अवस्था को प्राप्त होते हैं, जिसमें उनका आत्मा के अस्तित्व (सक्काय दिट्ठि) तथा यज्ञ-व्रत आदि के फलों (सीलब्बत परामास) में विश्वास नष्ट हो जाता है, त्रिरत्न की श्रेष्ठता के प्रति संदेह वा अनास्था (विचिकिच्छा) दूर हो जाती है

१. **दीघ १, पृ० २२२—लोक समञ्ञो लोकनिरुत्तियो लोकवोहारो लोकपञ्ञत्तियो; संयुत्त० ४, पृ० ५४—सुञ्ञो लोको अत्तेन।**

२. **संयुत्त० ३, पृ० १३०—धोषितारामं (कौशांबी) के भिक्षु खेमक को दिए गए उपदेश से।**

३. **संयुत्त० ४, पृ० १९७।**

४. **वही ३, पृ० ६६।**

और सत्य का किंचित् ज्ञान प्राप्त हो जाता है। फिर जब उनमें राग, द्वेष और मोह की मात्रा बहुत घट जाती है तब वे 'सकदागामी' अवस्था को प्राप्त होते हैं। उसी अवस्था में यदि उनकी मृत्यु हो जाय तो अंतिम मुक्ति वा निर्वाण प्राप्त करने के लिए उन्हें इस मर्त्यलोक में केवल एक बार और जन्म लेना पड़ता है। जब उनका राग, द्वेष और मोह पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है तब वे तीसरी अर्थात् 'अनागामी' अवस्था में पहुँच जाते हैं। इस अवस्था में मृत्यु हो जाने पर उनका फिर इस मर्त्यलोक में जन्म नहीं होता, वे स्वर्ग में जन्म लेते और वहीं निर्वाण प्राप्त करते हैं। अर्हत् की अंतिम अवस्था में पहुँचने पर उनकी दृष्टि निर्मल हो जाती है, उन्हें सत्य का ज्ञान हो जाता है और उनके मन के सभी विकार तथा वासनाएं नष्ट हो जाती हैं। वे भिक्षु के रूप में अपने सभी कर्तव्यों का पालन करते हैं और उनका फिर से जन्म नहीं होता। इस अवस्था में साधक ज्ञान के द्वारा बुद्ध के समान ही मुक्त (पञ्ञाविमुत्त) रहते हैं।[1] अर्हत् और बुद्ध दोनों ही अपने को पंचस्कंधों—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—से पूर्ण रूप से मुक्त कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में निर्वाण की अवस्था में अर्हत् और बुद्ध में कोई अंतर नहीं रहता।

उपर्युक्त प्रसंग में 'बुद्ध' के बदले 'तथागत' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द का एक विशेष तात्पर्य है। पाली अट्ठकथा में इसका निरुक्तार्थ इस प्रकार दिया गया है कि जो पूर्ववर्ती बुद्धों की ही रीति से (तथा) आता है (आगत) और जाता है (गत) वह 'तथागत' है। बौद्ध लोग यह मानते हैं कि सत्य सदा एक ही रहता है और सभी बुद्ध सदा एक ही प्रकार से उस एक ही सत्य का आविष्कार एवं उपदेश करते हैं, अतः उस सत्य के आविष्कर्ता को 'तथागत' कहते हैं। पाली ग्रंथों में कारण-परंपरा के नियम को, जिसे 'इदप्पच्चयता' कहते हैं, इस दृश्य विश्व के स्वरूप की व्याख्या करनेवाला व्यापक एवं नित्य सत्य माना गया है और इस कारण उसे 'धम्मट्ठितता' और 'धम्म-नियमता' (गोचर पदार्थों का अस्तित्व तथा उन्हें नियंत्रित करनेवाला शाश्वत नियम) भी कहा गया है। अतः जो इस नियम का आविष्कार एवं उपदेश करता है वह 'तथा-

१. **आस्रव-क्षीणता की चार अवस्थाओं के कई उपभेद भी किए गए हैं। 'धम्मानुसारि' तथा 'सद्धानुसारि' अवस्थाएँ सोतापन्न के पहले होती हैं (संयुत्त ५, २००)। अंतर परिनिब्बायि, उपहच्च परिनिब्बायि, असंखारा परिनिब्बायि और ससंखारा परिनिब्बायि—ये चारों अनागामी के भेद हैं (संयुत्त० ५, २०१)। उद्धंसोतो, एकबीजी कोलंकोलो, सत्तक्खत्त परमो (संयुत्त० ५, २०५)।**

गत' है।[1] 'तथानि' शब्द का प्रयोग 'सच्चानि' के पर्याय के रूप मे किया गया है, क्योंकि चारो आर्य सत्य (अरिय सच्चानि)[2] कभी मिथ्या (अवितथ) वा अन्यथा (अनञ्ञतथ) नही होते। अत जो चार आर्य सत्यो का आविष्कार एव उपदेश करता है वह 'तथागत' है। भगवा को 'ज्ञानभत', 'ब्रह्मभत' एव 'धम्मभूत' कहा गया है। तथा उन्हे निर्वाणमार्ग का आविष्कर्ता एव अमृतत्व प्रदान करनेवाला बतलाया गया है, इस कारण भी उन्हे 'तथागत' वा धर्मेश्वर कहते है।[3] तथागत को समुद्र के समान गभीर और अगाध भी कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि तथागत विश्वव्यापक सामान्य सत्य के ही रूप है।[4]

'तथागत' की उपर्युक्त व्याख्याओ से यह स्पष्ट है कि 'तथागत' शब्द का अर्थ 'बुद्ध' वा 'अर्हत्' से कही गभीर है और उसका एक दार्शनिक अभिप्राय भी है। इस जिज्ञासा के द्वारा कि मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व रहता है या नही, अप्रत्यक्ष रूप से वेदान्तियो के ब्रह्म को दृष्टि मे रखते हुए बौद्ध-धर्मोक्त 'निब्बान' को भी समझने का प्रयत्न किया गया है। बौद्ध धर्म की सभी सहिताओ मे इस समस्या को चार प्रकार से उपस्थित किया गया है।

(१) होति तथागतो पर मरणा ति वा,
(२) न होति तथागतो पर मरणा ति वा,
(३) होति न च होति तथागतो पर मरणा ति वा,
(४) नेव होति न न होति तथागतो पर मरणा ति वा।

उक्त चार प्रकार से प्रस्तुत यह समस्या अप्रत्यक्ष रूप से आत्मा के ही अस्तित्व के प्रश्न को हमारे सामने उपस्थित करती है। यहा जिस आत्मा से तात्पर्य है वह मुक्त पुरुष का--अर्हत, बुद्ध वा तथागत का--आत्मा है। अत बौद्ध लोग अनात्म (अनत्त) का अर्थात् एक नित्य सत्ता के रूप मे आत्मा के अनस्तित्व का सिद्धात मानते है, अतएव उक्त प्रश्न पर विचार करना व्यर्थ है। यही कारण है कि बुद्ध ने इसे अनिर्णेय घोषित किया। इस प्रश्न मे कि मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व रहता है वा नही, 'तथागत' से अभिप्राय समस्त दोषो से मुक्त पचस्कधवाले तथागत से है। इस प्रश्न

१. **संयुत्त०** २, पृ० २५।
२. **वही** ५, पृ० ४३०, ४३५।
३. **वही** ४, पृ० ९५; **मज्झिम०** ३, पृ० १७५।
४. **संयुत्त०** ४, पृ० ३७।

पर विचार करते हुए बौद्ध ग्रथो मे वे ही युक्तियां काम मे लाई गई है जिनका प्रयोग आत्मा के अस्तित्व पर विचार करते समय किया गया है। अर्थात् पहले इन प्रश्नो पर विचार किया गया है—क्या तथागत पचस्कध है ? अथवा वे पचस्कधो से भिन्न है ? अथवा तथागत पचस्कधो मे है ? अथवा पचस्कध तथागत मे है ? अथवा पचस्कध तथागत के है ? यत इनमे से कोई भी कथन सत्य नही है, अतएव तथागत का अस्तित्व यथार्थ नही हो सकता। यदि तथागत पृथक्-पृथक् वा समष्टि रूप मे पचस्कधो से अभिन्न है तो उन्हे जन्म और मरण के अधीन मानना पडेगा। परतु तथागत वा शुद्ध आत्मा अनादि और अनश्वर है, अत स्कधो से तथागत का एकत्व स्थापित नही किया जा सकता। दूसरा तर्क यह है कि यदि तथागत पृथक्-पृथक् वा समष्टि रूप से स्कधो से भिन्न है, तो उन्हे स्कधो से पृथक् और स्वतत्र मानना पडेगा, परतु यह स्वीकार्य नही है क्योंकि अग्नि को काष्ठ से अलग नही किया जा सकता। यदि अग्नि को काष्ठ से अलग और स्वतत्र किया जा सकता तो अग्नि उत्पन्न करने की आवश्यकता ही न होती। उसी प्रकार यदि तथागत को स्कधो से अलग और स्वतत्र माना जाय तो तथागत बनने के लिए श्रम करने की कोई आवश्यकता न होगी।

यदि तथागत स्कधो से भिन्न नही है, तो अन्य तीनो प्रश्न उठाए ही नही जा सकते, क्योंकि उनमे स्कधो से तथागत की भिन्नता पहले ही से मान ली गई है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि तथागत न स्कधो से भिन्न है और न अभिन्न, और इसलिए तथागत, जो कि साधारणत एक सत की सर्वोच्च एव पूर्ण अवस्था का बोधक माना जाता है, [illegible] है।

और, यदि तथागत को दर्पण मे प्रतिबिब की भाति शुद्ध स्कधो का रूप माना जाय तो उनकी सत्ता स्कधो पर आश्रित माननी पडेगी, और जिन पदार्थों की उत्पत्ति किसी अन्य पदार्थ के अधीन है वे बौद्ध धर्म के अनुसार असत् (निःस्वभाव) है। इस प्रकार भी तथागत का अस्तित्व असिद्ध है। यहा यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्कधो की उत्पत्ति कारणो और परिस्थितियो के अधीन है, अत वे भी असत् है। इन सब कारणो से परिनिर्वाण के पश्चात् तथागत के अस्तित्व वा अनस्तित्व के प्रश्न को अनिर्णीत (अव्याकत) ही छोड देना चाहिए।

महाकस्सप और सारिपुत्त जब इसिपत्तन (वाराणसी) मे थे तो उन्होने इस विषय की चर्चा उठाई थी। उन्होने कहा था कि गुरु (बुद्ध) की आज्ञा है कि हम इस प्रश्न को अनिर्णीत ही छोड दे, क्योंकि इस विषय पर तर्क-वितर्क करने से निर्वाण का लक्ष्य

प्राप्त नहीं होगा।[1] सारिपुत्त जब सावत्थी में थे तो यमक भिक्खु ने उनसे पूछा कि क्या यह सत्य है कि जो भिक्खु सब दोषों से मुक्त (खीणासवो) हो जाता है उसका मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व नहीं रहता (नो होति पर मरणा)? तब सारिपुत्त ने उत्तर दिया कि यह सर्वथा भ्रान्त विचार है और इसे त्याग देना चाहिए। उन्होंने कहा कि यह सत्य है कि पंचस्कंध अनित्य हैं, परन्तु तथागत न तो स्कंध हैं और न स्कंध में ही हैं (अरूप अवेदनो असञ्ञो, असंखारो, अविञ्ञानो)। अतएव तथागत का अस्तित्व इस संसार में उपलब्ध नहीं है (दिट्ठे व धम्मे सच्चेना ठेतनो तथागतो अनुपलब्भियमानो)। जो लोग स्कंधों के यथार्थ स्वरूप को उनकी अनित्यता एवं अस्तित्व की अवास्तविकता को नहीं जानते वे उन्हीं में आसक्त रहते हैं और भ्रमवश तथागत को सत् अथवा असत् समझते हैं। 'चूलसुञ्ञतासुत्त'[2] में एक स्थल पर सिद्ध वा पूर्ण पुरुष की परमावस्था के संबंध में संकेत किया गया मिलता है। बुद्ध जब सावत्थी में निवास करते थे उन्हीं दिनों एक बार आनंद ने उनसे प्रश्न किया कि क्या वे अपना समय शून्यता (सुञ्ञता-विहार) में व्यतीत करते हैं? बुद्ध ने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया और कहा कि 'मैंने पहले भी 'सुञ्ञताविहार' (किसी वस्तु का अभाव) में अपना समय व्यतीत किया, और अब भी कर रहा हूँ। जब मैं मिगारमातुपासाद में रहता था तो इस अर्थ में शून्यता-विहार करता था कि वह विहार [illegible] तथा स्त्रियों एवं पुरुषों से शून्य (सुञ्ञ) था, परन्तु वह भिक्षुओं एवं उनके सामान्य गुणों की भावना से शून्य नहीं था। ऐसे ही, जब मैं वन में निवास करता था उस समय ग्राम तथा उसके मनुष्यों की भावना से शून्य था, परन्तु अपनी सभी विशेषताओं से युक्त उस वन के अस्तित्व की भावना से शून्य नहीं (असुञ्ञ) था। इसी प्रकार से जब ध्याता पृथ्वी को एक वस्तु के रूप में, उसपर की नदियों, पर्वतों आदि का पृथक् चिंतन न करते हुए, ध्यान करता है तो वह वनों, पर्वतों, नदियों और मनुष्यों की भावना से शून्य रहता है, परन्तु वह पृथ्वी की एकता की भावना से शून्य नहीं रहता। जब उसका ध्यान की पंचम भूमिका (समापत्ति)[3] में उत्थान होता है, जिसमें वह अपने मन को अनंत आकाश (अनंता-काश) पर केंद्रित करता है, तब वह पृथ्वी वा अन्य किसी वस्तु की भावना से शून्य हो जाता है परन्तु वह आकाश की एकता की भावना से शून्य नहीं होता—केवल वही

१. संयुत्त० २, पृ० २२३।
२. मज्झिम० ३, पृ० १०९।
३. संयुत्त० ३, पृ० ११४; ४, पृ० ३८६।

अशून्य (असुञ्ञ सत् वा भाव रूप पदार्थ) के रूप मे उसके ध्यान मे रह जाता है। फिर जब वह ध्यान (समापत्ति) की षष्ठ भूमिका मे पहुँचता और अपने मन को अनत विज्ञान (अनत विञ्ञान) पर केंद्रित करता है तब उस अनत विज्ञान की एकता की भावना को छोडकर उसके मन मे किसी भी पदार्थ की भावना शेष नही रह जाती। ध्यान की सप्तम भूमिका मे वह इच्छारहित आकाश (अकिचञ्ञायतन)[1] मे ध्यान लगाता है, और उस समय उसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की भावना उसके मन मे नही रह जाती। ध्यान की अष्टम भूमिका मे वह न-चेतन-न-अचेतन अवस्था (नेवसञ्ञानासञ्ञायतन) का ध्यान करता है और उसको छोडकर अन्य कोई भावना उसके मन मे नही रह जाती। उसका मन उस भूमिका पर पहुँच जाता है जिसमे उसे किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ के भी गुणो का ध्यान नही रह जाता (अनिमित्त-चेतोसमाधि)। इस अवस्था मे उसे अनुभव होता है कि यह भावना भी, जो उसके मन मे अवशिष्ट रह गई है, अनित्य (अनिच्च) है। तब वह अपने मन को तीन प्रकार के विकारो (आसवो)—किसी वस्तु को पाने की इच्छा (काम), पुनर्जन्म की इच्छा (भव) और अज्ञान वा अविद्या (अविज्जा)—से मुक्त कर लेता है। परन्तु यह भावना कि 'यह छ इद्रियो से युक्त मेरा शरीर है', उसके मन मे उसके जीवन के अत तक बनी रहती है अर्थात् वह प्रत्येक वस्तु की भावना से शून्य हो जाता है, परन्तु अपने शरीर की भावना से शन्य नही होता। यह शून्यता अथवा 'सुञ्ञता' की सर्वोच्च अवस्था है, जिसमे ससार की छोटी से छोटी से लेकर बडी से बडी तक सभी वस्तुओ के अस्तित्व की भावना का लोप हो जाता है।'

उपर्युक्त प्रवचन से यह स्पष्ट है कि मृत्यु के पश्चात् ध्याता के, चाहे वह अर्हत् हो अथवा तथागत, मन से अपने शरीर के अस्तित्व की भावना का अतिम चिह्न भी मिट जाता है और वह पूर्ण रूप से शून्यता (सुञ्ञता) मे स्थित हो जाता है। पचस्कधो के अतिम चिह्न के विलोप का एक मूर्तिमान् उदाहरण वक्कालि के परिनिर्वाण के वर्णन मे पाया जाता है। जब उसका शव जलाया जा रहा था और चिता से धुआ आकाश मे उठ रहा था उस समय बुद्ध ने कहा कि मार विज्ञान (विञ्ञाण, पचम स्कध) की नाक मे है, परन्तु बेचारा उसे पा नही सकता, क्योंकि वक्कालि ने पूर्णता प्राप्त कर ली थी और अब इस ससार मे उसके विज्ञान का आधार नष्ट (अपट्ठित) हो गया है।[2]

१. किचन = राग, दोस, मोह; दे० सयुत्त० ४, पृ० २९७।

२. जब तक विज्ञान अप्रतिष्ठित नही होता तब तक उसका पुनः जन्म लेना निश्चित रहता है (संयुत्त० २, पृ० ६६, १०१)।

सावत्थी में रहते समय बुद्ध ने इस बात को और अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि पाँचों स्कंध अन्योन्याश्रित हैं। प्रत्येक अनुवर्ती स्कंध अपने पूर्ववर्ती स्कंध पर आश्रित होता है, अर्थात् वेदना रूप पर, संज्ञा वेदना पर, संस्कार संज्ञा पर तथा विज्ञान संस्कार पर आश्रित है। जब कोई मनुष्य 'रूप' (भौतिक तत्त्वों) के प्रति राग-रहित हो जाता है तब अन्य स्कंधों का आधार या प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती है और अंत में 'विज्ञान' अप्रतिष्ठित (अपटिट्ठित) हो जाता है।' तब वह विज्ञान मुक्त होकर परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, दूसरे शब्दों में वह अकल्पनीय शून्यता (सुञ्ञता) में विलीन हो जाता है।

तथागत वा अर्हत् परिनिर्वाण के अनंतर पंचस्कंधों में शून्य हो जाता है और उसका विज्ञान (विञ्ञाण) 'अपटिट्ठित' हो जाने के कारण अस्तित्वहीन हो जाता है। वह अनंत शून्यता में विलीन हो जाता है और उसका अस्तित्व उसी प्रकार कहीं पृथक् रूप से पहचाना नहीं जा सकता जिस प्रकार गंगा नदी का जल समुद्र में मिल जाने पर उसमें एकाकार होकर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठता है।

बौद्ध लोग मनुष्य की देह में पंचस्कंधों से भिन्न किसी अन्य पदार्थ की नित्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते और इस कारण जब कोई मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर तथागत पद को प्राप्त कर लेता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी एक स्थायी वा नित्य सत्ता थी, जो अब बंधन-मुक्त हो गई और निर्वाण में उसका अस्तित्व बना हुआ है तथा सदैव उसी प्रकार बना रहेगा। निर्वाण में किसी भी वस्तु की पृथक् सत्ता नहीं है, वह एकरूप, एकरस है; अतः उसमें तथागत का पता लगाने अथवा उनके पृथक् अस्तित्व को ढूँढने का कोई प्रश्न ही नहीं है। निर्वाण की कोई परिभाषा नहीं की जा सकती, उसके स्वरूप की ईदृक्ता वा इयत्ता का पता नहीं लगाया जा सकता।[२]

(ङ) निर्वाण

ऊपर जिस निर्वाण अथवा मृत्यु के पश्चात् तथागत की स्थिति की चर्चा की गई है उसके विषय में बुद्ध ने जानबूझकर निश्चित रूप से कहीं कुछ नहीं कहा है। अपने द्वारा आविष्कृत निर्वाण रूप सत्य के विषय में उनका प्रथम वचन यह है कि 'वह गंभीर, दुर्बोध्य, शांत, उत्तम एवं तर्करहित है, वह केवल ज्ञानियों द्वारा अपने भीतर अनुभव करने की वस्तु है।' निर्वाण की उत्पत्ति और उसका नाश नहीं होता, वह रोग-शोक से परे है।

१. संयुत्त० १, पृ० १२२; ३, पृ० १२४।
२. संयुत्त० ३, पृ० १८९; नासक्खि परियंतं गहेतुम् (मज्झिम० १, ३०४)।

निर्वाण कोई प्राप्य पदार्थ वा अवस्था नही है। वह सदा विद्यमान रहता है, अष्टाग मार्ग अथवा सैतीस बोधिपक्षीय धम्मो के द्वारा उत्पन्न नही किया जाता। वह साधक के हृदय मे एक ज्योति की भाँति उद्भासित होता है, उसको प्राप्त करने का सपूर्ण प्रयत्न व्यर्थ है। जो साधक ध्यान की उच्चतम भूमिका मे पहुंच जाता है, जिसमे न चेतनता रहती है और न अचेतनता (नेव सञ्ञानासञ्ञायतन), यहाँ तक कि जिसमे वह नितान्त चेतनाशून्य होकर (सञ्ञावेदयित निरोध) मरण की-सी अवस्था मे हो जाता है उसके सबध मे यह निश्चित नही है कि उसे निर्वाण प्राप्त ही हो जायगा, यदि वह अपनी इस भावना का त्याग न कर दे कि मैंने ध्यान के द्वारा अपने मानस को पूर्ण रूप से शुद्ध कर लिया है। वह तब तक 'सम्मानिब्बानाधिमुत्तो' नही कहा जा सकता जब तक वह अपने मन को 'नेवसञ्ञानासञ्ञायतन' अथवा 'सञ्ञावेदयित निरोध' के बन्धन से मुक्त नही कर लेता।[1]

बुद्ध ने आनद को बतलाया था कि यदि कोई भिक्षु यह सोचता है कि मैंने अतीत, वर्तमान एव भविष्य जन्मो के विषय मे अपनी सपूर्ण धारणाओ को त्याग दिया है और इस प्रकार मैं मानसिक साम्य की स्थिति प्राप्त कर शात आनद का अनुभव करता हूँ, तो वह वस्तुत रागमुक्त (अनुपादानो) नही हुआ, क्योकि अब भी उसके मन मे 'नेवसञ्ञानासञ्ञायतन' रूप एक प्रबल उपादान का अस्तित्व बना हुआ है। उपादान रहित (अनुपादानो) होने के लिए आवश्यक है कि वह अपने शाति-लाभ के सबध मे भी कोई भावना अपने मन मे न आने दे।[2] यदि वह इस भावना का त्याग नही करता तो 'नेवसञ्ञानासञ्ञायतन' लोक मे उसका देव-योनि मे पुन जन्म होगा और वहाँ उसे बहुत समय तक रहना पडेगा। इस प्रकार श्रद्धा, शीलपालन, स्वाध्याय, त्याग तथा ज्ञान के द्वारा भिक्षु अपने मानस दोषो (आसवो) को नष्ट करके मानसिक और बौद्धिक मुक्ति प्राप्त करता है और उसे सत्य का साक्षात्कार हो जाता है। फिर किसी भी लोक मे उसका पुनर्जन्म नही होता।[3]

यह ध्यान देने की बात है कि परिनिर्वाण के ठीक पहले बुद्ध ध्यानस्थ हुए और ध्यान की अष्टम भूमिका (अष्टम समापत्ति—नेवसञ्ञानासञ्ञा) मे पहुंच गए परन्तु परिनिर्वाण प्राप्त करने के लिए वे पुन चतुर्थ 'झाण' (ध्यान की चतुर्थ भूमिका)

१. मज्झिम० २, पृ० २५६।
२. वही, पृ० २६५।
३. वही ३, पृ० १०३।

से उतरे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि निर्वाण केवल ध्यान के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, चाहे वह ध्यान कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, न वह अन्य किसी प्रकार की साधना वा श्रम से ही प्राप्त हो सकता, यद्यपि ऐसी साधना मन को सत्य के साक्षात्कार के योग्य बनाने के लिए आवश्यक होती है। बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त करने के लिए आवश्यक साधना और ध्यान के विविध रूपों का विस्तार के साथ वर्णन किया है, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, परन्तु अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के संबंध में उनके द्वारा दिए समस्त उपदेशों का मूल तत्त्व, जिसपर उन्होंने बारबार जोर दिया है, यही है कि मनुष्य को व्यक्तित्व अथवा आत्मा के अस्तित्व के संबंध में अपनी धारणा का पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि केवल अनात्म (अनत्त) का अनुभव ही उसे सत्य का ज्ञान कराने में समर्थ हो सकता है। संपूर्ण निकायों में बुद्ध ने बार-बार इस विषय को दोहराया है और यह उनके उपदेशों का मूल आधार (मूल परियाय) है। वस्तुतः अविद्या (अविज्जा) से उनका तात्पर्य 'अहंता' एवं 'ममत्व' (मैं-पन, मेरा-पन) से था और इसी धारणा को दूर करने के लिए उन्होंने चार आर्य सत्यों—दुक्ख, समुदय, निरोध, मग्ग—तथा प्रतीत्यसमुत्पाद (पटिच्चसमुप्पाद) के नियम का आविष्कार किया। इन सत्यों के द्वारा उन्होंने अपने शिष्यों को इस प्रकार शिक्षित करने का प्रयत्न किया जिससे वे व्यक्तित्व की भावना के ऊपर उठ जायँ और वे सांसारिक पदार्थों से अपना किसी प्रकार का संबंध स्थापित करने के लिए उन्मुक्त न हों। यह संबंध, जिसे उन्होंने 'काम' कहा है, केवल धन-संपत्ति, मित्रों, संबंधियों अथवा चीवर, भिक्षापात्र आदि वस्तुओं तक ही सीमित नहीं, अपितु वह आध्यात्मिक सिद्धियों अर्थात् अभिज्ञा (अभिञ्ञा), ध्यान, समापत्ति आदि तक भी विस्तृत हो सकता है। बुद्ध ने जोर देकर कहा है कि साधक को कदापि अपने को अपने द्वारा देखी, सुनी, सोची वा जानी हुई (दिट्ठ, सुत, मुत, विञ्ञात)[1] बातों से संबद्ध करके नहीं देखना चाहिए, न उसे सांसारिक पदार्थों को एकता (एकत्त), भिन्नता (नानत्त) वा सर्वता (सब्ब) जैसी अत्यंत सूक्ष्म बातों में ही कोई रुचि रखनी चाहिए। उसे कभी यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं सब जीवों के प्रति मैत्री (मेत्ता) एवं करुणा का भाव रखता हूँ, क्योंकि इसमें दो भिन्न सत्ताओं की भावना मन में बनती है—एक उस व्यक्ति की जो दूसरों के प्रति मैत्री और करुणा का भाव रखता है, और दूसरी उस व्यक्ति की जिसके प्रति मैत्री और करुणा का व्यवहार

१. मज्झिम० ३, पृ० ३०—दिट्ठे सुते मुते विनत्ते अनुपयो अनपयो अनित्तितो अप्पतिबद्धो विप्पमुत्तो, इत्यादि; तुल० मज्झिम० १, पृ० ३; सुत्तनिपात पृ० १७८।

किया जाता है। यह अनेक बार कहा गया है कि इस ससार को असार समझना चाहिए (सुञ्ञतो लोको अवेक्खस्सु)[1]। बुद्ध वा तथागत मैत्री एव करुणा से परे है। वे ससार में जीवनयापन करते हुए भी इद्रियार्थों वा पदार्थों के गुणो की ओर ध्यान नही देते और भीतर उनका मन शून्यता की अवस्था मे रहता है।[2] भिक्षुओ को यह भी नही सोचना चाहिए कि निर्वाण उनके द्वारा प्राप्य परम आदर्श एव पूर्णता की अवस्था है। इस प्रकार के विचार सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है कि 'मैंने शाति प्राप्त कर ली है, मै उपादान-रहित (अनुपादान) हो गया हूँ, मेरी तृष्णा बुझ गई है।'[3]

इस प्रकार का अनात्म-बोध बुद्ध के उपदेशो का--बौद्ध धर्म का--सार है, और यही राग, द्वेष एव मोह को नष्ट करके सत्य वा निर्वाण का साक्षात्कार करने अर्थात तथागत होने का एकमात्र उपाय है। उत्तरकालीन बौद्ध ग्रथो मे इसे 'एकत्व' (अद्वय अद्वैधिकार) अर्थात् 'द्वैत का अभाव' कहा गया है। पाली ग्रथो मे 'अद्वय' शब्द का प्रयोग नही किया गया है, परतु बुद्ध के वचनो मे वह अभिप्रेत है। बुद्ध के इस अद्वयता का स्पष्ट उल्लेख न करने का मुख्य कारण यह है कि 'अद्वयता' का अर्थ है कि पहले दो भिन्न सत्ताओ को मान लेना और फिर उनकी एकता स्वीकार करना। परतु बुद्ध के अनात्म (अनत्त) सिद्धात मे दो भिन्न सत्ताओ की, द्वैत की, कोई सभावना ही नही है, और जब उन्होने दो भिन्न सत्ताएं मानी ही नही तब उनका 'अद्वय' (=दो नही) की चर्चा करना कैसे तर्कसगत होता? उन्होने कहा है कि 'निब्बान' 'एकरस' है।

अपनी पृथक् सत्ता वा अहता के भाव का लेशमात्र भी अश मन मे अवशिष्ट न रह जाय, इसलिए यह निर्देश किया गया है कि भिक्षुओ के मन मे यह धारणा बनी रह सकती है कि मनुष्य के पाँच स्कधो मे से विज्ञान (विञ्ञाण) की सत्ता निर्वाण (निब्बान) मे भी बनी रहती है। उदय माणवक के प्रश्न के उत्तर मे बुद्ध ने कहा था कि आतरिक एव बाह्य वेदनाओ से उदासीन रहने से एक पूर्ण सत के विज्ञान का अत हो जाता है।[4] यह भी एक प्रसिद्ध वचन है कि यदि कोई व्यक्ति अपने मन को पाँच स्कधो अर्थात् रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान से मुक्त कर लेता है (निब्बिदाय विरागाय

१. **सुत्तनिपात**, पृ० २१७।
२. **संयुत्त०** २, पृ० २६७।
३. **मज्झिम०** २, पृ० २३७।
४. **संयुत्त०** पृ० २१५।

निरुपधाय पटिपन्नो)[1] तो उसे इसी जीवन मे निर्वाण प्राप्त हो जाता है (दिट्ठधम्म-निब्बानप्पत्तो)। इन वचनो से यह स्पष्ट है कि 'निब्बान' मे 'विञ्ञाण' का भी अत हो जाता है। केवल अपूर्ण साधक का ही विज्ञान पुनर्जन्म ग्रहण करता है और बार-बार ग्रहण करता रहता है, पूर्ण सत का विज्ञान नही; क्योकि जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है वह 'अपतिट्ठित' हो जाता है, उसके लिए अन्य स्कधो का आधार नही रह जाता। अर्हत् पद केवल उसी अवस्था मे प्राप्त हो सकता है जब नाम और रूप (जीव के पाच स्कध) पूर्ण रूप से उपरुद्ध हो जाते है (असेस उपरुज्झति)।[2] केवल 'केवट्ट सुत्त' के अतिम छदो मे ही इस बात का किचित् सकेत किया गया है कि विज्ञान अनत है, उसका कोई एक स्थान नही है (अनिदस्सन) और वह सर्वत. प्रकाशमान (सब्बतो पभ) है। उसमे नाम और रूप, जिनमे विज्ञान भी अतर्भूत है, उपरुद्ध हो जाते है और दीर्घ-लघु, स्थूल-सूक्ष्म, उत्तम-मध्यम आदि के भेद भी समाप्त हो जाते है। उसमे पृथ्वी, अप् (जल), तेज और वायु का अस्तित्व नही रहता। अनत्ता के इस भाव को सुत्तनिपात के तीन छदो मे स्पष्ट कर दिया गया है—

बुद्ध—अच्चि यथा वातवेगेन खित्तो
अत्थ पलेति न उपेति सखम्
एव मुनि नामकाया विमुत्तो
अत्थ पलेति न उपेति सखम्।

उपसिव—अत्थ गतो सो उद वा सो नत्थि
उदाहु वेसम्मतिय अरोगो

१. वही ३, पृ० १६४।
२. सुत्तनिपात, पृ० १९८; संयुत्त० १, पृ० १५, ६०।
३. पारायण वग्ग, पृ० २०७।

विञ्ञाण अनिदस्सन अनन्त सब्बतो पहं
एत्थ अपो च पथवि तेजो वायो न गधति
एत्थ दिघ च रस च अनुंथुल सुभसुभ
एत्थ नामं च रूप च असेसं उपरुज्झति
विञ्ञाणस्स निरोधेन एत्थेत उपरुज्झति।

(दीघ १, पृ० २२३)

त मे मुनि साधु वियाकरोहि
तथाहि ते विदितो एस धम्मो ।
बुद्ध--अत्थ गतस्स नो पमाण अत्थि
तेन न वज्ज त तस्स नत्थि
सब्बेसु धम्मेसु समूहतेसु
समूहता वादपथ पि सब्बेति ।

(पारायण वग्ग, पृ० २०७)

भगवान् ने उपसिव माणव को समझाया कि जिस प्रकार दीपक की लौ वायु मे बुझ जाने पर अदृश्य हो जाती है और उसका कोई चिह्न शेष नही रह जाता, उसी प्रकार नामरूप से (नामकाय) विमुक्त मुनि भी अदृश्य हो जाता है और उसका कोई चिह्न शेष नही रह जाता । तब उपसिव ने उनसे प्रश्न किया कि अदृश्य हो जाने पर क्या उस मुनि का अस्तित्व नही रह जाता (सो नत्थि) ? अथवा क्या वह सदैव नीरोग स्थिति मे बना रहता है ? भगवान् ने उत्तर दिया कि इस प्रकार जो मुनि अदृश्य हो जाता है उसका कोई प्रमाण नही दिया जा सकता (उसका माप नही किया जा सकता) ; उसका कुछ भी अवशिष्ट नही रहता जिसके विषय मे मैं कुछ बतला सकूँ । उसके सभी धम्मो का नाश हो जाता है, अत शब्दो मे उसका वर्णन नही किया जा सकता ।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनके एक सुयोग्य शिष्य अनुरुद्ध ने उनकी मृत्यु का वर्णन इन शब्दो मे किया--

"नहु अस्सास्स पस्सासो ठितचित्तस्स तादिनो
अनेजो सन्ति आरब्भ य काल अकरि मुनि ।
असल्लिनेन चित्तेन वेदन अज्झवासयि ।
पज्जोतस् एव निब्बान विमोखो चेतसो अहुति ।।"

(अर्थ--अब इन-जैसे स्थितचित्त का श्वास-प्रश्वास बद हो गया है । अब ये मुनि अविचल विश्राम के लिए चले गए । इन्होने मृत्यु की पीडा को दृढ चित्त से सहन किया । इनका मन दीप के निर्वाण के समान मुक्त हो गया है ।)

उक्त छद की अतिम पक्ति अनेक विद्वानो के लिए विविध कल्पना का आधार बन गई । उनमे से कुछ ने उससे यह निष्कर्ष निकाला कि 'निब्बान' का सीधा अर्थ नाश वा अभाव है । परतु यदि इस छद को ऊपर उद्धृत सुत्तनिपात के छद के साथ मिलाकर पढा जाय तो विदित होगा कि उनका मन, जो उनके नाशवान् स्कधो मे सबसे विशिष्ट

था, दीपक की लौ के समान अदृश्य हो गया, परन्तु वे अनन्त अविचल विश्राम पद को (अनेजोसन्ति) प्राप्त करने के लिए चले गए।

समस्त पाली ग्रंथों में केवल ये ही दो स्थल ऐसे हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि 'निब्बान अनन्त, अवर्णनीय एवं शाश्वत है, तथा ऐसे अनेक वर्णन हैं जिनसे यह विदित होता है कि वह केवल अपने भीतर ही अनुभवगम्य है। परन्तु पिछले बौद्ध ग्रंथों की भाँति पाली ग्रंथों में निर्वाण के स्वरूप को बतलाने के लिए 'मुक्तता' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।

बुद्ध ने सदा इस बात पर जोर दिया कि उनके द्वारा प्रकाशित सत्य दो अति कोटि के मतों, अर्थात् शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, में से एक भी नहीं है। बुद्ध के प्रवचनों में विरले ही ऐसे होंगे जिनमें उन्होंने बौद्धेतर लोगों के अतिवादी मतों की कठोर आलोचना न की हो। इन मतों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(क) यह विश्व शाश्वत है (सस्सतो लोको)	(ख) यह विश्व शाश्वत नहीं है (असस्सतो लोको)
(ग) यह विश्व अन्तवान् है (अन्तवा लोको)	(घ) यह विश्व अनन्त है (अनन्तवा लोको)
(ङ) आत्मा देह से अभिन्न है	(च) आत्मा देह से भिन्न है
(छ) तथागत मृत्यु के बाद भी रहते हैं (होति तथागतो पर मरणा)	(ज) तथागत मृत्यु के बाद नहीं रहते (नो होति तथागतो पर मरणा)
(झ) मृत्यु के पश्चात् तथागत रहते भी हैं और नहीं भी रहते (होति न च होति तथागतो पर मरणा)	(ञ) मृत्यु के पश्चात् तथागत न रहते हैं न नहीं रहते (नेव होति न न होति तथागतो पर मरणा)।

बुद्ध के कथनानुसार वे इन तथा ऐसे अन्य भी अनेक भ्रांतिपूर्ण मतों से परिचित थे, परन्तु उनसे उनका कोई प्रयोजन नहीं था। उन्हें 'वेदना' की उत्पत्ति और विनाश का, उसकी अनुभूति (स्वाद) का तथा उससे उत्पन्न होनेवाली विपत्तियों एवं उनसे बचने के उपायों का ज्ञान हो गया था। इस ज्ञान के द्वारा वे बिना किसी बाह्य सहायता वा साधन के मुक्त हो गए और उन्होंने उस सत्य का आविष्कार किया जो गंभीर, सूक्ष्म तथा तर्क से परे है (दीघ० १, पृ० ३०)।

निर्वाण के स्वरूप-वर्णन का केवल एक ही प्रकार ऐसा है जिसके द्वारा अतिवादों से बचा जा सकता है। वह यह है कि 'निर्वाण' उसी प्रकार अस्तित्वहीन है जैसे आकाश-

कुसुम, अथवा जैसे बध्या का पुत्र, अथवा निर्वाण वह अनतता है जो सर्वगुण-रहित है। परतु बौद्ध ग्रथो मे ऐसे अनेक स्थल हैं जिनमे निर्वाण का उल्लेख 'धातु' (निब्बान धातु), अमतपद (अमृत पद, सयुत्त १, पृ० २१२; २, पृ० २८०), 'अनुत्तर सन्तिवर पद' (अद्वितीय उत्तम शान्तिपद, मज्झिम० २, पृ० २३७), 'परम सन्तिम्' (परम शान्ति पद, मज्झिम० २, पृ० १०५), अमतोगद अमतपरायणो अमत परियसको निब्बकनिन्न निब्बानपन निब्बानपब्भर' (सयुत्त ५, ५५, २२०-१, चुल्लवग्ग, पृ० २३१) तथा 'समो भूमिभाग एत निब्बान अधिवचन' (सयुत्त ३, १०९) कहकर किया गया है।

अध्याय ११

विहार-चर्या

वर्तमान उत्तर प्रदेश राज्य इस बात का पूरा दावा कर सकता है कि यहीं पर भगवान् बुद्ध ने न केवल "एहि भिक्खु" इन दो सरल शब्दों के उच्चारण द्वारा अपने प्रथम साठ शिष्यों को दीक्षा देकर अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया, अपितु विनयपिटक के चुल्लवग्ग एवं महावग्ग में संगृहीत नियमों के एक बहुत बड़े भाग का निर्माण भी किया। उत्तर प्रदेश में ही निम्न एवं उत्कृष्ट दो प्रकार के दीक्षा-संस्कारों (पब्बज्जा, उपसंपदा) तथा वर्षावास के अंत में संपादित किए जानेवाले संघ संबंधी दो महत्त्वपूर्ण कृत्यों—पवारणा और कठिन—की विधियाँ विस्तार के साथ निर्धारित की गईं। इन दो कृत्यों में से प्रथम में भिक्षुगण वर्षाकाल के तीन मास में अपने द्वारा कृत पापों तथा अकृत धर्मों को स्वीकार करते थे और द्वितीय कृत्य में भिक्षुओं को पवारणा के अवसर पर उन्हें प्राप्त वस्त्रों को काटने, रँगने और सीने तथा उनके चीवर बनाकर विहार में रहनेवाले भिक्षुओं को वितरण करने की अनुज्ञा दी जाती थी। इन दो कृत्यों के अतिरिक्त वर्षावास के नियमों के यथोचित पालन तथा भिक्षुओं द्वारा चमड़े के जूतों, चीवरों एवं औषधों के उपयोग के संबंध में महावग्ग में संगृहीत अनेक नियमों का निर्माण भी उत्तर प्रदेश में ही किया गया।

चुल्लवग्ग के दस परिच्छेदों में से चार का, जिनमें (१) 'संघादिसेसों' के उल्लंघन के लिए दंडित भिक्षुओं के आचरण संबंधी नियम, तथा (२) उनके संघ में पुनः प्रवेश एवं (३) उनके द्वारा किए गए पापों के कारण उपोसथ-सभाओं में उनके बहिष्करण की प्रक्रियाएँ दी गई हैं, पूरा संग्रह सावत्थी में किया गया, जहाँ (१) नियमों का उल्लंघन करनेवाले भिक्षुओं के विरुद्ध की जानेवाली आनुशासनिक कार्यवाहियों, (२) भिक्षुओं के दैनिक व्यवहार की वस्तुओं तथा (३) भिक्षुओं को दिए जानेवाले उपस्करों के संबंध में भी अनेक नियम बनाए गए।

पातिमोक्ख सुत्त, जिसमें २२७ नियम हैं, विनयपिटक का मूल आधार बना और उपोसथ-सभाओं में उसका पाठ किया जाने लगा। उसमें संगृहीत अपराधों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

चार पाराजिक—इनका संबंध भिक्षु-जीवन के त्याग से है।

तेरह संघादिसेस––इनमें भिक्षुओं के अपराधी पाए जाने पर उन्हें संघ द्वारा मिले हुए विशेष अधिकारों को स्थगित कर देने का विधान है, परन्तु साथ ही अपने ऊपर लगाए गए प्रतिबंधों का समुचित रूप से पालन करने तथा भिक्षुसभा द्वारा योग्य समझे जाने पर, उन्हें पुन संघप्रवेश का अधिकार दिया गया है।

दो अनियत––अनिश्चित अपराध जिनका निर्णय वास्तविक परिस्थितियों पर विचार करके किया जाता था।

तीस निसग्गिय––पाचित्तिया, जिसमें भिक्षुओं को उनके लिए निषिद्ध वस्तुओं को त्याग देना, तथा उन्हें ग्रहण करने के अपराध को स्वीकार करना पड़ता है।

बानबे पाचित्तिया––दोषमुक्त होने के लिए इन अपराधों को केवल स्वीकार कर लेना पर्याप्त होता है।

चार पटिदेसनिय।

पछत्तर सेखिय––सदाचरण संबंधी निर्देश।

सात अधिकरण समथ––भिक्षुओं द्वारा आपस में ही विवादों का समाधान कर लेने की रीति।

उपर्युक्त प्रकार का एक पातिमोक्ख भिक्षुणियों के लिए भी था, जिसका नाम 'भिक्खुणी पातिमोक्ख' है।

इन २२७ नियमों में से अधिकांश सावत्थी में और कुछ बनारस, कोसंबी तथा कपिलवत्थु में बनाए गए थे, जो इस प्रकार हैं––

पाराजिक .. .	१
संघादिसेस .	१३
अनियत	२
निसग्गिय पाचित्तिया . .	३३
पाचित्तिया . .	८०
पटिदेसनिय .	४
सेखिय ..	७५
अधिकरणसमथ	७
	१९८

भिक्खुनी पातिमोक्ख का संग्रह संपूर्ण रूप से सावत्थी में किया गया था।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विनय के नियमों में से अधिकांश उत्तर प्रदेश में ही निर्मित हुए थे।

अब हमें इन नियमों पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिए।

दीक्षा—बुद्ध ने भिक्षुओं को दीक्षा देने का कार्य इसिपत्तन (बनारस) में अपने पाच पुराने मित्र ब्राह्मण तपस्वियों से आरंभ किया और फिर सेट्ठिपुत्र यश और उसके मित्रों को केवल 'एहि भिक्खु' (आओ, हे भिक्षु) शब्दों के उच्चारण द्वारा दीक्षित किया। जब बुद्ध सहित उनके शिष्यों का सख्या साठ तक पहुंच गई तब उन्होंने उन्हें भिन्न-भिन्न दिशाओं में बौद्ध धर्म के उपदेशों का प्रचार करने के लिए भेज दिया, परन्तु उन्हें भिक्षु बनाने वा प्रव्रज्या देने का अधिकार नहीं दिया। जो भिक्षु बाहर धर्म प्रचार के लिए भेजे गए थे उन्हें बौद्ध धर्म स्वीकार करनेवालों को सघ में प्रविष्ट करने के लिए बुद्ध के पास लाना पड़ता था, इससे उन भिक्षुओं तथा दीक्षार्थियों को बड़ी असुविधा होती थी। इस कारण बुद्ध ने नव दीक्षार्थियों के सघ-प्रवेश के लिए कुछ शर्तें निर्धारित कर दीं और भिक्षुओं को उन्हें दीक्षा देने का अधिकार प्रदान करने का निश्चय किया। उन शर्तों के अनुसार प्रव्रज्या ग्रहण करनेवालों को पहले सिर मुंडाकर पीला वस्त्र धारण करना पड़ता था और फिर उस वस्त्र को एक कंधे पर डालकर प्रव्रज्या देनेवाले भिक्षुओं को नमस्कार करना तथा तीन बार इन त्रिशरण-वाक्यों का उच्चारण करना पड़ता था—'बुद्ध सरण गच्छामि, धम्म सरण गच्छामि, सघ सरण गच्छामि" (१, पृ० २२)। भिक्षु लोग दीक्षा देने में बहुत सावधानी और विवेक से काम नहीं लेते थे, इस कारण बाद में बुद्ध को और भी कई शर्तें निश्चित करनी पड़ीं।

जब बुद्ध पहली बार कपिलवत्थु गए तो उन्होंने नद और राहुल को सघ में प्रविष्ट कर लिया। इससे शुद्धोदन को बड़ा क्षोभ हुआ, क्योंकि उन दोनों को बिना उनकी सूचना के दीक्षा दी गई थी। इस कारण उस समय बुद्ध ने यह नियम बना दिया कि किसी को भी बिना उसके माता-पिता की अनुमति के दीक्षा न दी जाया करे (१, पृ० १३)। उस समय राहुल बहुत छोटा था। जब बुद्ध ने सारिपुत्त को उसे दीक्षा देने की आज्ञा दी तो उन्होंने एक बालक दीक्षार्थी (सामणेर) को दीक्षा देने की प्रक्रिया न जानने के कारण अपनी असमर्थता प्रकट की। तब बुद्ध ने उन्हें उसी प्रक्रिया से दीक्षा देने का आदेश दिया जिसके अनुसार अन्य भिक्षुओं को दीक्षा दी जाती थी। सारिपुत्त ने तब राहुल को 'सामणेर-पब्बज्जा' दी और उसे अपने अंतेवासी (उपट्ठाक) के रूप में ग्रहण किया। उस समय एक भिक्षु को केवल एक ही अंतेवासी रखने की अनुमति थी, परन्तु सारिपुत्त के लिए बुद्ध ने इस नियम को शिथिल कर दिया और कहा कि एक अनुभवी और निपुण भिक्षु एक से अधिक अंतेवासी ग्रहण कर सकता है (१, पृ० ८३)। सारिपुत्त के यह पूछने पर कि सामणेर को क्या शिक्षा देनी चाहिए, बुद्ध

ने कहा कि सामणेर को इन दस शीलों का पालन करने का आदेश देना चाहिए--(१) अहिंसा, (२) अस्तेय अर्थात् चोरी न करना, (३) असत्य भाषण न करना, (४) ब्रह्मचर्य, (५) मादक वस्तुओं का सेवन न करना, (६) दोपहर के बाद भोजन न करना, (७) नृत्य तथा अन्य उत्सव न देखना, (८) माला तथा अन्य अलकारो को धारण न करना, (९) ऊँची शय्या पर न सोना और (१०) सोना-चाँदी न ग्रहण करना। दीक्षा सबधी कुछ अन्य नियम भी सावत्थी मे बनाए गए। गुरु और शिष्य के पारस्परिक कर्तव्यो के सबध मे विस्तृत अनुदेश दिए गए जिनका आगे वर्णन किया गया है।

उपोसथ'--प्रव्रज्या के बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण कृत्य है (१) 'उपोसथ' (उपवसथ, पाक्षिक दोष-स्वीकार सभा) और (२) वर्षावास के समाप्त होने पर 'पवारणा।' उपोसथ का प्रारभ राजा बिबिसार के अनुरोध से किया गया था और पवारणा का राजगृह की प्रजा के। उपोसथ के दिन, जो साधारणत पूर्णिमा और अमावस्या को पडा करता था, विहार की सीमा के भीतर रहनेवाले समस्त भिक्षुओं को उपोसथ-सभा मे उपस्थित होना पडता था। सभा का सभापति पातिमोक्ख सुत्त का पाठ करता था, जिसमे उस समय सभवत (अगुत्तर के अनुसार) केवल १५० नियम थे, फिर वह प्रत्येक भिक्षु को आज्ञा देता था कि यदि उसने किसी नियम का उल्लघन किया हो तो उसे प्रख्यापित करे। यदि ऐसे प्रख्यापनो मे, भिक्षु द्वारा किए गए अपराध साधारण प्रकार के होते थे तो वह केवल दोष के अगीकार मात्र से दोषमुक्त कर दिया जाता था, अन्यथा उसे सभा छोडकर बाहर चले जाने तथा एक भिक्षु-समिति द्वारा विहित दड को भुगतने की आज्ञा दी जाती थी।

वस्सावास (सं० वर्षावास)--वस्सावास का उद्देश्य था वर्षाकाल के तीन महीनो मे भिक्षुओं को एक निश्चित आवास (विहार, गुफा अथवा कोई ऐसा स्थान जहा भिक्षु लोग निवास कर सके) मे रखना। वर्षावास के नियम का पालन कुछ बौद्धेतर धर्मों के लोग भी करते थे। इस अवधि मे भिक्षुओं को अपनी भिक्षा के लिए पूर्ण रूप से अपने आवास के निकट रहनेवाले गृहस्थो पर ही निर्भर रहना पडता था, और अत्यत असाधारण परिस्थितियो के अतिरिक्त, जिनका कि विस्तृत रूप से विनिर्देश किया गया था, उन्हे अपने भिक्षाटन के लिए निर्धारित सीमा के बाहर जाने की अनुज्ञा नही थी।

१. संस्कृत उपवसथ=सोमयज्ञ का दिन। प्रारंभ में बौद्ध संघ में उपोसथ के चार दिन हुआ करते थे--प्रत्येक पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा और अमावस्या। पीछे चार से घटाकर दो दिन कर दिए गए--पूर्णिमा और अमावस्या।

बौद्ध धर्म के प्रारंभिक काल में भिक्षु लोग अधिकतर राजगृह और उसके आसपास के स्थानों में ही रहा करते थे और कोसल में भिक्षुओं की संख्या बहुत कम थी। संभवत इसी कारण से इन दोनों कृत्यों—उपोसथ और वर्षावास—का प्रारंभ मगध में हुआ। इन दोनों के संबंध में कुछ नियम सावत्थी में बनाए गए, जो सामान्यत ऐसी ही विशेष परिस्थितियों से संबंध रखते हैं जिनमें उपोसथ की विधि संक्षिप्त की जा सकती थी और वर्षावास नियत समय से पहले समाप्त किया जा सकता था। कहा गया है कि कोसल के किसी विशेष स्थान में भिक्षुओं को शबरों का बड़ा भय था और इस कारण वे संपूर्ण पातिमोक्ख का पाठ भी नहीं कर पाते थे। ऐसी परिस्थितियों में बुद्ध ने भिक्षुओं को पातिमोक्ख सुत्त का संक्षिप्त रूप में पाठ करने की अनुज्ञा दे दी (अन्तराये सम्क्खित्तेन पातिमोक्ख उद्दिसितुं ति, १, पृ० ११२)। सुत्त के पाठ को संक्षिप्त करने के और भी कारण हो सकते हैं जैसे राजाओं एवं दस्युओं का भय, अग्नि जलप्लावन तथा हिंस्र पशुओं का भय, अथवा ऐसी अन्य परिस्थितियां जिनमें भिक्षुओं को अपने प्राणों का भय वा साधना में अंतराय पड़ने की आशंका हो (१, ११३)।

चुल्लवग्ग (पृ० २८८) में बुद्ध ने विस्तृत रूप से ऐसी परिस्थितियों पर विचार किया है जिनमें उपोसथ का कृत्य संपन्न नहीं किया जा सकता था। जिन कारणों से उपोसथ बंद किया जा सकता था, उनमें प्रधान था किसी भिक्षु द्वारा अपराध का दबाया जाना। किसी भिक्षु के अन्य भिक्षु द्वारा अपने ऊपर दोषारोपण किए जाने से बचने के प्रयत्न के संबंध में भी बुद्ध ने कुछ नियम बनाए।

कोसल में बनाए गए वर्षावास के नियमों से यह स्पष्ट विदित होता है कि उस देश में भिक्षुओं के रहने के लिए अनुकूल सुविधाएं नहीं थीं। कोसल में वर्षाकाल बितानेवाले कुछ भिक्षुओं ने बुद्ध से शिकायत की कि वहां भिक्षुओं के आवासों में सर्पों और चोरों का उपद्रव हुआ करता है और उन्हें अग्नि और जलप्लावन का भी भय रहता है। उन्हें पर्याप्त भोजन तथा औषध प्राप्त करने में कठिनाई होती है और नगर की दुष्ट स्त्रियां भी उन्हें कष्ट दिया करती हैं। भिक्षुओं में ही कुछ ऐसे हैं जो संघ में फूट डालने का प्रयत्न किया करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में बुद्ध ने भिक्षुओं को वर्षावास समाप्त कर अन्य स्थानों में चले जाने की अनुज्ञा दे दी।

ऐसी दो अन्य घटनाओं का भी उल्लेख किया गया है जिनमें बुद्ध का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया था। पहली घटना यह है कि सावत्थी में वर्षावास करनेवाले कुछ भिक्षुओं ने यह निश्चय किया कि वे वर्षाकाल में किसी को दीक्षा (प्रव्रज्या) न देंगे। विशाखा के एक पौत्र ने उनसे वर्षा-काल में ही दीक्षा देने की प्रार्थना की, परंतु

अपने निश्चय के अनुसार उन्होंने अस्वीकार कर दिया। जब विशाखा ने इस विषय को बुद्ध के समक्ष उपस्थित किया तो उन्होंने भिक्षुओं को आदेश दिया कि वे वर्षाकाल में दीक्षा देना अस्वीकार न करें। दूसरी घटना यह है कि उपनंद शक्यपुत्त ने राजा पसेनदि को वचन दिया था कि 'मैं वर्षा राजा के ही विहार में व्यतीत करूंगा', परन्तु पीछे जब उसने देखा कि एक दूसरे स्थान पर वस्त्र अधिक मिलते हैं, तो उसने अपना विचार बदल दिया और उस दूसरे स्थान पर चला गया।

पवारणा—कोसल एक ऐसा प्रदेश था जहाँ के भिक्षु बहुत विनयशील नहीं थे। वर्षावास के दिनों में उनमें आपस में झगड़े हो जाया करते थे, जिससे वे एक-दूसरे से बोलना-चालना बंद कर देते थे। जब बुद्ध को इस स्थिति का पता चला तो वर्षावास के अंत में उन्होंने पवारणा के आयोजन का विधान किया, जिसमें उसके लिए नियत शुभ दिन को प्रत्येक भिक्षु को वर्षावास में किए गए अपने पापों को स्वीकार करना पड़ता था। यदि उनके अपराध साधारण होते थे तो उन्हें स्वीकार कर लेने पर वे तत्काल दोषमुक्त कर दिए जाते थे। इस कृत्य के संपादन में अनेक बाधाएँ और कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं, जिनके लिए बुद्ध ने कई नियम बनाए।

चर्म पदत्राण—जूते बनाने अथवा अन्य प्रयोजनों के लिए चमड़े के उपयोग के संबंध में नियम मगध में सोण कोलविस के निमित्त बनाए गए थे, जो एक अत्यंत धनाढ्य सेट्ठि का पुत्र था और जिसके पैर इतने कोमल थे कि नंगे पाँव चलने में उनमें से रक्त बहने लगता था। सोण कोलविस ने अपने लिए दी गई विशेष सुविधा के रूप में जूतों का उपयोग करने से इनकार कर दिया, अतः बुद्ध को सभी भिक्षुओं को जूते पहिनने की अनुज्ञा देनी पड़ी। कुछ भिक्षुओं ने इस अनुज्ञा का दुरुपयोग किया और वे विभिन्न प्रयोजनों के लिए चमड़े की बनी सुंदर वस्तुओं का उपयोग करने लगे। जब बुद्ध वाराणसी गए तो वहाँ उन्होंने देखा कि इसिपत्तन के कुछ भिक्षु जूतों के उपयोग के लिए दी गई उनकी अनुज्ञा का दुरुपयोग कर रहे हैं, अतः इस प्रकार का दुरुपयोग रोकने के लिए उन्होंने कुछ प्रतिबंध लगाए (१, पृ० १८९)। बनारस से वे सावत्थी गए जहाँ उन्होंने सुना कि कुछ भिक्षु गायों और गाड़ियों का वाहन के रूप में उपयोग करते हैं। तब बुद्ध ने नियम बनाकर केवल रुग्ण भिक्षुओं के अतिरिक्त अन्य भिक्षुओं के लिए किसी प्रकार के वाहन का उपयोग निषिद्ध कर दिया (१, पृ० १९१)।

औषधें—बुद्ध ने पहले गोमूत्र तथा ऐसी अन्य वस्तुओं (पुतिमुत्तभेसज्ज) का उपयोग औषध के रूप में विहित कर दिया था। जब बुद्ध सावत्थी में निवास करते थे तो वहाँ उन्होंने देखा कि भिक्षु लोग शरत्कालीन रोगों (सरदकानि) के कारण दुबले

और पीले हो रहे है और वे कोई भी आहार पचा नहीं सकते। तब उन्होंने अपने शिष्यों के लिए किसी भी प्रकार का गरिष्ठ आहार वर्जित कर दिया, परन्तु औषधों के उपयोग की अनुज्ञा दे दी। दिन में किसी भी समय घी, मक्खन, तेल, मधु और राब ग्रहण करने की भिक्षुओं को अनुमति मिल गई। आगे चलकर बुद्ध ने औषध की वस्तुओं की संख्या बढ़ा दी और वसा (चर्बी), जड़ी-बूटियां, फल, गोंद तथा आयुर्वेद-शास्त्र-सम्मत ऐसी अन्य वस्तुओं का जिनमें क्वाथों के अतिरिक्त कच्चा मांस और रक्त भी है, औषध के रूप में उपयोग विहित कर दिया। आवश्यक होने पर उन्होंने उष्ण जल से स्नान, रेचन, लेप और व्रणोपचार की भी अनुमति दी और औषधों के निर्माण के लिए आवश्यक पात्रों, उपकरणों और अन्य वस्तुओं का उपयोग करने की तथा सूची द्वारा दूषित रक्त निकलवाने एवं शल्य-चिकित्सा कराने की स्वीकृति उन्होंने साधारण रूप से प्रदान की। शल्य-क्रिया केवल उसी अवस्था में निषिद्ध थी जब घाव गुदा-स्थान से इंच के भीतर हो। वस्तुतः भिक्षुओं के लिए उस समय उपलब्ध चिकित्सा के सभी साधनों का उपयोग करने की अनुज्ञा थी, प्रतिबंध केवल यह था कि औषध या चिकित्सा के नाम पर वे अति न करें और गृहस्थों के सुखों का उपभोग न करने लग जायें।

परन्तु बनारस में उन्होंने औषध के रूप में किसी भी प्रकार के मांस का उपयोग वर्जित कर दिया और सावत्थी में भिक्षुओं को सभी प्रकार के फल खाने की अनुज्ञा दी। इस प्रसंग में उन्होंने यह भी नियम बनाया कि यदि विहार की सीमा के भीतर कोई अन्य व्यक्ति वृक्ष का बीजारोपण करे तो उस वृक्ष के आधे फल उस व्यक्ति को दे दिए जायं। यदि किसी अन्य व्यक्ति की भूमि में स्वयं भिक्षु लोग बीज-वपन कराएं तो उससे उत्पन्न होनेवाले वृक्ष के आधे फल उस भूमि के स्वामी को दे दिए जायं। अंत में उन्होंने औषधों के प्रयोग के विषय में यह निर्देश दिया कि भिक्षुगण कोई भी ऐसा आहार औषध के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जिन्हें उन्होंने स्पष्ट रूप से अनुचित और निषिद्ध न ठहराया हो।

कठिन——सावत्थी में निवास करते समय बुद्ध ने वर्षावास के अंत में 'कठिन' के आयोजन का प्रारंभ किया। यह पाठेय्य के तीस भिक्षुओं के निमित्त से किया गया, जो सभी 'धुतंग' नियमों का पालन करनेवाले थे। वे वर्षारंभ के पहले ही सावत्थी

१. बुद्ध के द्वारा भिक्षुओं के लिए अनुमोदित तेरह कठोर नियम हैं——

(१) पंसुकुलिकंगम्——घूर, श्मशान आदि से एकत्र किए गए वस्त्रखंडों से बने हुए चीवर धारण करना।

(२) तेचीवरकंगम्——तीन से अधिक वस्त्र न धारण करना। ये तीनों वस्त्र

पहुँचना चाहते थे, परतु वे ऐसा न कर सके और उन्होंने साकेत मे वर्षावास किया, जो सावत्थी से छ योजन दूर था। वे पवारणा का कृत्य सपन्न करके भीगे और कीचड मे सने चीवर पहने सावत्थी गए और बुद्ध से मिले। बुद्ध ने यथारीति उनका स्वागत किया। उन्होंने अपना दर्शन करने के लिए भिक्षुओ की उत्सुकता और साथ ही वर्षावास के नियमो के पालन मे उनकी दृढता को लक्ष्य करके 'कठिन' के कृत्य का विधान किया, जिसमे भिक्षुओ को अधिकार दिया गया कि वे 'पवारणा' के अवसर पर श्रद्धालु गृहस्थो से प्राप्त अपने वस्त्रो को काट,रँग और सीकर उनके चीवर बनाएँ और आवश्यकतानुसार आपस मे बाट ले। इस सबध मे अधिकारो के दुरुपयोग तथा वस्त्रो के वितरण मे अनियमितता को रोकने के लिए कई नियम बनाए गए।

हैं--एक सघाटी, एक उत्तरासग, और एक अतरवासक। धोने और रँगने के समय मे इन्हीं तीनो मे काम चलाना आवश्यक है।

(३) पिडपातिकंगम्–केवल घर-घर भिक्षा माँगकर संग्रह किया हुआ भोजन ग्रहण करना और विनय में विहित चौदह प्रकार के भोजन का दान न ग्रहण करना। वे चौदहों प्रकार ये हैं--सघभत्तं, उद्देसभ, निमंतनभ, सलकभ, पक्खिकं, उपोसथिक, पटिपादिकं, आगंतुकभ, गमिकभ, गिलानभ, गिलानुप्पटठ्काभ, विहारभ, धुरभ, वरकभ।

(४) सपदानचारिकंगम्--बिना कोई घर बीच में छोड हुए एक ओर से प्रत्यक घर में भिक्षा माँगना।

(५) एकासनिकगम्--एक ही बैठक मे भोजन करना, अर्थात् यदि भोजन के बीच में गुरु को नमस्कार करने वा अन्य कार्य के लिए उठना पडे तो फिर से भोजन के लिए न बैठना। (महाकस्सप इस धुतंग का पालन करने में सबसे आगे समझे जाते थे)।

(६) पत्तपिंडिकंगम्--केवल एक ही भिक्षापात्र रखना और उसमे डाले हुए सभी प्रकार के भोजन को ग्रहण करना, चाहे वे स्वादिष्ट हो वा नही।

(७) खलुपच्चा भत्तिकंगम्--एक बार भोजन समाप्त कर लेने अथवा बस कर देने पर, फिर देने पर भी भोजन की कोई वस्तु न ग्रहण करना, (तुल० पाचित्तिय, ३५)।

(८) आरञ्ञिकगम्–नगर या ग्राम के निकट न रहकर केवल वन में रहना; वह वन भी ग्राम से, नगर से पर्याप्त दूरी पर होना चाहिए।

(९) रुक्खमूलिकगम्--बिना किसी छप्पर-छाजन के, केवल वृक्ष के नीचे निवास करना। वह वृक्ष न फलवाला हो, न किसी विहार वा चैत्य (चेतिय) आदि की सीमा के भीतर वा सीमा पर स्थित हो।

(१०) अब्भोकासिकंगम्--खुले स्थान में रहना, अर्थात् न छाजन के नीचे रहना और न वृक्ष के। परंतु इस तथा इसके पूर्ववर्ती व्रत को धारण करनेवाला भिक्षु वर्षा

चीवर--बुद्ध ने पहले अपने शिष्यों को घरों पर से एकत्र किए हुए वस्त्रखंडों से बने चीवर धारण करने की आज्ञा दी। कोसल में बहुत से ऐसे भिक्षु थे जो श्मशान से इकट्ठे किए हुए वस्त्रखंडों से बने चीवर धारण करते थे और कभी-कभी ऐसे अवसर आते थे जब उन वस्त्रों के वितरण के संबंध में भिक्षुओं में कलह हो जाता था और उसमें बुद्ध को हस्तक्षेप करना पड़ता था (१, २८२)। ऐसे चीवरधारी भिक्षुओं को बुद्ध ने, आवश्यकता होने पर, पैबंद लगाने की अनुज्ञा दी थी (१, २९०)। जब प्रसिद्ध वैद्य जीवक बौद्ध उपासक हो गया और उसने बुद्ध को रेशमी, ऊनी और अन्य प्रकार के वस्त्र भेंट किए, जो उसे राजाओं तथा अन्य धनी व्यक्तियों से चिकित्सा के शुल्क वा उपहार के रूप में मिले थे, तो बुद्ध उन्हें अस्वीकार न कर सके। तब उन्होंने वस्त्र-संबंधी नियम को शिथिल कर दिया और भिक्षुओं को छूट दे दी कि वे चाहे गृहस्थों से प्राप्त वस्त्रों का उपयोग करें, चाहे घरों से इकट्ठे किए हुए चौराहों के चीवर का (१,२८०)। इस नियम के शिथिल हो जाने से गृहस्थों को बहुमूल्य वस्त्रों का दान करने का अवसर मिल गया। अतः बुद्ध ने यह नियम बना दिया कि भिक्षु लोग क्षौम, कार्पास, रेशम, ऊन, सन और भंग के बने वस्त्रों (खोम, कप्पास, कोसेय्य, कंबलम्, साणम् और भंगम्) का उपयोग कर सकते हैं (१,२८१)।

भिक्षु के लिए सदा तीन वस्त्र धारण करने का नियम है--एक दोहरा ऊपरी वस्त्र (संघाटी), एक ऊपरी वस्त्र (उत्तरासंग) और एक भीतर पहनने का वस्त्र (अंतरवासक)। इन तीनों वस्त्रों के बिना भिक्षु को ग्राम में नहीं जाना चाहिए। केवल बहुत असाधारण परिस्थितियों में, जैसे रुग्णता की अवस्था में वा नदी पार करते समय

के समय किसी छायादार स्थान में शरण ले सकता है, प्रतिबंध यह है कि वह भीगने के डर से छाया के लिए दौड़े नहीं।

(११) सोसानिकंगम्--श्मशान में रहना। बुद्धघोष ने उपर्युक्त श्मशान की व्याख्या करते हुए कहा है कि ऐसा श्मशान ग्रामवासियों के उपयोग में न हो, प्रत्युत वह ऐसा हो जिसका कम से कम बारह वर्ष से उपयोग न हुआ हो। परंतु बुद्धघोष द्वारा लिखित अन्य प्रतिबंधों में ऐसा प्रतीत होता है कि उनका तात्पर्य सर्वथा जनशून्य श्मशान से नहीं था।

(१२) यथासन्थतिकंगम्--अपने लिए नियत आसन तथा शय्या का ही व्यवहार करना, यह न कहना कि यह उपयुक्त नहीं है अथवा दूसरी चाहिए।

(१३) नेसज्जिकंगम्--रात्रि लेटकर नहीं प्रत्युत बैठे-बैठे व्यतीत करना; तीन यामों में से एक याम टहलते-टहलते (चंकमन में) बिताया जा सकता है।

(१,२९८), उसे एक वा दो वस्त्र शरीर से अलग करने की अनुज्ञा है। गृहस्थों से जो भी वस्त्र दान में प्राप्त हों उन्हें वहाँ उस समय उपस्थित सभी भिक्षुओं में उनकी आवश्यकता के अनुसार वितरित कर देना चाहिए। यदि किसी स्थान में एक ही भिक्षु हो तो उसे जो वस्त्र मिले उन्हें वह आगामी 'कठिन' के समय तक अपने उपयोग के लिए रख सकता है (१,२९९-३०१)। साधारणतः एक भिक्षु वा कई भिक्षुओं को दान में मिले वस्त्र संघ की संपत्ति होते थे और उपासकों को यह अनुदेश दिया जाता था कि वे सभी प्रकार के दान किसी एक भिक्षु को न देकर संघ के निमित्त दिया करें।

जब बुद्ध सावत्थी पहुँचे तो विशाखा उनकी सेवा में उपस्थित हुई और उसने उनसे प्रार्थना की कि मुझे भिक्षुओं और भिक्षुणियों को निम्नलिखित वस्तुएँ भेंट करने का गौरव प्रदान किया जाय--

(१) वस्सिकसाटिकम्--वर्षा में व्यवहार करने के वस्त्र।
(२) आगन्तुकभत्तम्--सभी आगन्तुक भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए भोजन।
(३) गमिकभत्तम्--सभी गमिक अर्थात् जानेवाले भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए भोजन।
(४) गिलानभत्तम्--बीमारों को भोजन।
(५) गिलानुपट्ठाकभत्तम्--रोगियों के परिचारकों को भोजन।
(६) गिलान भेसज्जम्--रोगियों को औषध।
(७) धुवयागुम्--प्रतिदिन संघ के प्रत्येक व्यक्ति के लिए चावल की खीर।
(८) भिक्खुनीसंघस्स उदकसाटिकम्--भिक्षुणियों के लिए स्नान के वस्त्र (१,२९४)।

उसने बुद्ध से भिक्षुओं के लिए उपवस्त्र वा तालिया (मुखपुञ्छन-चोलकम्) भी स्वीकार करने की अनुज्ञा प्राप्त की।

दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ--बुद्ध ने भिक्षुओं के दैनिक जीवन में व्यवहार के लिए उचित एवं उपयुक्त वस्तुओं का पूरा ब्यौरा दिया है। यह ब्यौरा अधिकांशतः राजगृह में तैयार किया गया था। अतः यहाँ उसपर विचार करने की आवश्यकता नहीं है (चुल्लवग्ग, अ० ५)। विशाखा ने दैनिक व्यवहार की कुछ वस्तुएँ संघ को प्रदान करने की बुद्ध से अनुज्ञा चाही। ये वस्तुएँ थीं--टोकरी, झाड़ू (घटकञ्च, सम्मज्जनीञ्च), पंखे और चँवर (छाल, घास अथवा मोरपंख के), जिनके लिए बुद्ध ने अनुज्ञा दे दी (२,१३०)।

सावत्थी में विशाखा ने एक दोमंजिला विहार (पासाद) बनवाया, जिसके बरामदे

में हस्तिनख के आकारवाले स्तंभ लगे हुए थे, और यह विहार उसने संघ को दान किया। बुद्ध ने उसे स्वीकार कर लिया और भिक्षुओं को उसमें रहने की अनुज्ञा दे दी, यद्यपि उसकी बनावट बड़ी अलंकारपूर्ण थी। उन्होंने राजा प्रसेनदि की पितामही के उपस्करों एवं अन्य वस्तुओं को भी स्वीकार किया, जिन्हें उसने अपनी पितामही की मृत्यु के पश्चात् संघ को दान कर दिया था, परंतु उन्होंने भिक्षुओं को आज्ञा दी कि वे पलंगों का उपयोग उनके पाए तोड़कर और उनके गद्दे अलग करके करें, गद्दों के तकिए बना डालें और चादरों को धरती पर बिछाने के काम में लाएँ (२,१६१)।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या इस प्रकार गृहस्थों से दान में प्राप्त उद्यानों अथवा अन्य वस्तुओं का भिक्षु लोग हस्तांतरण कर सकते हैं? बुद्ध ने आज्ञा दी कि कोई भी भिक्षु संघ की अनुलिखित संपत्ति को संघ से पृथक् नहीं कर सकता—(१) उद्यान, कुटी या विहार, जिसके अंतर्गत उसकी वह भूमि भी सम्मिलित है जिसपर वह बना हो, (२) शय्या आसन, उपधान तथा इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ, (३) लोहे के घड़े या बरतन, (४) अस्तरा, बसूला, कुल्हाड़ा या फावड़ा, (५) लताएँ, बाँस, मूँज, (६) काठ या मिट्टी के बरतन। इन वस्तुओं को आगंतुक या आवासिक भिक्षुगण भी आपस में बाँट नहीं सकते थे (२,१७०)। आलवी के कुछ भिक्षुओं ने एक विहार कई वर्षों के लिए एक भिक्षु को केवल इसलिए दे दिया कि वह उसकी आवश्यकतानुसार मरम्मत करा दिया करे, और इस प्रकार उन्होंने बुद्ध की उपर्युक्त आज्ञा की उपेक्षा करने का प्रयत्न किया। बुद्ध ने ऐसे प्रयत्नों का प्रतिषेध कर दिया (२,१७२)।

वत्त (भिक्षुओं के कर्तव्य और आचार)—ऐसा जान पड़ता है कि बुद्ध के जीवन की उत्तरावस्था में, जिसका अधिकांश उन्होंने सावत्थी में व्यतीत किया, भिक्षुओं की संख्या बहुत बढ़ गई थी और वे प्राय एक से दूसरे विहारों में आया-जाया करते थे। चुल्लवग्ग (पृ० २०८ तथा आगे) में आगंतुक (आनेवाले), आवासिक (विहार में रहनेवाले) और गमिक (जानेवाले) भिक्षुओं के आचार के संबंध में विस्तृत अनुदेश दिए गए हैं। भिक्षाटन (पिंडचारिका) करने समय तथा गृहस्थ के घर भोजन करने के पश्चात् (भत्तग्गम्) भिक्षुओं को किस प्रकार आचरण करना चाहिए, इस संबंध में उनके कर्तव्य बतलाए गए हैं। भिक्षुओं को शय्या, आसन, स्नानगृह, शौचालय आदि का उपयोग कैसे करना चाहिए और किस प्रकार उनकी सफाई करनी चाहिए, अरण्यवासी भिक्षुओं की दैनिक आवश्यकताएँ क्या हैं, गुरु और शिष्य (उपज्झाय सद्धिविहारिक) को परस्पर किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए (इनके कर्तव्य

वही है जो आचार्य और अनेवासी के)—इन बातों के सबध मे भी अनुदेश दिए गए हैं। यहां इस प्रकार के कुछ विनियम उदाहरण के लिए प्रस्तुत किए जाते है—

आगंतुक भिक्षु—आगतुक भिक्षु के कर्तव्य इस प्रकार है—विहार मे आनेवाले भिक्षु को पहले अपने चप्पल या जूते उतार देना चाहिए और छाता बद करके इन वस्तुओ को एक किनारे रख देना चाहिए। फिर वस्त्र को एक कधे पर डालकर चुपचाप कुटी मे प्रवेश करना और वहा के आवासिक भिक्षुओं के स्थान का पता लगाना चाहिए। उनके निकट जाकर भिक्षापात्र और सघाटी अलग रखकर उपयुक्त आसन पर बैठ जाना चाहिए। फिर उसे पूछना चाहिए कि भोजन और जल कहाँ मिलेगा, और वहा जाकर, एक हाथ से पानी डालकर दूसरे से मलते हुए, पैरो को धोकर भोजन करना और जल पीना चाहिए। उसे जूते साफ करने के लिए वस्त्र का पता लगाना चाहिए और मिल जाने पर, आवश्यकता हो तो जूतो को पानी से धोकर, उन्हे उस वस्त्र से पोछना चाहिए।

यदि आवासिक भिक्षु उससे ज्येष्ठ हो तो उसे उसको प्रणाम करना चाहिए। यदि आवासिक भिक्षु उससे छोटा हो तो वह उसे (आगतुक को) प्रणाम करे। उसकी शय्या और सोने का स्थान कहाँ है, किन घरो मे उसे भिक्षा के लिए जाना चाहिए, शौचालय कहाँ है, कुटी से बाहर जाने और वापस आने के लिए कौन-सा समय नियत है, इन सब बातो को तथा यदि भिक्षुओ ने आपस मे और भी कोई नियम निश्चित किए हो तो उनको भी पूछकर उसे जान लेना चाहिए।

यदि भिक्षु किसी ऐसे विहार मे पहुँचे जिसमे कोई न हो, तो उसे सावधानी के साथ उसमे प्रवेश करना चाहिए। धूल और जाले साफ करके दीवारो और फर्श को झाड देना चाहिए और यदि फर्श पर कोई कालीन, चादनी आदि बिछी हो तो उसको तथा शय्या एव आसनो को धूप मे सुखा लेना चाहिए। फिर अपने वस्त्र और भिक्षापात्र को सावधानी से अलग रखकर खिडकियो को खोल देना चाहिए, घडे मे जल भरकर रख देना चाहिए और इस प्रकार के अन्य कार्य जो आवश्यक जान पडे करना चाहिए।

आवासिक और गमिक भिक्षु—इसी प्रकार आवासिक भिक्षुओं तथा विहार छोडकर जानेवाले (गमिक) भिक्षुओ के भी कर्तव्य बतलाए गए हैं।

भत्तग्ग (भिक्षा माँगने तथा भोजन का निमत्रण स्वीकार करने के संबध में नियम)—भिक्षु को अपने तीनो वस्त्र ठिकाने से पहनकर, हाथ मे भिक्षापात्र लेकर, दृष्टि नीची किए हुए धीर गति से जाना चाहिए और आसन दिया जाय तो उसपर शाति-पूर्वक बैठना चाहिए। निमत्रित भिक्षुओ के अतिरिक्त अन्य भिक्षुओ को भोजन के

लिए साथ नहीं ले जाना चाहिए। जल दिया जाय तो पात्र को दोनों हाथों से पकड़ कर जल लेना चाहिए और बिना इधर-उधर छींटे डाले हुए उसका उपयोग करना चाहिए। भोजन दिए जाने पर भी उसे दोनों हाथों से पात्र को पकड़कर सावधानी से उसमें भोजन लेना चाहिए (विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य २,२१८)। जब तक सभी निमन्त्रित भिक्षुओं को भोजन न परोस दिया जाय तब तक भोजन आरंभ नहीं करना चाहिए। जब तक सब लोग भोजन न कर चुकें तब तक हाथ धोने के लिए नहीं उठना चाहिए।

भोजन के पश्चात्, उनमें जो भिक्षु सबसे ज्येष्ठ हो उसे धन्यवाद के रूप में कुछ धार्मिक प्रवचन करना चाहिए।

आरण्यक––अरण्यवासी भिक्षु के कर्तव्य इस प्रकार हैं––उसे जल, कुछ भोजन, ईंधन और लकुट व्यवहार के लिए प्रस्तुत रखना चाहिए। उसे ग्रहों, नक्षत्रों और दिशाओं का ज्ञान होना चाहिए। यदि वह ग्राम में जाय तो उसे उन सभी कर्तव्यों का पालन करना चाहिए जिनका ऊपर 'भत्तग्ग' में उल्लेख किया गया है।

इसी प्रकार शयनगृह, उपस्कर, स्नानगृह तथा शौचालय को स्वच्छ करने के संबंध में भी अनुदेश दिए गए हैं।

अंत में गुरु और शिष्य के पारस्परिक कर्तव्य इस प्रकार बताए गए हैं––शिष्य को भोर में ही शय्या-त्याग करना चाहिए और जूते उतारकर अपने गुरु के लिए दतुअन, आसन और जल प्रस्तुत करना चाहिए। फिर उसे गुरु को एक पात्र में खीर देनी चाहिए और उनके खीर ग्रहण कर चुकने पर पात्र को स्वच्छ कर डालना चाहिए। इसके बाद उसे फर्श पर झाड़ू लगाना चाहिए। यदि गुरु ग्राम में जाना चाहें तो उनके वस्त्र और भिक्षा-पात्र प्रस्तुत करने के पश्चात स्वयं यथोचित रूप से वस्त्र धारण कर उनका अनुगमन करना चाहिए। यदि गुरु किसी व्यक्ति से वार्तालाप कर रहे हों तो उसे बोलना नहीं चाहिए। गुरु के ग्राम से लौटने पर उन्हें चरण धोने के लिए जल देना चाहिए और उनका वस्त्र और भिक्षापात्र लेकर उचित स्थान पर रख देना चाहिए। यदि गुरु स्नान करना चाहें तो उन्हें आवश्यकतानुसार उष्ण वा शीतल जल देना, और स्नान के लिए जो वस्तुएँ आवश्यक हों उन्हें स्नानगृह में प्रस्तुत करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य बातें भी बताई गई हैं। यदि गुरु किसी अपराध के दोषी ठहराए जायँ और उन्हें दंड दिया जाय तो शिष्य को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि गुरु अपने ऊपर लगाए गए सब प्रतिबंधों का पालन करें और नियत समय के भीतर दोषमुक्त कर दिए जायँ।

गुरु को भी अपने शिष्य का ध्यान रखना चाहिए। गुरु को अपने शिष्य के प्रश्नों का समुचित उत्तर देना तथा अपने व्याख्यान से उसकी शंकाओं का समाधान करना चाहिए। यदि शिष्य के पास वस्त्र और भिक्षापात्र न हों तो गुरु को उनका प्रबंध करना चाहिए। यदि शिष्य बीमार हो जाय तो गुरु को सावधानी के साथ उसकी शुश्रूषा और परिचर्या करनी चाहिए, और यदि वह गाव में जाना चाहे तो उसे वस्त्र और भिक्षापात्र देकर तथा यदि वस्त्र गीले हों तो उन्हें सुखाकर उसकी सहायता करनी चाहिए। शिष्य के भोजन कर लेने के पश्चात् उसे पीने के लिए पानी देना और इस प्रकार के अन्य छोटे-मोटे कार्य करना चाहिए जिन्हें गुरु के लिए करने की शिष्य से अपेक्षा की जाती है। गुरु को शिष्य को यह भी बतलाना चाहिए कि वह अपने वस्त्र किस प्रकार धोए और रंगे और इस कार्य में उसकी सहायता करनी चाहिए।

कोसंबी का विवाद

कोसंबी में भिक्षुओं के दो दलों में एक बार बहुत बड़ा विवाद उपस्थित हो गया। विवाद यहाँ तक बढ़ा कि उसमें बुद्ध के हस्तक्षेप करने से भी कोई लाभ नहीं हुआ। बुद्ध को इससे इतना क्षोभ हुआ कि वे वहां से वन में चले गए और मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं के संग रहना उन्होंने अधिक पसंद किया। झगड़ा बहुत छोटी सी बात को लेकर आरंभ हुआ। कहा जाता है कि एक भिक्षु ने शौचालय के जलपात्र में बचे हुए जल को उसी में रहने दिया, उसे गिराया नहीं, जैसा कि साधारणतः करने का नियम था। इस छोटी सी त्रुटि पर एक भिक्षु को आपत्ति हुई। उसने अपने पक्षपाती भिक्षुओं और उपासकों को अपने समर्थन के लिए एकत्र किया और दोषी भिक्षु को संघ द्वारा 'उक्खेपन' (सं०—उत्क्षेपण) का दंड दिलाने का निश्चय किया। दोषी भिक्षु ने भी, जो एक बहुत बड़ा विद्वान् था, अनेक भिक्षुओं और उपासकों का समर्थन प्राप्त किया और यह प्रख्यापित किया कि मैंने कोई अपराध नहीं किया है अतः 'उक्खेपन' अवैध है। दोनों पक्ष के लोगों ने संघ के कृत्यों का एक साथ मिलकर संपादन करना अस्वीकार कर दिया, जिससे संघ-भेद होने की आशंका उपस्थित हो गई, जिसे बुद्ध ने पितृघात के तुल्य पाँच महापातकों में से एक बतलाया है। एक दल ने उपोसथ-सभा विहित सीमा के भीतर की और दूसरे ने उसके बाहर। बुद्ध ने दोनों को समझाया कि 'तुम लोग मेरे बनाए हुए नियमों का उल्लंघन कर रहे हो और इस प्रकार संघ की एकता भंग कर रहे हो।' इसपर दोनों दलों ने धार्मिक कृत्यों को तो सीमा के भीतर करना आरंभ कर दिया, परंतु उनके बीच कटुता बढ़ती ही गई। उन्हें परस्पर दोषारोपण करने से रोकने और

उन्हे प्रबोध देने के लिए बुद्ध ने उन्हे कोसल के पूर्वकालीन राजा दीघीति की कथा सुनाई, परन्तु उनपर कोई प्रभाव नहीं पडा। इससे क्षुब्ध होकर बुद्ध ने उस स्थान को छोड दिया और वहाँ से वे बालकलोणाकार ग्राम चले गए। फिर वे पाचीन वसदाय गए जहाँ उनकी अनुरुद्ध, नदिय और किबिल से भेट हुई, जो एक साथ मेल से रहने और आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधना करते थे। वहाँ से वे परिलेय्यक वन मे गए, जहाँ एक हाथी उनकी सेवा करता था। फिर वे सावत्थी जाकर जेतवन मे ठहर गए। कोसबी के उपासकगण वहाँ के झगडालू भिक्षुओ से बहुत रुष्ट हो गए। उन्होने उनका आदर करना और उन्हे भिक्षा देना बद कर दिया। इससे उन भिक्षुओ की बुद्धि ठिकाने आ गई और वे बुद्ध से अपने विवाद का समाधान कराने के लिए सावत्थी गए। उस समय जेतवन मे बुद्ध के प्रमुख शिष्यगण--सारिपुत्त, महामोग्गलान, महाकस्सप, महाकच्चान, महाकोट्ठिल, महाकप्पिन, महाचुद, अनुरुद्ध, रेवत, उपालि, आनद, राहुल तथा महापजापति गोतमी--विद्यमान थे। उन्होने ओर अनाथपिडिक तथा विशाखा ने सुना कि कोसबी-विवाद के दोनो पक्षो के भिक्षु बुद्ध के पास आ रहे है। बुद्ध ने उन्हे निम्नलिखित अठारह प्रकार के अधर्मी भिक्षुओ से सावधान किया--

वे भिक्षु जो (१) मिथ्या सिद्धातो को सत्य समझकर मानते है,

(२) सत्य सिद्धातो को मिथ्या समझते है,

(३) विनय के मिथ्या नियमो को सत्य मानते है;

(४) सत्य नियमो को मिथ्या मानते है,

(५) तथागत के वचनो को उनके वचन नही मानते (६) जो वचन तथागत के नहीं है उन्हे उनके वचन मानते है,

(७,८) तथागत द्वारा विहित कर्मो को उनके द्वारा विहित नहीं मानते, और जो तथागत द्वारा विहित नहीं है उन्हे उनके द्वारा विहित मानते है,

(९,१०) तथागत के उपदेशो को अन्य का और अन्य के उपदेशो को तथागत का मानते है,

(११,१२) अपराधो का अपराध नहीं मानते और जो अपराध नही है उसे अपराध मानते है,

(१३,१४) साधारण अपराध को गभीर और गभीर अपराध को साधारण मानते है,

(१५,१६) अपराध को उसका अपवाद और अपवाद को अपराध मानते हैं;

(१७, १८) बडे अपराध को छोटा और छोटे को बडा मानते है।

आगे बुद्ध ने यह भी बतलाया कि किस प्रकार भिक्षुओं का झगड़ा निपटाना और संघ की एकता को अक्षुण्ण रखना चाहिए।

जेतवन में रहते हुए बुद्ध ने विनय के अंतिम नियम बनाए, जिनमें उन्होंने भिक्षुओं द्वारा कर्तव्यों के उल्लंघन को रोकने के लिए कई संघीय दंडों का विधान किया। वे दंड इस प्रकार हैं—

(१) तज्जनिय (अविश्वास) और निस्सय (गुरु की अपेक्षा के अधीन रहना),

(२) पब्बाजनिय (अस्थायी रूप से विहार से निष्कासन),

(३) पटिसारनिय (क्षमा मांगने के लिए कहना),

(४) उक्खेपनिय (निलंबन)।

(१) **तज्जनिय**—श्रावस्ती में और उसके आसपास बहुत से झगड़ालू भिक्षु रहते थे। उनका एक दल पडुलोहितक कहलाता था जो प्राय अन्य भिक्षुओं से झगड़ा ठान लिया करता था। इससे आए दिन संघ में कलह उपस्थित हो जाता था। बुद्ध ने उन्हें भिक्षु बने रहने के अयोग्य घोषित किया और उनके लिए तज्जनिय कम्म (सं० तर्जनीय कर्म) का विधान किया। इसके अनुसार अपराधी व्यक्ति को पहले चेतावनी देनी चाहिए, फिर उसे उसके अपराधों का स्मरण कराना चाहिए और तब उसपर दोषारोपण करना चाहिए। यह कर्म उसकी उपस्थिति में संपादित किया जाना चाहिए। उससे उसके अपराध के संबंध में प्रश्न करना और उसे दोष का ज्ञान कराना चाहिए। तज्जनिय कम्म द्वारा दंडित भिक्षु को प्रव्रज्या देने, श्रामणेरों को अपनी सेवा में रखने और भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के समक्ष प्रवचन करने का निषेध कर दिया जाता था (२,५)। परंतु यदि वे अपना आचरण सुधार लेते और संघ से अपने ऊपर लगाई गई रोक हटा लेने की प्रार्थना करते थे तो वे पुन संघ में प्रविष्ट कर लिए जाते थे। यही दंड उन भिक्षुओं को भी दिया जाता था जो गृहस्थों से बहुत अधिक संपर्क बढ़ाते थे।

यदि उक्त प्रकार से दंडित भिक्षु संघ के किसी कृत्य में भाग ले तो फिर उसे निस्सय कम्म द्वारा दंड देना चाहिए और उसे एक गुरु वा शिक्षक के अधीन कर देना चाहिए, जिसकी देखरेख में वह उसके अनुदेशों के अनुसार आचरण करे। इस दंड को देने की प्रक्रिया वही थी जो ऊपरवाले दंड की।

(२) **पब्बाजनिय**—श्रावस्ती के निकटवर्ती किटागिरि स्थान के भिक्षुओं ने कई गंभीर अपराध किए। उनके लिए बुद्ध ने पब्बाजनिय दंड का विधान किया। इसके अनुसार अपराधी भिक्षु को विहार के भीतर नहीं रहने दिया जाता था। इस दंड को

देने तथा इससे अपराधी को मुक्त करने की प्रक्रिया वही थी जिसका विधान तज्जनिय कम्म मे किया गया है।

(३) **पटिसारनिय**––मच्छिकासड के भिक्षु सुधम्म ने एक बार एक सज्जन उपासक चित्तगहपति की निदा की। बुद्ध ने उसे डाटा और उसके-जैसा अपराध करने-वाले भिक्षुओ के लिए पटिसारनिय कम्म का विधान किया। इस कर्म का सपादन भी पूर्वोक्त कर्म की भाँति किया जाना चाहिए। अपराधी भिक्षु उसी अवस्था मे दोष-मुक्त किया जा सकता है जब वह अपमानित गृहस्थ से क्षमा माँग ले।

(४) **उक्खेपनिय**––कोसबी के छन्न भिक्षु ने कोई अपराध किया, परतु वह अपराध को स्वीकार नही करता था। ऐसे लोगो के लिए बुद्ध ने उक्खेपनिय कम्म का विधान किया। इस कर्म का सपादन भी पूर्वोक्त कर्मो की भाँति किया जाता था। दडित भिक्षु को विहार से बाहर चले जाने की आज्ञा दी जाती थी। अन्य भिक्षुओ को उसके प्रति आदर और शिष्टता का व्यवहार करने का निषेध था। उसपर लगाए गए अन्य प्रतिबध पूर्वोक्त कर्मो-जैसे ही है। यही दड उन भिक्षुओ को भी दिया जाता था जो अरित्थ के समान इस प्रकार की भ्रात धारणाएँ रखते थे कि बुद्ध ने निर्वाण के मार्ग मे जिन बाधाओ का वर्णन किया है वे सर्वथा सत्य नही है।

सावत्थी मे रहते समय बुद्ध ने अन्य सघीय दडो का भी विधान किया, जो इस प्रकार है––

(१) परिवास (परीक्षाधीन रखा जाना)––इसके अनुसार भिक्षु को एक निश्चित काल के लिए सघ के कोई कृत्य करने की अनुज्ञा नही दी जाती थी और अन्य भिक्षु उसके प्रति आदर और शिष्टता प्रदर्शित नही करते थे।

(२) मानत्त––यह भी पूर्वोक्त दड के समान ही है, केवल परीक्षा-काल इसमे छ ही दिनो तक सीमित होता था।

(३) मूलायपटिकस्सना––यह दड उस भिक्षु को दिया जाता था जिसे परिवास का दड दिया जाने पर भी वह उसके प्रतिबधो का पालन नही करता था। ऐसी अवस्था मे उसके द्वारा बिताया गया परीक्षा-काल व्यर्थ करके उसे फिर से आरभ किया जाता था।

वंडकम्म तथा आवरण––बुद्ध ने वैसाली मे भिक्षुणी-सघ बनाने की स्वीकृति दी थी और उन्होने स्त्रियो पर आठ प्रतिबध लगाए थे भिक्षुणियो के लिए विनय के वे सभी नियम पालनीय थे जिनका पालन भिक्षुओ के लिए आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य नियम भी थे, जो भिक्षुओ को भिक्षुणियो से अलग रखने तथा कुछ ऐसे धार्मिक कृत्यो से सबधित थे जिनमे भिक्षुणियो को भिक्षुओ से निदेश

लेने पड़ते थे। सावत्थी में कुछ भिक्षुओं के विरुद्ध यह आरोप लगाया गया कि वे भिक्षुणियों से अनुचित व्यवहार करते हैं। बुद्ध ने इस प्रकार के दुर्व्यवहारों को रोकने के लिए कुछ नियम बनाए, जिनके अनुसार अपराधी भिक्षुओं को 'दंडकम्म' द्वारा दंडित किया जाता था। इस कर्म के अनुसार अपराधी भिक्षु, भिक्षुणियों का अभिवादन पाने के लिए अपात्र घोषित कर दिए जाते थे। यदि भिक्षुणियां इस प्रकार के अपराध में दोषी पाई जाती थीं तो उन्हें 'आवरण' द्वारा दंडित किया जाता था, अर्थात् उनका भिक्षुओं के विहार में प्रवेश करना निषिद्ध कर दिया जाता था। यदि वे इसका उल्लंघन करतीं तो उन्हें चेतावनी (ओवाद) दी जाती थी और वे उपोसथ सभाओं से निष्कासित कर दी जाती थीं (२,२६२)।

सावत्थी में बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए यह विशेष उपबंध किया कि यदि वे मार्ग की आपदाओं के कारण उच्च दीक्षा के लिए भिक्षुओं के विहार में न जा सकें तो उन्हें उनकी अनुपस्थिति में प्रतिनिधि द्वारा दीक्षा दी जाय (२,२७७)।

यद्यपि भिक्षुणियों के संबंध में अन्य नियम कोसल के बाहर बनाए गए, किंतु 'भिक्खुणी पातिमोक्ख' के संपूर्ण नियम सावत्थी में ही संकलित किए गए थे।

पातिमोक्ख

यह पहले कहा जा चुका है कि पातिमोक्खसुत्त के २२७ नियमों में से १९८ उस समय बनाए गए थे जब बुद्ध सावत्थी में तथा वाराणसी, कोसंबी एवं कपिलवत्थु में निवास करते थे। 'पाराजिक' नाम का प्रथम खंड मगध के वेसाली नामक स्थान में बनाया गया था। 'पाराजिक' के अपराध का दोषी भिक्षु-संघ से निष्कासित कर दिया जाता था और उसे उपासक (गृहस्थ) बनने के लिए विवश किया जाता था। दूसरे खंड 'संघादिसेस' में तेरह नियम थे, जिनमें से नौ सावत्थी में बनाए गए थे। इन नौ में से प्रथम पांच नियमों का संबंध भिक्षुओं द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन न किए जाने की संभावना से है। पहले नियम में जानबूझकर स्वयं (अप्राकृतिक कर्मों द्वारा) ब्रह्मचर्य नष्ट करने, दूसरे, तीसरे और चौथे में मैथुन की इच्छा से किसी स्त्री को गुप्त रूप से संकेत करने और पांचवें में अनैतिक कर्म के लिए किसी पुरुष एवं स्त्री के बीच दूत का कार्य करने का निषेध किया गया है। छठा नियम यद्यपि राजगृह में बनाया गया था, किंतु उसके निर्माण के कारण कुछ आलविक भिक्षु थे, जिन्होंने एक गृहस्थ को अपने निमित्त एक विहार बनवाने के लिए तैयार कर लिया, परंतु उसका निर्माण-कार्य पूरा करने के लिए उन्होंने कई वस्तुएँ अन्य गृहस्थों से मांगीं। छठे नियम में इस प्रकार गृहस्थों से वस्तुओं

के मांगने का निषेध किया गया है। सातवां नियम भिक्खु छन्न के कारण बनाया गया था, जिसने कोसंबी में विहार बनवाने के लिए एक अनुचित स्थान चुना था। यह विहार उसका एक उपासक बनवाना चाहता था। चुने गए स्थान पर एक वृक्ष था, जिसे वहां के लोग पवित्र मानते थे और जिसके काटे जाने पर उन्हें आपत्ति थी। अत इस नियम में यह विधान किया गया कि विहार के लिए स्थान का चुनाव भिक्खुओं की एक समिति किया करे। बारहवां नियम भी छन्न भिक्खु के दुराग्रह के कारण बनाया गया था, क्योंकि वह कहता था कि 'मैं विनय के नियमों के पालन में स्वतन्त्र रहना चाहता हूँ, उसमें अन्य भिक्षुओं का उपदेश वा हस्तक्षेप मैं नहीं सहन कर सकता'। बारहवें नियम में इस प्रकार के दुराग्रह के लिए यह विधान किया गया है कि पहले ऐसे भिक्षु को तीन बार तक अवसर दिया जाय कि वह अपना दुराग्रह छोड़ दे, फिर न मानने पर, उसपर 'सघादिसेस' का दोषारोपण किया जाय। तेरहवां नियम किटागिरि के भिक्षुओं के कारण बना था, जो स्वच्छंद रूप से गृहस्थों के साथ मिलते-जुलते थे और ऐसे कार्य करते थे जो भिक्षुओं के लिए वर्जित थे। इस नियम के अनुसार पहले दोषी पाए जानेवाले भिक्षु की कुप्रवृत्तियों को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए, और इसमें सफलता न मिलने पर उसपर 'सघादिसेस' का अपराध लगाया जाना चाहिए।

'सघादिसेस' के अपराधी भिक्षु को उचित दंड प्राप्त करने के लिए भिक्षुओं की एक समिति के समक्ष उपस्थित होना पड़ता था। दंड भोग लेने के पश्चात् वह दोष-मुक्त होने तथा संघ के अधिकारों को पुन प्राप्त करने के लिए पुन उस समिति के समक्ष उपस्थित होता था।

तृतीय अर्थात् 'अनियत' खंड में केवल दो नियम हैं। इस खंड के शीर्षक से यह प्रकट है कि यदि किसी पर कोई ऐसा अपराध लगाया गया है जिसका किया जाना संदिग्ध है, तो जांच करके यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि वह अपराध किन परिस्थितियों में किया गया है। इस खंड के अंतर्गत दिए गए दोनों नियम सावत्थी में विशाखा के कारण बनाए गए थे, जो उस समय वृद्ध हो गई थी। विशाखा ने एक बार उदायि भिक्खु के एकांत में एक स्त्री के साथ बैठकर उससे बातचीत करने पर आपत्ति की थी। परन्तु ऐसी अवस्थाओं में कभी-कभी ऐसा होता था कि जिस स्त्री के साथ कोई भिक्षु बातचीत करता पाया जाता था वह उसकी माता, भगिनी अथवा कन्या होती थी, अत उसका उससे बात करना कोई अपराध नहीं होता था। इस कारण इस नियम में यह विधान किया गया कि ऐसे विषयों में परिस्थिति की जाँच कर ली जाया करे।

चतुर्थ खंड में तीस निस्सग्गिय पाचित्तिय नियम हैं, जिनमें यह विधान किया गया है

कि भिक्षु निषिद्ध वस्तु का त्याग (नैसर्गिक) कर दे और उसे ग्रहण करने के अपराध के लिए खेद प्रकट करे (पाचित्तिय=पातयन्तिक=प्रायश्चित्तिक)। इस खंड के तीस नियमों में से तेईस उत्तर प्रदेश के भीतर, सावत्थी तथा अन्य स्थानों में, बनाए गए थे।

एक बार आनंद को एक अधिक चीवर प्राप्त हुआ और उसे उन्होंने सारिपुत्त को देना चाहा, जो उस समय साकेत में थे। बुद्ध ने आनंद को उस अधिक वस्त्र को दस दिनों तक अपने पास रखने की अनुमति दे दी, जिसके पश्चात् सारिपुत्त सावत्थी में आनेवाले थे। तब से यह नियम बना दिया गया कि कोई भिक्षु अधिक से अधिक दस दिनों तक अपने पास अपनी आवश्यकता से अधिक वस्त्र रख सकता है। इस खंड के अन्य नियम, जो सावत्थी में बनाए गए, इस प्रकार है--

(क) कोई भिक्षु कहीं जाते समय केवल दो वस्त्र पहनकर, तीसरे को किसी अन्य व्यक्ति के पास छोड़कर, प्रस्थान न करे।

(ख) यदि चीवर बनाने के लिए वस्त्र कम पड़ रहा हो तो और वस्त्र पाने की प्रतीक्षा में कोई भिक्षु कठिन' के कृत्य के पश्चात् एक मास से अधिक अपने पास उस वस्त्र को न रखे।

(ग) कोई भिक्षु अपने मैले वस्त्रों को किसी ऐसी भिक्षुणी से न धुलवाए जिससे उसका कोई निकट का नाता न हो। विनिमय के अतिरिक्त अन्य किसी अवस्था में वह किसी भिक्षुणी का दिया हुआ वस्त्र स्वीकार भी न करे।

(घ) कोई भिक्षु किसी ऐसे गृहस्थ से वस्त्र अथवा अन्य कोई वस्तु न माँगे जो उसका संबंधी न हो। परंतु अत्यावश्यक होने पर, अर्थात् ऐसी स्थिति में जब उसका वस्त्र या कोई अन्य वस्तु खो गई या चोरी चली गई हो, अपवादस्वरूप वह अन्य गृहस्थ से भी माँग सकता है, पर प्रतिबंध यह है कि दो वस्त्र (अंतरवासक और उत्तरासंग) से अधिक न माँगे।

उपनंद भिक्खु ने धर्म-प्रवक्ता के रूप में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की और उनके बहुत से उपासक हो गए, जिनमें अनेक संपन्न गृहस्थ थे। उन उपासकों से उन्हें प्रचुर वस्त्र एवं धन प्राप्त हुआ। ऐसी स्थितियों के लिए बुद्ध ने ये नियम बनाए--

(क) यदि कोई गृहस्थ किसी भिक्षु को वस्त्र दान करना चाहे तो भिक्षु उससे किसी विशेष प्रकार के वस्त्र के लिए अपनी इच्छा न प्रकट करे।

(ख) यदि किसी भिक्षु के वस्त्र बनवाने के लिए कोई गृहस्थ दर्जी को वस्त्र या रुपए दे और दर्जी नियत समय पर वस्त्र सीकर न दे तो वह भिक्षु अधिक से अधिक छः बार तक उस दर्जी के पास जा सकता है, परंतु वह दर्जी से कुछ कहे नहीं, केवल जाकर

चुपचाप उसके पास खडा हो जाय। यदि फिर भी वस्त्र न प्राप्त हो तो भिक्षु को वस्त्र वा रुपए दर्जी से वापस ले लेने के लिए इसकी सूचना दाता गृहस्थ को दे देनी चाहिए। जब वस्त्र दर्जी को सीने के लिए दिया जाय तो भिक्षु को उससे यह नही कहना चाहिए कि वस्त्र इतने लंबे या चौडे हो, या सफाई से सिए जायँ, इत्यादि।

भिक्षुओं के लिए आसनी बनाने मे रेशम का प्रयोग निषिद्ध था। यदि आसनी भेड के ऊन की हो तो उसमे आधा ऊन काला, एक चौथाई सफेद और एक चौथाई भूरा होना चाहिए। एक आसनी का उपयोग कम-से-कम छ वर्ष तक करना आवश्यक था। आसनी और चटाई बनाने के विषय मे ऐसे और भी कई अनुदेश दिए गए है।

सावत्थी मे बनाए इस खड के अन्य नियम इस प्रकार है—

(क) कोई भिक्षु वस्तुओ के क्रय-विक्रय का कार्य न करे, न अपने हाथ से सोने और चाँदी का स्पर्श करे।

(ख) कोई भिक्षु अपने पास अतिरिक्त भिक्षापात्र दस दिन से अधिक न रखे, न तब तक अपना भिक्षापात्र बदले जब तक कम-से-कम पाँच बार उसकी मरम्मत न हो चुकी हो।

(ग) कोई भिक्षु एक सप्ताह से अधिक अपने पास चिकित्सा की सामग्री सचित न करे।

पचम खड मे पाचित्तिय के ९२ नियम है, जिनके अनुसार भिक्षु को दोषमुक्त होने के लिए भिक्षु-पचायत के सामने अपना अपराध स्वीकार करना चाहिए। इनमें से अस्सी नियम सावत्थी तथा उत्तर प्रदेश के अन्य स्थानो मे बनाए गए थे।

हत्थक भिक्षु ने शास्त्रार्थ मे अन्य सप्रदायवालो से पार न पाने के कारण असत्य भाषण करना प्रारभ किया। बुद्ध ने इसके लिए हत्थक की भर्त्सना की और यह नियम बनाया कि जान-बूझकर असत्य भाषण करना पाचित्तिय अपराध है। अन्य विभिन्न अवसरो पर उन्होंने और भी कई नियम बनाए, जैसे भिक्षु किसी की निदा न करे और वह भिक्षु के अतिरिक्त अन्य किसी के पास दो रात से अधिक शयन न करे।

बुद्ध के एक प्रमुख शिष्य अनुरुद्ध को एक ऐसे स्थान पर सोना पडा जहाँ एक स्त्री थी। उस स्त्री ने उन्हे अपने जाल मे फंसाने का प्रयत्न किया, परतु वह उनके मन को अपनी ओर आकर्षित करने मे असफल रही। अनुरुद्ध ने जब इस घटना की सूचना बुद्ध को दी तो उन्होंने नियम बना दिया कि कोई भिक्षु उस कमरे मे न सोया करे जिसमे कोई स्त्री सोती हो, न वह किसी स्त्री को ऐसा उपदेश दे जिसमे उसे पाँच शब्द से अधिक बोलना पडे।

आलवी और कोसबी मे बुद्ध ने भिक्षुओ को धरती खोदने, पेड काटने और अस्पष्ट वा सदिग्ध भाषण करने का निषेध किया। सावत्थी मे उन्होंने विहार के उपस्करो का उपयोग करने तथा कोसबी मे कुटी छाने के सबध मे कुछ अनुदेश दिए। आलवी मे उन्होने भिक्षुओ को आदेश दिया कि वे असावधानता मे ऐसे जल का उपयोग न करे जिसमे कीडियाँ पड गई हो। सावत्थी और कपिलवत्थु मे उन्होंने भिक्षुओ को सावधान किया कि वे (क) भिक्षुणियो को उपदेश न दे, (ख) भिक्षुणियो को वस्त्र न दे, (ग) भिक्षुणियो से वस्त्र न मिलवाएँ, (घ) एक ही सडक पर वा एक नाव मे भिक्षुणियो के साथ यात्रा न करे और (ड) किसी भिक्षुणी के पास न बैठे। सावत्थी मे उन्होंने इस विषय पर कुछ उपदेश दिए कि भिक्षुओ को क्या और कितना भोजन करना चाहिए और किसी उपासक के घर भोजन करते समय भिक्षुओ के परस्पर क्या कर्तव्य है।

एक बार राजा पसेनदि ने भिक्षुओ को सैनिक योग्या का प्रदर्शन देखते हुए पाया। राजा को यह अनुचित प्रतीत हुआ और उसने बुद्ध को इसकी सूचना दी। तब बुद्ध ने भिक्षुओ का सैनिको से मिलना या सैनिक प्रदर्शन देखना निषिद्ध कर दिया। इस खड के कुछ अन्य नियम ये है—(क) भिक्षुओ को हास-परिहास नही करना चाहिए, (ख) अपने वस्त्रो की पहचान के लिए उनपर रग से कोई चिह्न बना देना चाहिए, (ग) किसी दूसरे भिक्षु के लिए रखे हुए वस्त्रो वा अन्य वस्तुओ का उपयोग नही करना चाहिए, (घ) कोई ऐसा कार्य नही करना चाहिए जिससे किसी भी जीव को कोई कष्ट पहुँचे, चाहे वह जीव कितना ही छोटा क्यो न हो, (ङ) धर्म के उपदेशो तथा विनय के नियमो की, चाहे वे बडे हो या छोटे, तनिक भी अवज्ञा नही करनी चाहिए, (च) आपस मे एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए और (छ) राजा के शयनगृह मे प्रवेश करना वा वहाँ की कोई बहुमूल्य वस्तु छूना नही चाहिए।

षष्ठ खड अर्थात् 'पाटिदेसनिय' के अतर्गत चार नियम है। इनके अनुसार इनमे उल्लिखित अपराधो का करनेवाला भिक्षु उन अपराधो को स्वीकार कर लेने मात्र से दोष-मुक्त कर दिया जाता था। सावत्थी और कपिलवत्थु मे बनाए गए तीन नियमो मे यह उपदेश दिया गया है कि किसी भिक्षु को (क) किसी ऐसी भिक्षुणी के भोजन मे से जिससे उसका कोई नाता न हो, (ख) उस भोजन मे से जो किसी उपासक के घर मे भिक्षुओ के लिए प्रस्तुत किया गया हो, अथवा (ग) उस भोजन मे से जो किसी अरण्य-वासी भिक्षु को किसी उपासक द्वारा दिया गया हो, कोई सामग्री बिना दिए, स्वय अपने हाथ से ग्रहण नही करनी चाहिए।

सप्तम खड अर्थात् 'सेखिय' वा प्रस्तावना मे पछत्तर नियम है। इनमे अपराधो का विवरण नही, प्रत्युत भिक्षुओ की दैनिक जीवनचर्या मे उनके मार्ग-प्रदर्शन के लिए अनुदेश दिए गए है। इनमे से केवल एक को छोडकर शेष सभी नियम सावत्थी मे बनाए गए थे।

आरभ के पचीस नियमो मे भिक्खुओ को यह अनुदेश दिया गया है कि उन्हे गृहस्थो के घरो मे किस प्रकार प्रवेश करना चाहिए। उनके बाद के पैंतीस नियमो (२६–६०) मे उन्हे यह बतलाया गया है कि उन्हे किस प्रकार बिना किसी को अप्रसन्न किए भोजन करना तथा भोजन करने समय एव भोजन के पश्चात् किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। ६१ तथा ६२ सख्यक नियमो मे भिक्षुओ को रोगी के कमरे मे जूते पहिनकर जाने का निषेध किया गया है और ६३ से ७२ तक के नियमो मे उन स्थानो और परिस्थितियो का उल्लेख किया गया है जिनमे उपासको को उपदेश नही देना चाहिए। नियम स० ७४ और ७५ मे हरी घास पर वा जल मे शौचादि करने का निषेध किया गया है।

इस खड मे दिए गए नियमो मे सदाचरण के सबध मे सामान्य अनुदेश दिए गए है, इस कारण इनके उल्लघन के लिए किसी प्रकार के दड का विधान नही किया गया है।

अतिम खड 'अधिकरण-समथ' मे किसी विवाद के निर्णय से सबधित नियम दिए गए है। इन नियमो का निर्माण कोसबी मे हुआ था। बुद्ध ने विनय के नियमो के पालन से सबधित विवादो का निर्णय करने की सात रीतियाँ बतलाई है।

प्रथम (सम्मुखविनय) रीति यह है कि यदि किसी भिक्षु का अन्य भिक्षुओ से किसी विषय पर मतभेद हो तो उसके विषय मे समाधान एव निर्णय के लिए उसे सघ के समक्ष उपस्थित होने अथवा ग्रथो का अवलोकन करने, अथवा अपने विरोधियो का प्रतिवाद करने का आदेश देना चाहिए। द्वितीय रीति 'सति विनय' है, जिसका उपयोग उस अवस्था मे किया जाता है जब किसी भिक्षु पर अन्य भिक्षुओ द्वारा दोषारोपण किया गया हो, किंतु वह कहता हो कि मैंने कोई अपराध नही किया है। ऐसी स्थिति मे भिक्षु को यह प्रख्यापित करने का आदेश दिया जाता है कि 'जहाँ तक मुझे स्मरण है, मै निर्दोष हूँ।' तृतीय अर्थात् 'अमूढ विनय' मे यह विधान है कि अपराधी भिक्षु सघ के समक्ष उपस्थित होकर यह स्वीकार करे कि 'अपराध करने के समय मेरा पुण्य नष्ट हो गया।' चतुर्थ (पतिञ्ञा) मे यह आदेश है कि जिस भिक्षु पर स्पष्ट और निश्चित आधार पर दोषारोप किया गया हो वह अपने अपराध को स्वीकार करे। पचम (येभुय्यासिका) मे यह विधान है कि जिन भिक्षुओ के बीच कोई विवाद उपस्थित हो वे

उस विवाद को भिक्षुओं की बड़ी सभा के समक्ष प्रस्तुत करे और उसका निर्णय मतदान (शलाका) द्वारा किया जाय। षष्ठ (तस्सपापिय्यस्सिका) में ऐसे विषयों पर विचार किया गया है जिनमें कोई भिक्षु पहले तो अपने द्वारा किए गए अपराध को स्वीकार कर लेता है परन्तु पीछे उससे मुकर जाता है। ऐसी अवस्था में संघ को उसे अपराधी घोषित कर समुचित दंड देना चाहिए। अंतिम नियम (तिणवत्थारक) में यह विधान है कि किसी ऐसे अपराध पर जो भिक्षुओं के किसी वर्ग द्वारा किया गया हो, परंतु जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया हो, खुली सभा में विचार न किया जाय।

'भिक्खुणी पातिमोक्ख' में उपर्युल्लिखित प्राय सभी नियमों का समावेश तो किया ही गया है, उसके प्रथम (पाराजिका), द्वितीय (संघादिसेस), पंचम (पाचित्तिय) तथा षष्ठ (पाटिदेसनिय) खंडों में कुछ और नियम भी जोड़ दिए गए हैं। परंतु उन नियमों को इस रूप में रखा गया है कि विशेष रूप से स्त्रियों द्वारा किए गए नियम-भंग के विषयों में उनका प्रयोग किया जा सके।

अध्याय १२

उपगुप्त और अशोक

अभी तक हमने बौद्ध धर्म के अशोक-पूर्व काल के इतिहास तथा उपदेशो का विवरण प्रस्तुत किया है। यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष पश्चात् बौद्ध-सघ थेर-(स्थविर)वाद और महासघिक—इन दो सप्रदायो मे बँट गया। पहला सप्रदाय विशुद्ध प्राचीन बौद्ध विचारो का प्रतिनिधित्व करता था और दूसरा प्रगतिशील विचारो का, जिससे आगे चलकर बौद्ध मत की महायान शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। परतु महायान मत का विकास उत्तर प्रदेश मे नही हुआ। आरभ मे इसका केंद्र दक्षिण मे आध्र देश मे था। पीछे इसके कई केंद्र कश्मीर, गधार और मध्य एशिया मे स्थापित हुए। हाँ, उत्तर प्रदेश मे बौद्ध मत की एक अन्य शाखा का विकास अवश्य हुआ, जिसके सिद्धात विशुद्ध प्राचीन थेरवाद से किचित् भिन्न थे। इसका सिद्धात 'सर्वास्ति-वाद' के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक हीनयानी सप्रदाय था, जो पाली के स्थान पर सस्कृत भाषा का व्यवहार करता था। चीनी तथा यूरोपीय विद्वानो ने इसके सिद्धात को 'यथार्थवाद' कहा है। नागार्जुन, असग और वसुबधु-जैसे प्रसिद्ध महायानी दर्शन-पडितो ने सर्वास्तिवाद की तीव्र आलोचना की। उन्होने इसे 'अ-यथार्थवाद' (शून्यता) एव 'आदर्शवाद' (विज्ञप्तिमात्रता) कहा।

सर्वास्तिवादियो ने आरभ मे मथुरा को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और बाद मे यही से वे गधार, कश्मीर और अत मे मध्य एशिया, चीन तथा अन्य देशो मे गए। सर्वास्तिवादियो द्वारा मथुरा को अपना केंद्र बनाने के सबध मे निम्नलिखित कथा प्रसिद्ध है—

सिहली इतिहासो के अनुसार, सम्राट् अशोक को उनके भतीजे निग्रोध सामणेर ने बौद्धधर्मानुयायी बनाया। बौद्ध होने के पश्चात् सम्राट् उन उच्छृखल ब्राह्मणो से रुष्ट हो गए जिन्हे उनके पिता के समय से ही राजप्रासाद मे प्रतिदिन भोजन कराया जाता था और उन ब्राह्मणो के स्थान पर उन्होने सदाचारी एव सयमी बौद्ध भिक्षुओं को भोजन कराने की आज्ञा दी। वे उस समय के श्रेष्ठ भिक्षु मोग्गलिपुत्त तिस्स से मिले, जिनसे उन्हे ज्ञात हुआ कि बुद्ध द्वारा दिए गए कुल चौरासी प्रवचन है। तब सम्राट् ने स्थपतियो को अपने साम्राज्य भर मे ८४,००० विहार और स्तूप बनाने की आज्ञा दी

और इस कार्य में उन्होंने अपार धन व्यय किया। उन्होंने स्वयं पाटलिपुत्र में इदगुप्त की देखरेख में अशोकाराम का निर्माण कराया। उन्होंने नागराज महाकाल में बुद्ध की एक मूर्ति भी बनवाई। विहारों और स्तूपों के निर्माण का कार्य तीन वर्षों में सपन्न हुआ। जिन-जिन स्थानों को बुद्ध ने अपने चरणों से पवित्र किया था उनमें अशोक ने स्तूपों का निर्माण कराया। यत बौद्ध सघ को दिए गए अपने इन मुक्तहस्त दानों से सम्राट् सघ के दाता ('दायक') बन सके, 'दायाद' नहीं, इस कारण उन्होंने अपने पुत्र महिद तथा अपनी पुत्री सघमित्ता को भिक्षु और भिक्षुणी बनने की अनुज्ञा दी और उन्हें सिहल में बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य सौंपा।

इसी समय पाटलिपुत्र के भिक्षुओं में पारस्परिक विवाद और वैमनस्य बहुत बढ गया, जिससे अत्यत क्षब्ध होकर मोग्गलिपुत्त तिस्स नगर छोडकर बाहर चले गए और सात वर्ष तक 'अहोगग' के निकट एक पहाडी पर रहे। पाटलिपुत्र के अशोकाराम में सात वर्ष तक उपोसथ का आयोजन नहीं हो सका। भिक्षुओं में विवाद मूलत इस कारण हुआ कि अशोक के समय में बौद्ध धर्म के कई सप्रदाय हो गए थे और विनय के कुछ नियमों के सबध में उनमें मतभेद हो गया था, जिसके कारण एक सप्रदाय के अनुयायी दूसरे सप्रदायवालों को उतना शुद्ध और पवित्र नहीं मानते थे जितना उपोसथ का आयोजन करनेवालों के लिए होना आवश्यक था, इससे वे एक साथ मिलकर तो उपोसथ कर ही नहीं सकते थे, दूसरी ओर अलग-अलग उपोसथ का आयोजन भी उनके लिए सभव नहीं था, क्योंकि एक ही विहार के भीतर अलग-अलग उपोसथ करने का 'विनय' में निषेध किया गया है। सिहली इतिहासों के अनुसार, इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए अशोक के तत्त्वावधान में भिक्षुओं की एक सभा हुई और थेरवाद (विभज्जवाद) के सिद्धातों और विनय-नियमों को न माननेवाले सभी भिक्षुओं को वह स्थान छोडकर बाहर चले जाने के लिए विवश किया गया। सस्कृत में सुरक्षित अनुश्रुतियों में बौद्ध धर्म-परिषद् के इस अधिवेशन का उल्लेख नहीं है, जिससे प्रकट होता है कि अ-थेरवादियों ने इस परिषद् की साधुता को स्वीकार नहीं किया।

हुएन-सांग (वाटर्स, १, पृ० २६७) ने एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है जिससे इस घटना पर कुछ प्रकाश पडता है। वह अनुश्रुति इस प्रकार है—राजधानी (पाटलिपुत्र) में ५०० अर्हत् और ५०० अन्य भिक्षु (अनर्हत्) थे। अनर्हतों में एक का नाम महादेव था, जो मथुरा का निवासी था। वह 'अत्यत बुद्धिमान्, विद्वान् तथा नाम एव तत्त्व का सूक्ष्म अन्वीक्षक' था। उसे सम्राट् की सहायता प्राप्त थी। अन्य भिक्षुओं ने उसके मतों को चुनौती दी, और उस स्थान को अपने अनुकूल न पाकर

वे वहां से कश्मीर चले गए। पीछे, एक दुष्ट भिक्षु को सहायता देने के कारण अशोक को खेद हुआ और अपनी उस भूल का प्रायश्चित्त उसने कश्मीर में सदाशय भिक्षुओं के लिए विहार बनवाकर किया।

चीनी यात्री हुएन-सांग के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि कुछ भिक्षुओं ने पाटलिपुत्र छोड़कर उत्तर में अपना केंद्र स्थापित किया।

सभी अनुश्रुतियों में बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष पश्चात् मध्यान्तिक के कश्मीर जाने और वहां बौद्धधर्म का प्रचार करने का उल्लेख पाया जाता है।[1] महावंस (अध्याय १२) में भी मज्झन्तिक का उल्लेख है, जिसे अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए गंधार और कश्मीर भेजा था। मध्यान्तिक आनंद का शिष्य तथा सानवासिक का समसामयिक था, जो कि पहले आनंद के जेतवन में रहने के समय उनका 'उपासक' था। तिब्बती भाषा में इस अनुश्रुति का रूप कुछ भिन्न है। उस अनुश्रुति के अनुसार बनारस में मध्यान्तिक की ख्याति बहुत बढ़ गई और उसके पास भिक्षु लोग इतनी अधिक संख्या में एकत्र हो गए कि वहां के लोगों के लिए वे भार हो गए और उन्होंने उनका विरोध किया। तत्पश्चात् मध्यान्तिक अपने शिष्यों के साथ उस स्थान को छोड़कर मथुरा के निकट उशीर गिरि पर चला गया।

सानवासिक भी सर्वास्तिवाद का प्रसिद्ध उपदेशक हुआ और उसके अनेक शिष्य हुए। संभवतः वह मथुरावासियों के आमंत्रण पर वहां यक्षों का उपद्रव रोकने के लिए गया, जो महामारी फैलाकर देश को उजाड़ रहे थे।

मथुरा में बौद्ध धर्म किस प्रकार पहुंचा, इस विषय में मूल सर्वास्तिवाद विनय पिटक में तथा अशोकावदान के चीनी अनुवाद में सुरक्षित अनुश्रुति इस प्रकार है[2]—

भगवान् एक बार शरमंत देश में भ्रमण कर रहे थे। उस देश के विषय में उन्होंने कहा कि यह सर्वप्रथम राज्य (आदि राज्य) है, जिसने अपने लिए राजा (महासम्मत) चुना। भगवान् भ्रमण करते हुए मथुरा पहुंचे, जहां आनंद ने उन्हें उरुमुंड नामक पर्वत पर स्थित एक हरा-भरा वन दिखलाया, जो विशुद्ध नील वर्ण का (नीलनीला) दिखलाई पड़ता था। बुद्ध ने कहा कि मेरे परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष पश्चात् नट और

१. गिलगिट मनुस्क्रिप्ट्स, ३, भाग १—मम वर्ष शतपरिनिर्वृतस्य मध्यन्दिनो नाम भिक्षुर्भविष्यत्यानन्दस्य भिक्षोः सार्द्धविहारी।

२. 'ए-युवोवांग-त्सुआन' (=अशोकावदान), संघभद्र द्वारा ५०६ ई० में अनुवादित। प्रिज़ुलुस्की, 'ला लिजेन्द दे ल एम्पेरर अशोक।

भट नाम के दो धनी भाई यहा नटभट विहार बनवाएँगे, जो शाति (समथ) और अतर्दृष्टि (विपश्यना) की कामना करनेवाले भिक्षुओ के ध्यान के लिए बहुत उपयुक्त स्थान होगा। उसी समय एक गंध के व्यापारी का जन्म होगा, जिसका पुत्र उपगुप्त मेरे ही समान महान् धर्मोपदेशक होगा, केवल उसके शरीर मे बुद्ध के लक्षण न होंगे। वह आनद के शिष्य माध्यन्दिन से दीक्षा ग्रहण करेगा और वह अतिम धर्मोपदेशक होगा। वह अत्यत वृद्ध होकर ससार छोडेगा, जब कि चार अगुल लबी इतनी अधिक लकडियाँ एकत्र हो जायँगी कि उनसे एक १८ हाथ लबी और १२ हाथ चौडी गुफा भर जायगी। वे लकडियाँ उसके वे ही शिष्य एकत्र करेंगे जो अर्हत् होंगे और उन लकडियो का उपयोग उसके शव-दाह के लिए किया जायगा।[1]

जब बुद्ध मथुरा पहुँचे तो वहाँ के ब्राह्मण अप्रसन्न हुए, उन्होंने समझा कि बुद्ध के कारण उनकी प्रतिष्ठा घटेगी। वे अपने नेता नीलभूति के पास गए और उससे बुद्ध को अपशब्द कहने की प्रार्थना की। नीलभूति ने उत्तर दिया कि मेरी जिह्वा कभी असत्य भाषण नही करती, वह बुद्ध के विषय मे सच्ची बात ही कहेगी। सो उसकी जिह्वा से बुद्ध की प्रशंसा के ही शब्द निकले।

कहते है कि बुद्ध ने एक बार मथुरा के विषय मे यह कहा था कि इस स्थान के पाच अवगुण (आदीनवा) है—(१) यहाँ के निवासियो मे उच्च और नीच कुलो का भेद (२) झाडियाँ और काँटे, (३) पत्थर और ककडियाँ, (४) स्त्रियो की बहुलता (५) अनेक मनुष्यो का केवल रात्रि के पिछले प्रहर मे भोजन करना।[2] बौद्ध अनुश्रुतियो से प्रकट होता है कि मथुरा यक्षो का प्रिय स्थान था, जो एक उद्धत जाति थी और वहाँ के निवासियो को कष्ट दिया करती थी। एक बार जब उस देश मे महामारी फैली तो वहाँ के निवासियो ने उस विपत्ति से त्राण पाने के लिए बुद्ध के पास जाकर सहायता की प्रार्थना की। बुद्ध उनकी प्रार्थना स्वीकार कर मथुरा गए। वहाँ वे उस स्थान के उपासको के घरो से भिक्षा माँगकर यक्षो के मुखिया गर्दभ के आँगन मे ही भोजन करते थे।

उनकी प्राय यक्षो से भेट हो जाती थी, जिन्हे उन्होंने अपने वश मे कर लिया

१. यह कथा दिव्यावदान (पृ० ३४९) में भी दी हुई है।

२. गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स ३, भाग १, पृ० १४-१५—पञ्चेमे भिक्षव आदीनव मथुरायाम्। कतमे पञ्च? उत्कुल-निकुला स्थाणुकण्टकप्रधाना बहुपाषाणशार्कर कठल्ला उच्चन्द्रभक्ताः प्रचुर मातृग्रामा इति।

बुद्ध की ऐसी शक्ति देखकर वहाँ के निवासियों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उनके अनुरोध पर यक्षों के रहने के लिए कुछ स्थान बनवाना स्वीकार कर लिया। यक्षों ने भी वचन दिया कि भविष्य में वे वहाँ के निवासियों को कष्ट नहीं देंगे।

मथुरा में बुद्ध ओतला होते हुए वैरंभ गए, जहाँ उन्होंने अपने ५०० शिष्यों के साथ वर्षावास किया। उस समय वहाँ दुर्भिक्ष पड़ जाने के कारण उस वर्षा में उन्हें भोजन के लिए बहुत कष्ट सहन करना पड़ा। वैरंभ से वे दक्षिण पंचाल की राजधानी (?) अयोध्या को गए जहाँ वे गंगा-तट पर रहे और वहीं दारुस्कंध सूत्र का व्याख्यान किया। अयोध्या से वे साकेत और वहाँ से श्रावस्ती गए। फिर वहाँ से नगरविंद नामक कोसल के एक ब्राह्मण-ग्राम में गए और अंत में वैशाली।

पाली अनुश्रुति में बुद्ध के मथुरा में किए गए उपर्युक्त कार्यों का एकदम उल्लेख नहीं है यद्यपि कई ग्रंथों में, जिनमें महावग्ग भी है, मथुरा के पश्चिम वेरंज (वैरंभ) नामक स्थान में उनके जाने का वर्णन किया गया है। इससे प्रकट है कि बुद्ध के मथुरा जाने और मथुरा में उपगुप्त तथा कश्मीर में मध्यान्तिक एवं धीनिक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार तथा कनिष्क द्वारा स्तूपों के निर्माण के संबंध में उनके भविष्यवाणी करने की कथा सर्वास्तिवादियों ने अपनी प्राचीनता एवं मौलिकता सिद्ध करने के लिए अपनी ओर से जोड़ ली।

दिव्यावदान (पृ० ३४८) में बुद्ध के मथुरा जाने का समय उनके परिनिर्वाण (परिनिर्वाणकाल समये) के कुछ पहले बताया गया है, जब उन्होंने उपगुप्त के आविर्भाव के विषय में भविष्यवाणी की थी, परंतु इस विवरण में अंतर केवल यह है कि उपगुप्त को बौद्ध-धर्मानुयायी बनाने और दीक्षा देने का श्रेय शाणकवासी नामक एक भिक्षु को दिया गया है। इस संबंध में हमें उपलब्ध साक्ष्यों की भ्रामकता के कारण यह निश्चय करना कुछ कठिन है कि (१) उपगुप्त के आध्यात्मिक गुरु मध्यान्दिन थे अथवा शाणकवासी, (२) क्या मध्यान्दिन और अशोक द्वारा नियुक्त धर्मप्रचारक मज्झन्तिक एक ही थे, तथा (३) क्या शाणकवासी द्वितीय बौद्ध परिषद् के प्रसिद्ध भिक्षु सभूत शानवासी थे? प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद कितने ही भिक्षुओं के एक-से और प्रायः वही नाम रखे जाते थे। इसके कारण प्रायः बहुत भ्रम उत्पन्न हो जाता है, जैसा कि नागार्जुन के नाम के संबंध में। अशोकावदान (चीनी अनुवाद) में कहा गया है कि मध्यान्दिन और शाणकवासी दोनों आनंद के शिष्य थे, जिन्होंने वैशाली में अपने परिनिर्वाण के समय मध्यान्दिन को कश्मीर और [illegible] को मथुरा में जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार करने का आदेश दिया था। यतः मध्यान्दिन का नाम मथुरा की अपेक्षा

कश्मीर में धर्म-प्रचार में अधिक सबद्ध है, इस कारण दिव्यावदान की यह अनुश्रुति अधिक ठीक जान पडती है कि शाणकवासी उपगुप्त के आध्यात्मिक गुरु थे। इस ग्रथ में उनके बौद्ध सघ में प्रविष्ट होने का वर्णन इस प्रकार किया गया है—शाणकवासी उक्त सुगधो के व्यापारी के यहाँ भिक्षा माँगने जाया करते थे। एक दिन वे बिना किसी सामणेर को सग लिए उसके घर गए। यह देखकर उस मसाले के व्यापारी ने उन्हे अपने पुत्रो मे से एक को उनके सामणेर के रूप मे देने का वचन दिया। परतु जब उसके पुत्र उत्पन्न हुए तो पहले दो पुत्रो की बार वह अपने वचन का पालन नही कर सका। जब उसका तीसरा पुत्र उपगुप्त उत्पन्न हुआ तब वह शाणकवासी की और अधिक उपेक्षा नही कर सका और उपगुप्त के बड़े होने पर उसे उनका सामणेर बनने की अनुमति दे दी। जब उपगुप्त अपने घर रहकर अपने पिता के व्यापार मे सहायता करते थे उन दिनो मथुरा की एक वेश्या वासवदत्ता उन पर आसक्त हो गई थी।

उपगुप्त के सभी जीवनचरितो मे वासवदत्ता की कथा को प्रमुख स्थान दिया गया है। कहा गया है कि वासवदत्ता अतीव सुदरी एव प्रसिद्ध वेश्या थी। वह उपगुप्त पर मोहित हो गई, परतु उसके अपनी दासी के द्वारा बार बार सदेश भेजने पर भी उपगुप्त ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नही की और कहला भेजा कि 'अभी तुमसे मेरे मिलने का उपयुक्त समय नही आया है।' एक दिन वासवदत्ता ने कुछ धनी व्यापारियो का, जो विदेशो से आए थे, अपने यहाँ सत्कार किया। यह सूचना पाकर मथुरा के राजा ने उसे दड दिया और उसकी नाक और कान कटवाकर उसे श्मशान पर छोड़वा दिया। इस प्रकार, जब उसका मुख विकृत हो गया और वह पीडा से कराह रही थी, उसी समय उपगुप्त उसके पास पहुँचे। उन्होने उससे कहा कि 'मेरे आने का उपयुक्त समय आ गया है, इस कारण मै तुम्हारे पास आया हूँ'। उन्होने मानव-शरीर के दोषो और उसकी क्षणभगुरता के विषय मे उपदेश देकर उसे सान्त्वना दी। उसे चार सत्यों का प्रथम बार दर्शन हुआ और उसका पूर्व स्वास्थ्य एव रूप पुन प्राप्त हो गया, परतु अब समस्त सासारिक रागो से उसका मन विरक्त हो गया। उसे उपदेश देने के बाद उपगुप्त को भी 'अनागामी' अवस्था प्राप्त हुई।

इस घटना के पश्चात् शाणकवासी ने उपगुप्त को नटभट-वन विहार मे विधिवत् दीक्षा दी और उपगुप्त अर्हत् हो गए।

उपगुप्त ने बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य आरभ किया और बहुत लोगो को बौद्ध बनाया। उनकी अद्भुत व्याख्यान-कुशलता से मार भयभीत हो गया, क्योकि उनके व्याख्यानो मे इतना आकर्षण होता था कि उसके लाख प्रयत्न करने पर भी उनके

श्रोताओं की सख्या बढती ही जाती थी और वह उन्हे रोकने मे असमर्थ रहा। उपगुप्त ने मार को अपने वश मे कर लिया और उससे बुद्ध का दर्शन कराने के लिए कहा। मार ने उनकी इच्छा पूर्ण की और वे बुद्ध के तेजस्वी रूप का दर्शन कर आनद-गद्गद होगा।

इसके पश्चात् उन्हे विदित हुआ कि अशोक की इच्छा बुद्ध के चरणो से पवित्र स्थानो पर स्तूप तथा अन्य स्मारक बनवाने की है और वह उनका परामर्श चाहता है। वे गगा-मार्ग से पाटलिपुत्र गए और अशोक से मिले। उन्होने अशोक को वे सब स्थान बतलाए जो बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओं तथा उनके प्रमुख शिष्यो के परिनिर्वाण से सबधित थे, और उनके सुझाव के अनुसार अशोक ने उन चुने हुए स्थानो पर स्मारक बनवाए।

उपगुप्त ने बहुत लबी आयु पाई और बहुत अधिक सख्या मे लोगो को शिष्य बनाया, जिनमे अनेक अर्हत् हो गए। कहा जाता है कि उनके अर्हत् शिष्यो द्वारा जुटाई हुई छोटी लकडियो की सख्या इतनी अधिक हो गई कि उनसे १८ हाथ लबी और १२ हाथ चौडी एक गुफा भर गई और उन्ही लकडियो से उनके शव-दाह की क्रिया सपन्न हुई।

तारानाथ के अनुसार उपगुप्त ने धीतिक को अपना उत्तराधिकारी चुना। धीतिक उज्जैनी के एक धनी ब्राह्मण का पुत्र था। उसने सकल ब्राह्मण-शास्त्रो का अध्ययन किया और उसके ५०० ब्राह्मण शिष्य हो गए। वह बडी साधु प्रकृति का था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् वह परिव्राजक हो गया और मथुरा मे जाकर उपगुप्त से मिला। उपगुप्त के व्याख्यानो से वह बहुत प्रभावित हुआ और उनका शिष्य हो गया। कुछ समय के पश्चात् उसने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की और बौद्ध धर्म के उपदेशो का प्रचार कश्मीर और गधार तक किया, जहा उस समय मेनाडर राज्य करता था, जो उसका उपासक हो गया। बौद्ध धर्म मे राजा मेनाडर की आस्था का वर्णन 'मिलिन्दपञ्ह' नामक पाली ग्रथ मे स्पष्ट रूप से किया गया है।

बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी सप्रदाय मे उपगुप्त का स्थान बहुत ऊँचा था और कई अवदानो मे उनके जीवनवृत्त का विस्तार से वर्णन किया गया है। 'शृगभेरी' और 'व्रतावदानमाला' जैसे बहुत बाद के ग्रथो के लेखक ने उपगुप्त को उन ग्रथो मे वर्णित धार्मिक विधियो और कृत्यो का प्रतिपादक बताया है, जिसका उद्देश्य स्पष्टत उन ग्रथो को अधिक प्रामाणिक बतलाना था। किंतु अवदानो मे उपगुप्त को किसी ग्रंथ के प्रणयन का श्रेय प्रदान नही किया गया है। केवल 'अभिधर्मकोश-व्याख्या' (२,४४) में उनके 'नेतृपदशास्त्र' ग्रथ का कर्ता होने का उल्लेख इस विवाद के प्रसग मे किया गया है कि क्या तथागत को निर्वितर्क समाधि (निरोध-समापत्ति) उस समय प्राप्त हुई जब

वे बोधिसत्त्व के रूप मे अपनी साधना वा अभ्यास की अवस्था (शैक्ष) मे थे, और उसके पश्चात् उन्हे यह ज्ञान हुआ कि 'यह हमारा अतिम जीवन है' (क्षयज्ञान) अथवा निरोध-समापत्ति और क्षयज्ञान दोनो ही, एक दूसरे के बाद तुरत, उन्हे उनके अतिम जीवन मे प्राप्त हुए, जब कि उन्हे बोधि-प्राप्ति हुई। प्रथम मत पाश्चात्य (अर्थात् गधार के) सर्वास्तिवादियो और वैभाषिको का था, और द्वितीय उपगुप्त का, जिसे उन्होने अपने 'नेतृपदशास्त्र' मे व्यक्त किया। उपगुप्त के इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि वे अवश्य बडे विद्वान् भिक्षु तथा अनेक ग्रथो के कर्ता थे और उनके विचारो का आदर मथुरा के सर्वास्तिवादियो और वैभाषिको के समान होता था। वाटर्स ने अपने 'युवान च्वाग' नामक ग्रथ (१, पृ० २२६–७) मे लिखा है कि महासघिको, धर्मगुप्तो, महिशासको, काश्यपीयो और सर्वास्तिवादियो के पाच विनय-ग्रथ उपगुप्त के ही पाच शिष्यो द्वारा सपादित किए गए थे। किंतु इस कथन की प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त साक्ष्य नही है। फिर भी प्राप्त साक्ष्यो से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि उपगुप्त केवल एक बहुश्रुत धर्म-प्रवक्ता ही नही, अपितु मथुरा के बौद्ध वैभाषिक सप्रदाय के एक प्रतिष्ठित ग्रथकर्ता भी थे।

अध्याय १३

उत्तर प्रदेश मे सर्वास्तिवादी और सम्मितीय

उत्तर प्रदेश मे प्राक्कालीन बौद्ध धर्म के दो सप्रदायो का प्रचार हुआ—एक सर्वास्तिवाद का और दूसरे सम्मितीय सप्रदाय का, जिसमे वात्सिपुत्रीय (वज्जिपुत्तक) भी थे। सर्वास्तिवादियो का मुख्य केंद्र मथुरा मे था और ईसवीय प्रथम से चतुर्थ वा पचम शताब्दी तक के प्रारभिक काल मे सम्मितीयो की अपेक्षा इनका प्रचार अधिक हुआ। सम्मितीयो की उन्नति दूसरी या तीसरी शताब्दी मे प्रारभ हुई और मथुरा तथा अन्य स्थानो मे अपने सिद्धातो का प्रचार करने मे वे सर्वास्तिवादियो से प्रतियोगिता करने लगे। भारतीय-शक (इडो-सीथियन) काल के प्राचीनतम अभिलेखो से विदित होता है कि उस समय सर्वास्तिवादियो का, विशेषत मथुरा मे, प्राधान्य था, सम्मितीयो का स्थान उनकी अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण था। परतु बाद के अभिलेखो से पता चलता है कि ई० चतुर्थ शताब्दी से सम्मितीयो के अनुयायियो की सख्या बढने लगी थी, यहाँ तक कि हर्षवर्धन के राज्य-काल मे उनका प्रचार अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया।

सर्वास्तिवाद

पिछले अध्याय मे यह दिखलाया जा चुका है कि अशोक के राज्य-काल मे पाटलिपुत्र मे क्या मगध भर मे, सर्वास्तिवादियो के अनुकूल परिस्थिति नहीं थी, अत वे उत्तर मे चले गए। उन्होने दो केंद्र स्थापित किए—एक कश्मीर मे आचार्य मध्यान्तिक के नेतृत्व मे, दूसरा मथुरा मे आचार्य उपगुप्त के नेतृत्व मे। मध्यान्तिक स्वय आनद के शिष्य थे और उपगुप्त आनद के एक अन्य शिष्य शानवासिक के। अत सर्वास्तिवादी लोग आनद को अपना प्रथम गुरु कह सकते है, परतु तिब्बती अनुश्रुतियो के अनुसार सर्वास्तिवादी सप्रदाय की स्थापना करनेवाले आचार्य राहुलभद्र थे, जो क्षत्रिय जाति के थे और "विनय मे अपनी श्रद्धा के लिए प्रसिद्ध थे"। अभिधर्मकोश-व्याख्या (पृ० ७१४, ७१९) मे स्थविर राहुल नाम के एक आचार्य का उल्लेख है।

बौद्ध धर्म के मूल सप्रदाय स्थविरवाद से एक शाखा के रूप मे सर्वास्तिवाद के अलग होने का विवरण सिंहली इतिहासो में इस प्रकार दिया है—बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात्

एक सौ वर्ष तक बौद्ध धर्म का केवल एक ही सम्प्रदाय था—थेरवाद (स्थविरवाद)। द्वितीय धर्म-परिषद् के पश्चात् उसके दो विभाग हो गए—थेरवाद और महासंघिक। ये दोनों भी कई शाखाओं में विभक्त हो गए। थेरवाद की बारह शाखाएं हुई और महासंघिक की छ। थेरवादियों की पहले दो शाखाएं हुई—महिसासक और वज्जि-पुत्तक (वात्सीपुत्रीय)। इन्हीं महिसासकों से सब्बत्थिवादियों (सर्वास्तिवादियों) की शाखा निकली। द्वितीय धर्म-परिषद् के अवसर पर उपगुप्त के गुरु शानवासिक ने थेरवादियों का पक्ष लिया था और जब वे बहुत वृद्ध हो गए तब मथुरा में उपगुप्त को दीक्षा दी थी, अतः सर्वास्तिवाद का उदय-काल बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग १५० वर्ष बाद माना जाना चाहिए। इसका समर्थन सिंहली इतिहासों में दिए गए इन सम्प्रदायों के आनुक्रमिक विवरण से भी होता है। वसुमित्र के 'समयभेदोपरचन चक्र' (तिब्बती भाषा में) के अनुसार स्थविरवाद से सर्वास्तिवाद शाखा की उत्पत्ति बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् तीसरी शताब्दी में हुई। इस अनुश्रुति का समर्थन भव्य, धर्मत्रिग और विनीतदेव (ई० आठवीं शती) तथा 'वर्षाग्रपरिपृच्छासूत्र' के कर्ता द्वारा भी होता है। धर्मत्रिग बौद्ध संघ के चार प्रधान सम्प्रदायों की चर्चा करता है, जिनमें एक सर्वास्तिवाद था और अन्य तीन थे स्थविर, सम्मितीय और महासांघिक। सर्वास्तिवाद का सिद्धान्त, विशेषतः 'ज्ञान-प्रस्थान सूत्र' में कात्यायनीपुत्र की स्थापना, यह है कि पदार्थों का अस्तित्व अतीत, वर्तमान एवं भविष्य—तीनों कालों में रहता है। इस सिद्धान्त का खंडन 'कथावत्थु'के कर्ता मोग्गलिपुत्त तिस्स ने किया। इस ग्रंथ का रचना-काल अशोक के राज्य-काल में हुई तृतीय धर्म-परिषद् के समय माना जाता है। संभवतः सर्वास्तिवाद के सिद्धान्त के इस खंडन के कारण ही अशोक ने स्थविरवादियों का पक्ष-पोषण किया, जिनके नेता मोग्गलिपुत्त तिस्स थे, और इसी कारण सर्वास्तिवादियों का कश्मीर की ओर पलायन हुआ।

ई० दूसरी और चौथी शताब्दी के बीच के कुछ ऐसे शिलालेख उपलब्ध हैं जिनमें पेशावर, कश्मीर, मथुरा, श्रावस्ती, बलोचिस्तान और बनारस (सारनाथ) में सर्वास्तिवादियों का रहना प्रमाणित होता है। इन स्थानों में से तीन उत्तर प्रदेश में हैं। इन स्थानों में पाए गए शिलालेखों में से जो सबसे प्राचीन (ई० पूर्व प्रथम शताब्दी का) है वह मथुरा में पाया गया था। इस लेख से ज्ञात होता है कि—

(क) अन्य लोगों के साथ महाक्षत्रप राजुल की रानी, राजकुमार खरोष्ट की कन्या, नड दियाक की माता, द्वारा इस स्थान पर जो पवित्र सीमा (नि सीम) के ठीक

बाहर है, भगवान् शाक्यमुनि बुद्ध की अस्थिया स्थापित की गई, सिंह-शिखर वाला एक शिलास्तंभ खड़ा किया गया और एक संघाराम बनवाया गया, चारों दिशाओं के (विशेषत) सर्वास्तिवादी भिक्षुओं के लिए।

(ख) महाक्षत्रप राजुल के पुत्र क्षत्रप शोडास के राज्यकाल में, आचार्य बुद्धदेव के शिष्य उदय के द्वारा, राजकुमार खरनस्स और मज के अनुमोदन से, एक गुहा-विहार दान किया गया, नगरक के बुद्धिल को , सर्वास्तिवादी भिक्षुओं के स्वीकारार्थ।

(ग) क्षत्रप शोडास के राज्य-काल में, कुछ भूमि दान की गई नगरक के आचार्य बुद्धिल को, जिन्होंने महासंघिकों के तर्कों को खंडित कर दिया। बुद्ध, धर्म और संघ को तथा शक देश के शकों को नमस्कार। ....

उपर्युक्त शिलालेख स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित करता है कि प्राचीन शक शासक बौद्ध धर्म के, विशेषत सर्वास्तिवादियों के, समर्थक थे जिनका एक केंद्र उस समय मथुरा में था। बुद्धिल ने, जो एक सर्वास्तिवादी आचार्य थे, दार्शनिक शास्त्रार्थों में महासंघिकों को परास्त करनेवाले एक विशिष्ट तार्किक के रूप में बड़ा यश कमाया होगा और विशिष्ट व्यक्तियों से बहुत दान प्राप्त किया होगा। बुद्धदेव नाम के एक अन्य आचार्य का भी उल्लेख पाया जाता है। महेत-महेत में एक मिट्टी का ठप्पा पाया गया है जिसके अक्षर कुछ मिट गए हैं। उसपर उत्तरकालीन गुप्त लिपि में 'बुद्धदेव' नाम खुदा है (आ०स०रि० १९०३–४, पृ० १२८)। यशोमित्र ने अपनी कोश-व्याख्या (५,२३, १,१२) में स्थविर बुद्धदेव को सर्वास्तिवाद के सिद्धांतों के लिए प्रमाण मानकर उनका उल्लेख किया है और बतलाया है कि उनके एक पूर्ववर्ती आचार्य स्थविर नागसेन थे, जो राजा मेनांडर के समकालीन थे। बुद्धदेव ने सर्वास्तिवाद के सिद्धांत की व्याख्या यों की कि 'सापेक्ष सत्ता के रूप में (अन्यथान्यथात्व) सबका अस्तित्व है (सर्वास्तित्व)।'[1] शिलालेख में उल्लिखित बुद्धदेव को यशोमित्र द्वारा उल्लिखित आचार्य बुद्धदेव मानना भ्रम-शून्य नहीं हो सकता, क्योंकि बौद्ध भिक्षुओं में एक-से नाम रखने की सामान्य प्रथा थी।

मथुरा में एक और शिलालेख (बौद्ध मूर्ति-लेख) हुविष्क के समय (१११ ई०) का है, जिसमें बोधिसत्व की मूर्ति के दो भिक्षुणियों द्वारा प्रतिष्ठापित किए जाने का उल्लेख है। ये दोनों भिक्षुणियां त्रिपिटकाचार्य भिक्षु बल की शिष्याएं थीं और उनमें से एक भिक्षुणी, धनवती, त्रिपिटक के एक दूसरे आचार्य भिक्षु बुद्धमित्र की भानजी

१. कोश-व्याख्या (जापानी संस्करण), पृ० ४७०।

थी। इस लेख में स्पष्टत सिद्धार्थ गौतम की बोधि-प्राप्ति के पहले की मूर्ति का उल्लेख है, न कि महायानी मूर्ति का, क्योंकि भिक्षुणी के गुरु को 'त्रिपिटक' कहा गया है जो केवल हीनयानियों की उपाधि है। बल सर्वास्तिवादी थे, यह श्रावस्ती में पाए गए दो अन्य शिलालेखों से भी सिद्ध होता है, जिनमें एक तो प्रस्तर का छत्र-दंड है, और दूसरा कनिष्क का मूर्तिलेख, जिसमें भी वही पाठ है। कनिष्क के राज्य-काल (७८-१०१ ई०) में पुण्यबुद्धि के शिष्य एवं त्रिपिटक के आचार्य भिक्षु बल के द्वारा एक बोधिसत्व की मूर्ति तथा एक छत्र एवं दंड का दान किया गया था और ये दोनों वस्तुएँ कौशाबी-कुटी की परिक्रमा (चक्रम) में प्रतिष्ठित की गई थीं, जो कि जेतवनाराम का एक भाग था और जिसमें संभवत बुद्ध उस समय रहते थे जब उन्होंने कौशाबी के झगड़ालू भिक्षुओं को चेतावनी दी थी। ऐसा ही एक दान सारनाथ में पुण्यबुद्धि के शिष्य भिक्षु बल द्वारा किया गया था (देखिए आगे अध्याय १६, पृ० २८८)। दान की वस्तुएँ चक्रम में प्रतिष्ठित की गई थीं, जिसका उपयोग भगवान् बुद्ध (ध्यान के लिए) किया करते थे। ये वस्तुएँ भिक्षु बल द्वारा दान की गई थीं, जो अपने पुण्यों को अपने माता-पिता, शिष्यों, छात्रों, बुद्धमित्र नाम के एक अन्य त्रिपिटकाचार्य भिक्षु तथा क्षत्रप वनस्पर एवं खरपल्लान के साथ बँटाना चाहते थे। बुद्धमित्र और बल, दोनों सर्वास्तिवादी थे, अत इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कनिष्क के राज्य-काल में सारनाथ में भी कुछ सर्वास्तिवादी रहते थे। जगतसिंह-स्तूप के दक्षिण ओर पत्थर के सोपान की सबसे ऊपरी सीढ़ी पर यह लेख खुदा हुआ पाया गया था—'आचार्याना सर्वास्तिवादिना परिग्रह'। डा० फोगल इस लेख को ई० दूसरी शताब्दी का ठहराते हैं।[1] यह लेख 'मुख्य मंदिर की दक्षिण परिक्रमा में पुराने स्तूप के चारों ओर की वेष्टनी' पर दोहराया गया है। सारनाथ के अशोक-स्तंभ पर का दूसरा लेख, जिसमें राजा अश्वघोष का नाम आया है, संभवत सर्वास्ति-वादियों के निमित्त था जिनका नाम उसमें दुर्भाग्यवश मिट गया है। उसी स्तंभ पर के तीसरे लेख का पाठ इस प्रकार है—'आ (चा) र्याना स(म्मि) तियाना परिग्रह [illegible]'[2] सर्वास्तिवाद और सम्मितीय, दोनों संप्रदायों के इन उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ई० दूसरी शताब्दी तक सारनाथ में सर्वास्ति-वादियों का प्राधान्य था, उसके बाद वहाँ सम्मितीयों का प्रभाव बढ़ गया। दोनों

१. आ० स० रि०, १९०७-८, पृ० ७३।
२. साहनी, सारनाथ संग्रहालय की सूची, पृ० ३०-३१।

सप्रदायों के लोग कुछ समय तक वहाँ साथ-साथ रहे होंगे, परन्तु यह निश्चित है कि हुएन-साग के समय तक सर्वास्तिवादी उस स्थान को छोड़ चुके थे और वहाँ केवल सम्मितीय सप्रदाय के भिक्षु रह गए थे।

शुद्ध पाली[1] में कुषाण-काल का लेख यहाँ पाए जाने से यह निष्कर्ष निकलता है कि बहुत प्राचीन काल से, सभवत सर्वास्तिवादियों का प्रभाव जमने के पहले, यहाँ स्थविरवादी भी रहते थे।

हर्षवर्धन के कुछ काल पश्चात् सम्मितीयों का भी महत्त्व नष्ट हो गया और उनके स्थान पर महायानी प्रतिष्ठित हो गए।

एक दूसरा लेख मानकुअर (जिला इलाहाबाद) से पाया गया है। यह लेख कुमारगुप्त प्रथम के समय (४४८ ई०) का है। इसके अनुसार बुद्ध की एक मूर्ति भिक्षु बुद्धमित्र के द्वारा प्रतिष्ठापित की गई थी। परमार्थ ने लिखा है कि वसुबंधु के गुरु बुद्धमित्र थे। तंजुर (जिल्द ९, पृ० ३२) में बुद्धमित्र का नाम आता है जिन्होंने बुद्ध के परिनिर्वाण के आठ सौ वर्ष बाद स्थविर भूतिक के साथ मिलकर बुद्ध-वचनों का सग्रह किया था। अपनी वसुबंधु की कालसीमासा (सीरी ओरिएण्टल, रोम, १९५१) में फ्राउवालनर की प्रवृत्ति मानकुअर लेखवाले बुद्धमित्र को वसुबंधु का गुरु बुद्धमित्र मानने के पक्ष में है।

कुछ ऐसे लेख भी हैं, जिनमें मथुरा और सारनाथ में सर्वास्तिवादियों के साथ-साथ सम्मितीयों और महासघिकों के अनुयायियों के रहने का उल्लेख है।

उपर्युक्त शिलालेखों के साक्ष्यों के अतिरिक्त चीनी यात्रियों, विशेषत हुएन-साग और इत्सिंग के अभिलेख भी उपस्थित किए जा सकते हैं। फाहियान ने बौद्ध धर्म के साप्रदायिक विकास की ओर ध्यान नहीं दिया परन्तु हुएन-साग ने तीन बड़े सप्रदायों—सम्मितीय, सर्वास्तिवादी और महासघिक को विशेष रूप से लक्ष्य किया। इन तीनों में से सर्वास्तिवादियों के सबध में वह लिखता है कि ५००

१. पाली लेख इस प्रकार है—

(१) **चत्तारिमानि भिक्खवे अरिय सच्चानि**

(२) **कतमानि चत्तारि दुक्खं भिक्खवे अरियसच्च।**

(३) **दुक्ख समुदयो अरियसच्चं दुक्खनिरोहो अरियसच्च।**

(४) **दुक्खनिरोध गामिनि च पटिपदा अरियसच्च।**

२. शीफनेर, तारानाथ, पृ० २९९।

मे अधिक विहारो मे उनके १६,००० भिक्षु रहते थे जो सपूर्ण मध्यएशिया (काशगर, अक्षु, कुचा), उत्तर अफगानिस्तान, और मध्यदेश मे गगातट पर, उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व मे लेकर भारत के धुर उत्तर-पश्चिम तक बिखरे हुए थे। उत्तर प्रदेश के भीतर उसने सर्वास्तिवादियो के केवल तीन विहारो का उल्लेख किया है—एक कन्नौज मे, जिसमे ५०० भिक्षु रहते थे, दूसरा हयमुख (प्रयाग के निकट) मे, जिसमे २०० भिक्षु थे, और तीसरा वाराणसी मे, जिसमे २००० भिक्षु निवास करते थे। उसने पर्यात्र (मथुरा के निकट), थानेश्वर (स्थानेश्वर), गोविशन (सकाश्य के निकट), प्रयाग और कोशाबी के भिक्षुओ को केवल हीनयानी लिखा है, जिनमे सर्वास्तिवादी भी रहे होगे। मथुरा, कन्नौज और अयोध्या के भिक्षुओ के सबध मे वह लिखता है कि उनमे हीनयानी और महायानी दोनो थे। इत्सिग ने बौद्ध सप्रदायो के भौगोलिक विस्तार की चर्चा बहुत साधारण रीति से की है। वह लिखता है कि मगध के अधिकाश भिक्षु और उत्तर भारत के प्राय सभी बौद्ध मूलसर्वास्तिवादी थे, जिनके अनुयायी जावा, सुमात्रा, चंपा और दक्षिण चीन मे भी फैले हुए थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ई० दूसरी से सातवी तक की पांच शताब्दियो मे सर्वास्तिवादी सुदूर उत्तर-पश्चिम कश्मीर, गधार, उड्डीयान और कपिशा मे तथा गगा की घाटी मे विद्यमान थे। बहुत सभव है कि छठी शताब्दी के हूण आक्रमण ने सर्वास्तिवादियो को मध्यभारत की ओर ढकेला। तारानाथ ने लिखा है कि पालो के समय (९वी-१०वी शताब्दी) मे अनेक बौद्ध सप्रदायो का लोप हो गया और केवल छ बच रहे, जिनमे एक मूलसर्वास्तिवादियो का था। उपर्युक्त सभी साक्ष्यो से यह प्रमाणित होता है कि सर्वास्तिवादी, जिनमे उनके उत्तरकालीन रूप मूलसर्वास्तिवादी भी गिन लिए गए है, ई० पू० तीसरी शताब्दी से ई० दसवी शताब्दी तक उत्तर प्रदेश तथा अन्य स्थानो मे बराबर बने रहे।

सर्वास्तिवाद त्रिपिटक

थेरवादियो के पाली त्रिपिटक के अनुरूप सर्वास्तिवादियो का अपना सपूर्ण त्रिपिटक, सस्कृत मे लिखा हुआ था। सूत्र और विनय पिटकों के कुछ अश तथा सपूर्ण प्रातिमोक्ष सूत्र मध्य एशिया मे भोजपत्र पर प्राचीन गुप्त लिपि मे लिखे हुए पाए गए है।[1] वी० ए०

१. हार्नले के 'मैनुस्क्रिप्ट्स रिमेन्स इन ईस्टर्न तुर्किस्तान' के अनुसार।

स्मिथ और डब्ल्यू० होय को सस्कृत मे ईंटो पर लिखे हुए बौद्ध सूत्र ई० २५०–४०० के गोपालपुर के खँडहरो मे प्राप्त हुए थे।[1] यशोमित्र की अभिधर्मकोश-व्याख्या मे उदायि सूत्र (पृ० १६४)[2], महाचुड सूत्र (पृ० ३५३), ब्रह्मजाल सूत्र (पृ० ४२०) और भिक्षुणी-विनय (पृ० ३७४) जैसे सस्कृत त्रिपिटक के कुछ उद्धरण दिए गए है। इसी प्रकार कुछ उद्धरण कमलशील की तत्त्वसग्रह-व्याख्या मे भी दिए गए है।

ये अश तथा उद्धरण असदिग्ध रूप से यह सिद्ध करते है कि पाली सुत्त-पिटक के पाँच निकायो के समकक्ष सर्वास्तिवादियो के सस्कृत सूत्रपिटक के भी पाँचो भाग—दीर्घागम, मध्यमागम, सयुक्तागम एकोत्तरागम और क्षुद्रकागम—थे। क्षुद्रकागम तथा पाली खुद्दकनिकाय मे समाविष्ट मूल ग्रथो के नाम भी परस्पर मिलते है, जैसे सुत्तनिपात (अत्थक और पारायण), उदानवर्ग, धर्मपद, स्थविरगाथा (गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स ३ मे प्रकाशित), विमानवस्तु और बुद्धवश। त्रिपिटक का चीनी अनुवाद पूर्णतया सर्वास्तिवादियो के इसी सस्कृत त्रिपिटक के आधार पर हुआ था। अकानुमा के 'कपरेटिव कैटेलॉग आव चाइनीज आगमज एण्ड पाली निकायज' (चीनी आगमो और पाली निकायो की तुलनात्मक सूची) मे यह दिखलाया गया है कि सस्कृत आगमो और पाली निकायो मे बहुत साम्य है, विशेषत प्रथम और द्वितीय आगमो तथा निकायो मे (तृतीय और चतुर्थ मे कुछ अतर है)। चीनी 'दीर्घागम' मे तीस सूत्र है और पाली 'दीघ निकाय' मे चौतीस, परतु दोनो मे सूत्रो के क्रम मे बहुत अतर है। इसी प्रकार चीनी 'मध्यमागम' मे २२२ सूत्र है, जिनमे से १३३ पाली 'मज्झिमनिकाय' मे मिलते है परतु शेष मे से अधिकाश 'अगुत्तर' मे और कुछ अन्य तीन निकायो से लेकर जोड़े गए है।

चीनी 'सयुक्तागम' और पाली 'सयुत्तनिकाय' मे पर्याप्त अतर है। चीनी रूपातर मे पचाग गुच्छक (सयुक्तक) है और पाली मे छप्पन, जिनमे से दोनो के केवल छ सयुक्तको मे समानता है। इसमे अगुत्तर निकाय के बहुत से सुत्त सम्मिलित कर लिए गये है। अगुत्तर निकाय के बहुत से सूत्र मध्यमागम और सयुक्तागम मे सम्मिलित कर लिए जाने के कारण चीनी एकोत्तरागम बहुत छोटा हो गया है, फिर भी दोनो के विषयो मे कुछ समानता पाई जाती है। प्रोफेसर सिलवाँ लेवी ने चीनी एकोत्तरागम (जापानी सस्करण, भाग १३, १०३ बी०—१०६ ए०) के कुछ अशो की पाली अगुत्तर-

१. ज० रॉ० ए० सो०, बगाल १८९६, पृ० ९९१।
२. पृष्ठ संख्याएँ जापानी संस्करण की है।

निकाय से तुलना की है' और अनुलिखित सूत्र उन्हें दोनों में समान रूप से मिले हैं—कोकनद सूत्र, अनाथपिंडिक सूत्र, दीर्घनख सूत्र, सरभ सूत्र (अंगुत्तर, भाग ५, पृ० ११९-८, १८५-९, भाग १, पृ० ४९३-५०१, १८५-८), परन्तु परिव्राजकस्थविर सूत्र और ब्राह्मणसत्यानि सूत्र उन्हें पाली निकाय में नहीं मिल सके। इस तुलना से अंगुत्तर निकाय और एकोत्तरागम दोनों के संबंध का स्थूल अनुमान किया जा सकता है।

जहाँ तक विनयपिटक का संबंध है, प्रातिमोक्ष सूत्र तथा 'खंधकों' के कुछ अंश मूल संस्कृत में पाए गए हैं, शेष की जानकारी के लिए हमारा आधार उसका चीनी रूपांतर 'दशाध्याय विनय' है। दोनों की तुलना करने से यह पाया गया है कि दोनों के मुख्य विषयों में बहुत अधिक समानता है। गिलगिट में मूलसर्वास्तिवादियों के 'प्रातिमोक्ष सूत्र' और 'कर्मवाक्य' के साथ विनयपिटक के बड़े भाग (महावग्ग) की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि से 'विनय' के मूल संस्कृत रूप पर बहुत प्रकाश पड़ा है। अब यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि उसके संस्कृत और पाली दोनों रूपों में न केवल मुख्य विषयों में तात्त्विक समानता है, अपितु कहीं-कहीं एक रूप दूसरे पर आधृत जान पड़ता है।

दोनों में मुख्य अंतर यह है कि उनके अध्यायों और अनुच्छेदों के क्रम असमान हैं और संस्कृत 'विनय' में कथाएँ और उपकथाएँ समाविष्ट की गई हैं, जब कि पाली में वे नहीं रखी गई हैं। वस्तुतः 'अवदान', यहाँ तक कि 'स्थविरगाथाएँ' भी महावग्ग के संस्कृत रूपांतर के अविभाज्य अंग हैं। मूल पाली में केवल 'विनय' संबंधी अंश रखे गये हैं, केवल कहीं-कहीं कुछ कथाएँ भी दी गई हैं। 'सुत्तविभंग' में दी हुई कथाओं में मूल पाली तथा संस्कृत में बहुत अंतर है, यद्यपि उन कथाओं के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष वा नियम दोनों में समान हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि थेरवादियों के पाली तथा सर्वास्तिवादियों के संस्कृत अभिधर्मपिटकों का विकास अलग-अलग स्वतंत्र रूप से हुआ। यद्यपि दोनों संप्रदायों के सात ग्रंथ हैं, तथापि उनके नाम और उनकी विवेचन-पद्धतियाँ एक दूसरी से नितांत भिन्न हैं। पाली ग्रंथों में धार्मिक पारिभाषिकों के लिए समानार्थी और अनेकार्थी शब्द देकर तथा उनका वर्गीकरण एवं उपवर्गीकरण करके, उनकी व्याख्या की विचित्र पद्धति अपनाई गई है, परन्तु संस्कृत ग्रंथों में उन पारिभाषिक शब्दों की आलोचनात्मक व्याख्या

१. तौंग पाओ, भाग ५

के साथ-साथ उनका वर्गीकरण किया गया है। दोनों सम्प्रदायों के मानों ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं--

संस्कृत	पाली
(१) आर्य कात्यायनीपुत्र कृत ज्ञानप्रस्थान सूत्र, छ परिशिष्टों सहित	(१) धम्मसंगणी
(२) स्थविर वसुमित्र कृत प्रकरणपाद	(२) विभंग
(३) स्थविर देवशर्मा कृत विज्ञानकाय	(३) यमक
(४) आर्य सारिपुत्र कृत धर्मस्कन्ध	(४) पट्ठान
(५) आर्य मौद्गलायन कृत प्रज्ञप्तिसार	(५) पुग्गलपञ्ञत्ति
(६) पूर्ण कृत धातुकाय	(६) धातुकथा
(७) महाकौष्ठिल कृत संगीति-पर्याय	(७) कथावत्थु

मूल संस्कृत ग्रंथों के लुप्त हो जाने के कारण उनके संबंध में हमारी जानकारी का सर्वोत्तम साधन वसुबंधु का अभिधर्मकोश है जिसके विषय में ग्रंथकार का दावा है कि वह ज्ञानप्रस्थान सूत्र पर कश्मीर में लिखी गई 'विभाषा' नाम की बृहद् व्याख्या का सार है। संस्कृत अभिधर्म पिटक के विषयों का कुछ अनुमान अभिधर्मकोश के अध्यायों से किया जा सकता है जो इस प्रकार हैं--धातु (मानस तथा भौतिक तत्त्व), इंद्रिय (ज्ञानेंद्रियां तथा शरीर की मुख्य क्रिया-शक्तियां जो जीव में शुद्ध एवं अशुद्ध वासनाएँ उत्पन्न करती हैं), लोकधातु (जीवों के लोक एवं उनकी विविध श्रेणियां), कर्म (जीव के कर्म और उनके फल), अनुशय (मानसिक वृत्तियां जो विकार उत्पन्न करती हैं, तथा सर्वास्तिवाद के सिद्धांतों की व्याख्या), आर्यमार्ग (अष्टांग मार्ग), ज्ञान (शुद्ध ज्ञान), ध्यान, पुद्गल (आत्मा के अस्तित्व का खंडन)।[1]

सर्वास्तिवाद-अभिधर्म पर व्याख्या तथा अन्य ग्रंथ लिखनेवाले वसुबंधु के अतिरिक्त अन्य भी कई विद्वान् थे, जैसे--गुणमति, स्थिरमति वसुमित्र, घोषक और यशोमित्र।

वसुबंधु, जान पड़ता है, अयोध्या के गुप्त शासकों की राजधानी हो जाने के बाद अधिकतर वहीं रहते थे। सर्वास्तिवादी बौद्ध धर्म के इतिहास में वसुबंधु ऐसे प्रकांड और अद्भुत व्यक्ति हो गए हैं कि परमार्थ द्वारा लिखित (४१९-५६९ ई०)[2]

१. प्रत्येक ग्रंथ के विषयों के विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य 'अर्ली मोनस्टिक बुद्धिज्म, भाग २, पृ० १३१-१३६।

२. तौंग पाओ म तकाकुसु द्वारा चीनी से अनुवादित (४, पृ० २६९-८६)।

उनका जीवनचरित्र हमारे विचार से अध्ययन के योग्य है। वसुबंधु का जीवनचरित्र इस प्रकार है—

बुद्ध के परिनिर्वाण के छ सौ वर्ष के पश्चात् सर्वास्तिवादी कात्यायनीपुत्र कश्मीर गए और वहां उन्होंने पांच सौ अर्हतों और पांच सौ बोधिसत्त्वों की सहायता से अभिधर्म-पिटक की सामग्री आठ ग्रंथों में संकलित की और बुद्ध के वचनों से उनका मिलान करने के पश्चात् ६०,००० श्लोकों का ज्ञानप्रस्थान सूत्र संगृहीत किया। फिर उन्होंने उसपर एक व्याख्या (विभाषा) लिखवाई। उन्होंने विद्या के निधान, मन एवं राजकवि अश्वघोष को साकेत से कश्मीर बुलाया और 'विभाषा' को साहित्यिक संस्कृत में प्रस्तुत करने का कार्य उन्हें सौंपा। विभाषा को प्रस्तुत करने में बारह वर्ष लगे। ज्ञानप्रस्थान सूत्र के छ परिशिष्टों में से एक, अर्थात् 'विज्ञानकाय', देवशर्मा द्वारा लिखा गया, जो कात्यायनीपुत्र के समसामयिक और साकेत (विशोक) के निवासी थे। सर्वास्तिवाद के सिद्धांतों का प्रतिपादन करनेवाले दूसरे प्रसिद्ध व्यक्ति बुद्धदेव थे, जो संभवतः मथुरा के रहनेवाले थे, जहां के एक शिलालेख में उनका नाम आया है (दे० पूर्व पृष्ठ २१०)। कात्यायनीपुत्र ने कश्मीर के सभी भिक्षुओं के लिए विभाषा को देश के बाहर ले जाने का निषेध कर दिया, जिससे बाहर के लोग उसकी अशुद्ध व्याख्या न करने लग जायं। चार सौ वर्षों तक तो इस निषेध का पालन हुआ, परंतु उसके पश्चात् वसुबंधु, जो उस बृहत्काय ग्रंथ (महाविभाषा) के रहस्यों को जानने के लिए समुत्सुक थे तथा उसके अध्ययन के लिए कश्मीर गए थे, उसको अयोध्या ले आए। कश्मीर में उन्होंने अपने को एक अर्धविक्षिप्त व्यक्ति के रूप में प्रकट किया। वे सभाओं में जाते और विद्वानों से विभाषा के विषय में विचार-विमर्श करते थे। इस प्रकार क्रमशः उन्होंने संपूर्ण विभाषा कंठस्थ कर ली। उसके पश्चात् वे अयोध्या लौट आए और अपने शिष्यों के द्वारा उसे लिपिबद्ध करा दिया। प्रत्येक दिन के व्याख्यान के अंत में वे एक श्लोक रचते थे जिसमें वे उस दिन के व्याख्यान का सारांश निबद्ध कर देते थे। इस प्रकार ६०० श्लोकों का एक ग्रंथ तैयार हो गया। इस ग्रंथ की एक प्रति उन्होंने पचास पौंड सोने के साथ कश्मीर भेजी। कश्मीरी वैभाषिक इस अद्भुत स्मरण-शक्ति और विस्तृत ज्ञान को देखकर दंग रह गए। उन्होंने पचास पौंड और सोना मिलाकर सौ पौंड सोने के साथ उस पुस्तक को वसुबंधु के पास लौटा दिया और उनसे उसपर एक भाष्य रचने की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। परंतु भाष्य लिखने के समय उनके विचारों में कुछ परिवर्तन हो गया था, इसलिए उन्होंने कुछ वैभाषिक सिद्धांतों की सौत्रान्तिक दृष्टि से आलोचना की। इस आलोचना से कश्मीर के संघभद्र

अप्रसन्न हो गए और उन्होंने वसुबंधु के विचारों का खंडन करने के लिए उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की।

वसुबंधु के विस्तृत ज्ञान और अध्ययन तथा उनकी शास्त्रार्थ-निपुणता ने ई० पाँचवी शती के गुप्त शासकों का ध्यान आकर्षित किया। उन्हें उन राजाओं का संरक्षण प्राप्त हुआ और वे तत्कालीन युवराज बालादित्य (नरसिंहगुप्त) के शिक्षक नियुक्त किए गए। उन्हें 'परमार्थसप्ततिका' की रचना के पुरस्कार-स्वरूप महाराज स्कंदगुप्त विक्रमादित्य से तीन लाख स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त हुई। इस ग्रंथ में उन्होंने अपने गुरु बुद्धमित्र की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, बड़ी योग्यता के साथ वर्षगण्य के शिष्य विंध्यावास के 'सत्तर श्लोकों' की आलोचना की, जिनसे बुद्धमित्र शास्त्रार्थ में परास्त हो चुके थे। स्कंदगुप्त से प्राप्त पुरस्कार के धन से वसुबंधु ने अयोध्या में तीन विहार बनवाए—एक भिक्षुणियों के लिए, दूसरा सर्वास्तिवादियों के लिए और तीसरा महायानियों के लिए। उन्होंने एक दूसरा ग्रंथ व्याकरणशास्त्र पर लिखा, जिसमें उन्होंने वसुरात्र से प्रतिशोध लेने के लिए उनके व्याकरण के बत्तीस अध्यायों की आलोचना की। वसुरात्र राजा बालादित्य का मामा था और उसने वसुबंधु की रचनाओं में व्याकरण की त्रुटियाँ निकाली थीं। इस ग्रंथ के लिए उन्हें राजा बालादित्य और उनकी माता से बहुत धन पुरस्कार में प्राप्त हुआ। इस धन से भी उन्होंने तीन विहार बनवाए—एक पेशावर में, दूसरा कश्मीर में और तीसरा अयोध्या में।

वसुबंधु के राजा द्वारा पुरस्कृत होने से वसुरात्र क्रुद्ध हो गया और उसने कश्मीर के संघभद्र को तैयार किया कि वे अयोध्या आकर एक ग्रंथ की रचना करें जिसमें कोश-भाष्य में प्रकट किए गए वसुबंधु के विचारों का खंडन हो। संघभद्र ने दो ग्रंथ 'समय-प्रदीप' और 'न्यायानुसार' लिखे जिनमें वसुबंधु के विचारों पर आक्षेप किया। वसुबंधु उस समय बहुत वृद्ध हो गए थे और उन्होंने उन आक्षेपों का कोई उत्तर नहीं दिया, अपने और संघभद्र के विचारों की सत्यता एवं औचित्य के निर्णय का भार उन्होंने आनेवाली पीढ़ियों पर छोड़ दिया। यहाँ वसुबंधु का जीवनचरित समाप्त हो जाता है। फ्राउवाल्नर के मत से उनके विज्ञानवादी हो जाने की बात संदिग्ध है।

फ्राउवाल्नर के अनुसार, ऊपर जिन वसुबंधु का जीवनचरित दिया गया है वे पेशावरी असंग के भ्राता वसुबंधु से भिन्न हैं। फ्राउवाल्नर ने यह सिद्ध करने के लिए साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं कि असंग के भाई वसुबंधु का जन्म ३२० ई० में और मृत्यु ३८० ई० में हुई थी, परंतु परमार्थसप्ततिका, अभिधर्मकोश और भाष्य के रचयिता वसुबंधु का जन्म-काल ४०० ई० था। उन्हें गुप्त राजा स्कंदगुप्त विक्रमादित्य (४५५—

६७ ई०) का सरक्षण प्राप्त था और वे नरसिहगुप्त बालादित्य के शिक्षक रहे (४६७–७३ ई०)। इन गुप्त राजाओ ने पाटलिपुत्र को छोडकर अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया और वसुबधु ने अपने पुरस्कार के धन से अयोध्या मे चार विहार बनवाए–इन तथ्यो से फाउवालनर के इस मत का समर्थन होता है कि वसुबधु दो थे और बादवाले वसुबधु अभिधर्मकोश के रचयिता थे। वे अयोध्या के निवासी थे और आजीवन सौत्रान्तिक विचारवाले सर्वास्तिवादी बने रहे।

सर्वम्-अस्ति-वाद

कथावत्थु तथा वसुमित्र के सप्रदाय सबधी ग्रथ मे सर्वास्तिवादियो के कई सिद्धात बतलाए गए है,[1] अत हम यहाँ केवल उनके मूल सिद्धात का विवेचन करेगे, जिसका तत्त्व यह है कि 'सभी पदार्थ सत्तावान् है' (सर्व अस्ति), जिसके कारण ही उसका नाम सर्वास्तिवाद हुआ।

थेरवादियो की भाति सर्वास्तिवादियो ने भी सृष्टि के दो भेद किए––'सस्कृत' तथा 'असस्कृत'। सस्कृत सृष्टि सदोष (सास्रव) और अनित्य है। इसमे दृश्य ससार के बाह्य एव आभ्यतर सभी तत्त्व उसमे अतर्भूत है। बाह्य तत्त्वो मे है चार भौतिक तत्त्व (भूत), उनसे उत्पन्न (भौतिक) ज्ञानेंद्रियाँ और उनके तत्-तत् विषय[2] तथा अमानस (अविज्ञप्ति) तत्त्व, जैसे आत्म-सयम (सवर) और असयम (असवर)। आभ्यतर तत्त्व है 'चित्त' एव चित्त की स्थितियाँ (चैतसिक), जो छ वर्गों[3] तथा कुछ

१. द्रष्टव्य 'अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म', भाग २।

२. सू० रूप (११)––
(क) विषय ५ हैं––रूप, शब्द, गध, रस, स्पर्श;
(ख) इंद्रियाँ ५ हैं––चक्षुरिंद्रिय, श्रोत्रेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय, जिह्वेंद्रिय, कायेंद्रिय;
(ग) अविज्ञप्ति––१; (द्रष्ट० अभिधर्मकोश, ४।३९)।

३. चित्त १; चैतसिक ४६, जो इस प्रकार हैं––

(क) महाभूमिक––१०

(१) वेदना, (२) संज्ञा, (३) चेतना, (४) स्पर्श, (५) छंद, (६) मति या प्रज्ञा, (७) स्मृति, (८) मनस्कार, (९) अधिमोक्ष, (१०) समाधि।

(ख) कुशल महाभूमिक––१०

(१) श्रद्धा, (२) वीर्य, (३) उपेक्षा, (४) ह्री, (५) अपत्रप्य,

मनोवृत्तियों में विभक्त हैं, किंतु वे मन में असबद्ध (चित्तविप्रयुक्त) हैं। चित्तविप्रयुक्त चौदह प्रकार के हैं।'

असंस्कृत पदार्थ शुद्ध (अनास्रव) एवं 'नित्य' हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) आकाश, (२) प्रतिसंख्या निरोध (ज्ञान द्वारा मुक्ति वा निर्वाण), और (३) अप्रतिसंख्या निरोध (बिना ज्ञान मुक्ति वा निर्वाण)।

'सर्वम् अस्ति' में [illegible] का तात्पर्य यह है कि पदार्थ त्रिकाल-सत् हैं, अर्थात् अतीत, वर्तमान, भविष्य—तीनों कालों में उनका अस्तित्व रहता है। वे यह नहीं मानते कि दृश्य पदार्थ अथवा उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व नित्य-सत्तावान् हैं, क्योंकि वे तो निश्चित रूप से अनित्य हैं, यद्यपि मृगमरीचिका वा आकाशकुसुम की भाँति अस्तित्वहीन नहीं हैं। सांसारिक पदार्थों की अनित्यता के ज्ञान तथा उनसे अपने मन को पूर्ण रूप से निःसंग कर लेने से ही साधक अपने निरंतर बननेवाले संस्कारों के प्रवाह

(६) अलोभ, (७) अद्वेष, (८) अहिंसा, (९) प्रश्रब्धि, (१०) अप्रमाद।

(ग) क्लेश महाभूमिक—६

(१) मोह, (२) प्रमाद, (३) कौसीद्य, (४) अश्रद्धा, (५) स्त्यान, (६) औद्धत्य।

(घ) अकुशल महाभूमिक—२

(१) अह्रीकता, (२) अनपत्रप्य।

(ङ) उपक्लेश महाभूमिक—१०

(१) क्रोध, (२) म्रक्ष, (३) मात्सर्य, (४) ईर्ष्या, (५) प्रमाद, (६) विहिंसा, (७) उपनह, (८) माया, (९) मथ्य, (१०) मद।

(च) अनियत भूमिक—८

(१) कौकृत्य, (२) मिद्ध, (३) विर्तक, (४) विचार, (५) राग, (६) प्रतिघ, (७) मान, (८) विचिकित्सा।

१. चित्त विप्रयुक्त १४ हैं—

(१) प्राप्ति, (२) अप्राप्ति, (३) सभागत, (४) असंज्ञिक, (५) असंज्ञि समापत्ति, (६) निरोध समापत्ति, (७) जीविति, (८) जाति, (९) स्थिति, (१०) जरा, (११) अनित्यता, (१२) नामकाय, (१३) पदकाय, (१४) व्यंजन काय।

को रोककर पूर्ण मोक्ष (निरोध—निर्वाण) प्राप्त कर सकता है। अत स्पष्ट है कि 'सर्वम् अस्ति'का अर्थ सर्वास्तिवादियो की दृष्टि से यह नही है कि 'सब पदार्थ नित्य है।' सर्वास्तिवादी शाश्वतवादी नही है, जिनका सिद्धात बुद्ध द्वारा सर्वथा अस्वीकृत था।

'सर्वम् अस्ति' वाक्य के द्वारा सर्वास्तिवादी केवल यह विचार व्यक्त करना चाहते है कि समस्त पदार्थ अतीत, वर्तमान एव भविष्य तीनो कालो मे वर्तमान रहते है। वे यह नही मानते कि जो पदार्थ विगत (वा नष्ट) हो जाता है उसके अस्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है, क्योकि उनके कथनानुसार यद्यपि उस पदार्थ पर ज्ञानेद्रियो की क्रिया नही होती तथापि मन को उसका ज्ञान बना रहता है, क्योकि केवल विगत पदार्थ ही मन के विषय होते है। जिस क्षण आखे कोई वस्तु देखती है उसी क्षण उनका कार्य समाप्त हो जाता है। वे उस वस्तु का सस्कार मन पर डाल देती है और मन मे उसकी धारणा और स्मृति बनी रहती है। अतीत वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करना पडेगा, अन्यथा मन की क्रिया ही नही हो सकती (पण्णा अनन्तरातीत विज्ञान यद्धि तन्मन - कोश, १।१७)। यह सिद्ध बात है कि मन बिना किसी आधार वा विषय के नही रह सकता, उसे कोई आधार अवश्य चाहिए (चित्त सालम्बनम्)। यदि यह सत्य है तो इसका यह निष्कर्ष निकला कि जहाँ तक मन का सबध है, अतीत पदार्थ का अस्तित्व बना रहता है, अन्यथा मन का ही अस्तित्व नही माना जायगा। इसके अतिरिक्त बुद्ध का भी भौतिक तत्त्वो (रूप) के विषय मे कथन है कि उनमे अतीत, वर्तमान एव भविष्य के भी तत्त्वो का अनर्भाव है (यत्किचिद्रप अतीतानागत-प्रत्युत्पन्न इति)।[1] अत इस कथन के आधार पर भी सर्वास्तिवादी यह दावा करते है कि पदार्थो का अस्तित्व अतीत, वर्तमान, भविष्य—तीनो कालो मे रहता है। फिर, बुद्ध ने अपने शिष्यो को अतीत एव भविष्य की वस्तुओ मे अपने मन को निःसग करने का उपदेश दिया था। इससे भी विदित है कि अतीत और भविष्य मे पदार्थों का अस्तित्व रहता है, अन्यथा बुद्ध ऐसा उपदेश क्यो देते? यदि अतीत और भविष्य की वस्तुओ का मृग-मरीचिका वा आकाश-कुसुम की भाति कोई अस्तित्व ही न होता तो उनसे अपने मन को निःसग करने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता न होती, क्योकि मृगमरीचिका वा आकाश-कुसुम से निःसग होने की बात कोई नही सोचता। इन तर्कों के द्वारा सर्वास्ति-

१. रूप अनित्य अतीतानागतं कः पुनर्वादः प्रत्युत्पन्नस्य। एवंदर्शी श्रुतवानार्य-श्रावकोऽतीते रूपेनपेक्षो भवति, अनागतं रूपं नाभिनन्दति प्रत्युत्पन्नस्य रूपस्य निर्वेदे विरागाय निरोधाय प्रतिपन्नो भवति (संयुक्तकागम ३।१४; कोश, ५।२५)।

वादी यह सिद्ध करते हैं कि यद्यपि समस्त पदार्थ अनित्य है, तथापि अतीत, वर्तमान, भविष्य—तीनों कालों में उनका अस्तित्व रहता है। परंतु सर्वास्तिवादी व्याख्याकारों में इस विषय पर आपस में ही मतभेद था और उन्होंने पदार्थों की त्रिकालसत्ता की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की।

(१) धर्मजात का कथन है कि पदार्थ वही रहते हैं, केवल उनकी अवस्था में परिवर्तन (भावान्यथात्व) होता है, अर्थात् उनका 'रूप और गुण' बदल जाता है, जिससे उनके संबंध में अतीत, वर्तमान, भविष्य आदि भिन्न-भिन्न धारणाएँ उत्पन्न होती हैं। जब कोई वस्तु नवीन अवस्था को प्राप्त होती है अर्थात् नवीन रूप-गुण धारण करती है तब वह 'उत्पन्न' होती है, और जब वह उनका त्याग करती है तब वह 'नष्ट' हो जाती है। उन्होंने इसकी पुष्टि के लिए स्वर्ण और उससे निर्मित अलंकारों का तथा क्षीर और दधि का दृष्टांत दिया है और कहा है कि स्वर्ण और क्षीर तत्त्व वही रहते हैं, परंतु किसी अन्य पदार्थ के संयोग वा वियोग से उनके रूप और गुण में परिवर्तन हो जाता है। इन अवस्था-भेदों वा नाम-गुण के परिवर्तनों को अतीत, वर्तमान, और भविष्य तथा उत्पत्ति और विनाश आदि कहा गया है। कोई वस्तु अपनी भावी 'अवस्था वा रूप एवं गुण' को त्याग देती है तब वह वर्तमान 'अवस्था' को प्राप्त होती है। इसी प्रकार अपनी वर्तमान 'अवस्था' को छोड़कर वह अतीत 'अवस्था' को प्राप्त होती है। यदि ऐसा न होता तो भविष्य, वर्तमान एवं अतीत वस्तुएँ एक दूसरी से सर्वथा भिन्न होतीं।

वसुबंधु ने इस मत को सांख्य के परिणामवाद के तुल्य कहकर इसकी आलोचना की है, परंतु उन्होंने सांख्य और धर्मत्रात के मतों में इस मौलिक अंतर को स्वीकार किया है कि सांख्य तो नित्य प्रकृति की सत्ता को मानता है, किंतु धर्मत्रात ने सांसारिक पदार्थों की सत्ता को अनित्य ही माना है।

(२) घोषक का कथन है कि प्रत्येक गोचर पदार्थ के तीन लक्षण होते हैं—जन्म, जरा, मरण, और ये तीनों उस पदार्थ के साथ सर्वकाल में विद्यमान रहते हैं। जब शिशु का जन्म होता है, जब स्तन से दूध दुहा जाता है अथवा जब सोने से आभूषण बनाया जाता है तो उसके अन्य दो लक्षण जरा और मरण उसके साथ-साथ रहते हैं, जो वस्तुतः उस शिशु, दूध वा सोने में सुप्त भाव से पहले ही से विद्यमान थे। वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) का लक्षण घोषक ने पदार्थ के वास्तविक उपयोग वा विनियोग (समुदाचार) को बतलाया है और भूत और भविष्य का लक्षण उसकी प्राप्यता वा 'प्राप्ति' को। किसी पदार्थ के आरंभ को ही उसका 'जन्म' वा 'वर्तमान' कहते हैं, और अन्य दो

अर्थात् जरा और मरण जो अभी अनागत वा आनेवाले है, उसके भविष्य है। जब बालक वृद्ध हो जाता है, अथवा दूध जमकर दही बन जाता है, अथवा स्वर्ण का आभूषण घिस जाता है, तो उसकी जरा वर्तमान हो जाती है, उसका जन्म अतीत हो जाता है और उसका मरण वा विनाश भविष्य हो जाता है। इस तर्क के द्वारा घोषक ने लक्षणों की परिवर्तनशीलता (लक्षणान्यथात्व) सिद्ध की है। धर्मत्रात ने पदार्थ और उसकी अवस्थाओं—रूप और गुण (द्रव्य और भाव)—पर अलग-अलग विचार किया है, परन्तु घोषक दोनों को अविच्छेद्य मानते है।

घोषक यह युक्ति देते है कि यदि तीनों लक्षण साथ-साथ न रहें, पूर्ण रूप से पृथक् कर दिए जायँ (वियुक्त स्यात्), तो वर्तमान कभी अतीत, अथवा भविष्य कभी वर्तमान नहीं हो सकता। अत उनका यह निष्कर्ष है कि तीनों काल-लक्षण साथ-साथ विद्यमान रहते है। वे यह दृष्टात देते है कि जब कोई पुरुष किसी स्त्री मे अनुरक्त होता है तो वह अन्य स्त्रियों से पूर्णतया विरक्त नहीं होता। उसका अनुराग उनके मतानुसार वास्तविक विनियोग (समुदाचार) है और अन्य स्त्रियों मे उसके अनुरक्त होने की सभावना 'प्राप्ति' है।

वसुबधु ने उपर्युक्त मत को काल का सम्मिश्रण वा सकर (अध्वसकर) कहकर उसकी आलोचना की है। उनका कथन है कि अतीत पदार्थ वा लक्षण को वर्तमान और भविष्य के लक्षणों से युक्त समझना भ्रम है। घोषक प्रकारातर से तीन काल-लक्षणों को एक ही पदार्थ मे मानते है जो सर्वथा तर्क-विरुद्ध है, क्योंकि एक पदार्थ मे केवल एक ही काल-लक्षण हो सकता है।

फिर, 'प्राप्ति' का प्रश्न जीवधारियों (सत्त्वाख्य) के प्रसग मे उठ भी सकता है, परन्तु निर्जीव पदार्थों (असत्त्वाख्य) पर वह लाग नहीं हो सकता, क्योंकि घट अपनी कठोरता को 'प्राप्त' नहीं करता।

(३) 'परिपृच्छा', 'पचवस्तुक' तथा अन्य ग्रथों के रचयिता[1] वसुमित्र (ई० पहली शताब्दी) का कथन है कि पदार्थों का अस्तित्व भूत, वर्तमान, भविष्य—तीनों कालों मे रहता है, और उनके तत्त्व अथवा रूप और गुण मे, अथवा उनके लक्षणों मे कोई परिवर्तन नहीं होता, जैसा कि धर्मत्रात और घोषक का मत है। वसुमित्र के मत के अनुसार पदार्थों के अतीतत्व, वर्तमानत्व एव भविष्यत्व का निर्धारण (अवस्थान्यथात्व) कार्य वा क्रियाशीलता (कारित्र) के द्वारा होता है। जब क्रिया होती रहती है,

१. अभिधर्मकोश (जापानी स०), पृ० १६७।

जैसे जब आखे किसी वस्तु को उसके तात्कालिक तत्त्व, रूप, गुण वा लक्षणो के साथ देखने का काम करती रहती है, तो उसे 'वर्तमान' कहते है, इसी प्रकार जब आँखो का वह कार्य बद हो जाता है अर्थात् जब आखो का उस पदार्थ को देखने का कार्य समाप्त हो जाता है तब वह पदार्थ 'अतीत' हो जाता है। इसी प्रकार, जब किसी पदार्थ के विषय मे क्रिया होनेवाली होती है तो उसे भविष्य कहते है। दूसरे शब्दो मे, सभी पदार्थों मे तीनो काल-तत्त्व साथ-साथ रहते है और क्रिया अथवा कर्म के द्वारा ही उन पदार्थों के काल वा स्वभाव का निश्चय होता है (अध्वान कारित्रेन व्यवस्थिता)। यदि तीनो काल-तत्त्व सहवर्ती न होते तो अतीत और भविष्य का शश-शृग के समान कही पता न होता। वसुमित्र के मत मे अतीत और भविष्य न भ्रम है और न मिथ्या (अस्तित्वहीन)। अत सभी गोचर पदार्थों का अस्तित्व तीनो कालो मे रहता ही है। उन्होने इसके लिए शून्य तथा गणित की सख्याओ मे उसके स्थानीय मान का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार १ के पहले रखने मे शून्य का कोई मूल्य नही होता, परतु जब उसे १ के बाद रखा जाता है तो उस अक का मूल्य १० हो जाता है, उसी प्रकार से किसी पदार्थ के अतीत, वर्तमान वा भविष्य होने का निर्णय उसकी क्रिया द्वारा होता है।

उपर्युक्त तीन व्याख्याओ मे से वसुबधु ने वसुमित्र के मत को श्रेष्ठ माना है, परतु उसे सदोष भी बतलाया है। वसुबधु का तर्क यह है कि सर्वास्तिवाद के सिद्धात के अनुसार 'कारित्र' का अस्तित्व भी पदार्थ के साथ-साथ तीनो कालो मे होना चाहिए, उसे पदार्थ से पृथक् नही किया जा सकता। अवियोज्य धर्म होने के कारण कारित्र मे अतीत, वर्तमान और भविष्य का भेद नही किया जा सकता। कारित्र इस कारण भी पदार्थ (धर्म) से भिन्न नही माना जा सकता कि सर्वास्तिवादियो के मत के अनुसार धर्मो के अतिरिक्त और कुछ है ही नही। जब कारित्र पदार्थ से अभिन्न है तो अतीतत्व, वर्तमानत्व और भविष्यत्व का निर्धारक नही हो सकता।

वसुबधु सर्वास्तिवाद के सिद्धातो के पूर्ण समर्थक नही है। यहा उन्होने वसुमित्र की आलोचना सौत्रातिक दृष्टि से की है।

(४) एक चतुर्थ मत बुद्धदेव ने उपस्थित किया है, जिनका उल्लेख शिलालेखो मे हुआ है (दे० पूर्व० पृ० २०५)। बुद्धदेव का कथन है कि गोचर पदार्थों का अस्तित्व सब काल मे रहता है, उनके 'अतीत', 'वर्तमान' और 'भविष्य' विशेषण सापेक्ष है (अन्यथान्यथिकत्व)। वसुमित्र की भाँति इनका भी धर्मत्रात और घोषक के इस मत से ऐक्य नही है कि पदार्थों के रूप और गुण मे अथवा काल-लक्षणो मे परिवर्तन होता है। इनका कथन है कि पदार्थ सब कालो मे वही रहते है, परतु वे भविष्य कहे जाते है अपने

अतीत एव वर्तमान अस्तित्व की अपेक्षा से और वर्तमान कहे जाते है अपने अतीत एव भावी अस्तित्व की अपेक्षा से। इसी प्रकार वे अतीत कहे जाते है अपने वर्तमान एव भविष्य अस्तित्व की अपेक्षा से। किसी पदार्थ के लिए अतीत, वर्तमान और भविष्य विशेषण का प्रयोग उस पदार्थ की सापेक्ष सत्ता पर निर्भर है। बुद्धदेव ने इसके समर्थन मे एक स्त्री का दृष्टात दिया है जो अपने पिता के सबध मे कन्या भी है और पुत्र के सबध मे माता भी। अत मे बुद्धदेव का यही निष्कर्ष है कि प्रत्येक पदार्थ मे तीनो काल-लक्षण एक साथ विद्यमान रहते है, केवल एक काल-लक्षण की अपेक्षा वा सबध से ही दूसरे काल-लक्षण का पृथक् निर्देश किया जाता है। यह कुछ इसी प्रकार का कथन है कि एक ही पदार्थ वर्तमान मे दही, अतीत मे दूध और भविष्य में मक्खन होता है। जिस पदार्थ का पूर्वकालिक अस्तित्व ज्ञात है किंतु उत्तरकालिक अस्तित्व अज्ञात है, उसे 'भविष्य' कहते है; पुन, ऐसे पदार्थ को जिसका पूर्व-कालिक एव उत्तरकालिक अस्तित्व ज्ञात है, 'वर्तमान' कहते है। पुनरेव, जिस पदार्थ का उत्तरकालिक अस्तित्व ज्ञात है किंतु पूर्वकालिक अस्तित्व अविदित है, उसे अतीत कहते है। इस प्रकार बुद्धदेव तीनो कालो की सत्ता (त्रिकालमत्) स्थापित करते है।

वसुबधु इस मत का खडन यह कहकर करते है कि बुद्धदेव के मत के अनुसार तीन काल-लक्षण एक हो जाते है (एकस्मिन्नेवाध्वनि त्रयोऽध्वान प्राप्नुवन्तीति), जो अमान्य है।

(२) सम्मितीय (वात्सीपुत्रीय)

जैसा पहले कहा जा चुका है, द्वितीय परिषद् के कुछ काल पश्चात् थेरवादियो की दो शाखाएँ हो गई—महीसासक और वज्जिपुत्तक। उसके कुछ ही दशको के बाद महीसासको की दो उपशाखाएँ हुई—धर्मगुप्त और सर्वास्तिवादी, तथा वज्जिपुत्तक भी चार उपशाखाओ मे विभक्त हो गए, जिनमे एक सम्मितीयो की थी। अन्य अनु-श्रुतियाँ भी इनकी उत्पत्ति का यही क्रम मानती है, जिससे सम्मितीयो और सर्वास्ति-वादियो का समय लगभग एक ही पड जाता है। अत इन दोनो का आरभ-काल बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग डेढ-दो सौ वर्ष पश्चात् मानना चाहिए। विनीतदेव के कथना-नुसार सम्मितीयो की तीन शाखाएँ हुई—कुरुकुल्लक, आवन्तक, वात्सीपुत्रीय। सम्मितीयो के सिद्धान्त वज्जिपुत्तको से इतने मिलते-जुलते थे कि 'कथावत्थु' के व्याख्या-कार ने लिखा है कि सम्मितीयो और वज्जिपुत्तको तथा कई अन्य बौद्धेतर मतो के आत्म-

सिद्धान्त (पुग्गलवाद) एक ही है। सस्कृत[1] अनुश्रुतियो मे भी आत्मा, उसके मध्य-कालीन जीवन (अन्तरा-भव) और उसके पुनर्जन्म पर विचार करते समय वात्सी-पुत्रियो और सम्मितीयो[2] को एक ही मान लिया गया है। सारनाथ शिलालेख मे भी सम्मितीय वात्सीपुत्रियो के साथ मिला दिए गए है। सभवत पीछे वे इसी नाम से अधिक प्रसिद्ध हो गए थे।

सस्कृत तथा पाली अनुश्रुतियो के अनुसार सम्मितीयो का आरभ-काल ई० पू० तीसरी शती के लगभग है। केवल दो शिलालेख ई० दूसरी और चौथी शती के है जिनसे मथुरा और सारनाथ मे उनका रहना प्रमाणित होता है। इन दोनो मे अधिक प्राचीन मथुरा का पाँचवाँ शिलापट्ट-लेख है[3] जिसमे धर्मक के शिष्य एक भिक्षु द्वारा बोधिसत्त्व की एक मूर्ति के प्रतिष्ठापन, तथा सिरि विहार के सम्मितीय भिक्षुओ को उसके समर्पण का उल्लेख किया गया है। शिलापट्ट-लेखो मे मथुरा के सिरि-विहार के अति-रिक्त प्रावारिक विहार, सुवर्णकार विहार और चुतक विहार नामके तीन अन्य विहारो का भी उल्लेख है जो महासघिको को समर्पित किए गए थे। ये लेख कुषाण-काल के है, और बहुत सभव है महाराजा हुविष्क के राज्यकाल के हो। ये ब्राह्मी लिपि तथा पाली-सस्कृत-मिश्र भाषा मे लिखे हुए है। मथुरा शिलापट्ट लेख के बाद का लेख जिसमे सम्मितीयो का नाम आया है, सारनाथ के अशोक-स्तभ पर अशोक के लेख तथा एक अन्य लेख के नीचे खुदा हुआ पाया गया था (दे० पूर्व पृ० २०६)। इसमे सम्मितीय आचार्यो को, जिन्हे वात्सीपुत्रीय भी कहते थे, दिए गए एक दान का उल्लेख है, (आचार्याना सम्मितीयाना परिग्रहे वात्सीपुत्रिकाना)[4]। बहुत सभव है कि यह लेख ई० तीसरी या चौथी शती का हो, जब सम्मितीयो ने अपने मत का प्रचार करके बहुत से भिक्षुओ और भिक्षुणियो को अपने मत मे मिलाकर सर्वास्तिवादियो से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी।

सम्मितीय लोगो को प्रधानता मिली हर्षवर्धन के समय (६०६–६४७ ई०) मे, जिसकी बहिन राज्यश्री के विषय मे कहा जाता है कि वह इसी मत की भिक्षुणी हो गई थी। हुएन-साग को इस सप्रदाय के अनेक विहार एव अनुयायी अहिच्छत्र, सकाश्य,

१. कथावत्थु, पृ० ८––के पन पुग्गलवादिनो ति। सासने वज्जिपुत्तका चेव सम्मितीया च बहिद्धा च बहू अञ्ञातितित्थिया।

२. अभिधर्मकोश व्याख्या (जा० सं०), पृ० ६९९––वात्सीपुत्रीय-आर्यसम्मितीयः।

३. एपिग्राफिया इडिका १९, पृ० ६५ तथा आगे।

४. साहनी, सारनाथ संग्रहालय की सूची, पृ० ३०–३१।

हयमुख, विशोक, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वाराणसी, वैशाली, हिरण्य पर्वत, कर्ण सुवर्ण, मालव, वलभी, आनदपुर, सिंध तथा अवन्ती में मिले थे। हुएन-सांग की गणना के अनुसार उस समय १,००० विहारों में लगभग ६५,००० भिक्षु थे, जिनमें सबसे अधिक मालव, वलभी, तथा सिंध एवं गंगा के निचले भागों के आस-पास के प्रदेशों में थे। इत्सिंग लिखता है कि वात्सीपुत्रीयों की सम्मितीय शाखा अन्य सब शाखाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण थी और उसकी ख्याति कई अन्य मतों की अपेक्षा भी अधिक बढ़ गई थी। सम्मितीयों का प्रधान केंद्र मथुरा में था और दूसरा केंद्र गंगा नदी के मुहाने के आस-पास के क्षेत्र में था। तारानाथ ने पालों के समय में (नवीं-दसवीं शताब्दी) छ सम्प्रदायों के होने का समर्थन किया है, जिनमें एक वात्सीपुत्रीयों का था।

सम्मितीयों का मत कई सिद्धांतों के संबंध में अन्य सम्प्रदायवालों से भिन्न था, परन्तु मतभेद का मूल विषय उनका आत्म-सिद्धांत पुद्गलवाद (पुग्गल) था, जिसके कारण उन्हें प्राय पुदगलवादी कहा जाता था।

सिंहली इतिहासकार बुस्तन ने लिखा है कि सम्मितीय लोग अपने सम्प्रदाय का संस्थापक बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य, अवंती के महाकच्चायन को बतलाते थे। उनके वस्त्र थेरवादियों के सदृश होते थे, जो अधिकतर अवंती में रहते थे। अत यह असंभव नहीं है कि सम्मितीय, जिन्हें आवन्तक भी कहते थे, थेरवादियों के साथ अवंती में रहते रहे हों। हुएन-सांग और इत्सिंग के विवरणों से भी सम्मितीयों के अवन्ती में रहने की पुष्टि होती है।

सम्मितीय साहित्य

सम्मितीयों के त्रिपिटक के संबंध में बहुत कम जानकारी प्राप्त हुई है। हुएन-सांग लिखता है कि वह अपने साथ इस मत के सोलह ग्रंथ ले गया था। इसमें संदेह नहीं कि उनका एक अपना विनयपिटक था, जिसका चीनी अनुवाद उपलब्ध है। सूचियों की सूची में सम्मितीय-निकाय-शास्त्र नाम के एक ग्रंथ का उल्लेख है, जिसका विश्वभारती विश्वविद्यालय के श्री आर० वेंकटरमन ने हाल ही में महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों के साथ अनुवाद प्रस्तुत किया है।

पुद्गलवाद

सर्वास्तिवादियों की भांति सम्मितीयों का भी थेरवादियों तथा अन्य मतवालों से कई सिद्धांतों पर मतभेद था। कथावत्थु में इन मतभेदों का विवेचन किया गया है

और भव्य, वसुमित्र एव विनीतदेव द्वारा लिखित सप्रदाय-ग्रथो मे भी उनका उल्लेख है।' सम्मितीयो के पुद्गलवाद से अन्य सप्रदायो के आचार्यों को बहुत बडा धक्का लगा, क्योकि वे इसे बुद्ध के अनात्म-सिद्धात के विरुद्ध होने के कारण अ-बौद्धवत् (सौगत मत्ये) मानते थे। कथावत्थु के रचयिता वसुबधु तथा शातरक्षित-जैसे विद्वानो ने इस मत की कठोर आलोचना की। आत्मा और उसके पुनर्जन्म के सबध मे सम्मितीय-वात्सीपुत्रीयो के ठीक-ठीक विचार क्या थे, इसका पता हमे उक्त आलोचनाओ की गवेषणा से ही लग सकता है, परन्तु सम्मितीयो के विचारो के सबध मे आलोचको मे बहुत-कुछ मतैक्य होने के कारण उनके आत्मा सबधी विचारो का अनुमान करना सभव है, और श्री वेंकटरमण के सम्मितीय-निकाय-शास्त्र के प्रकाशन से हमारा कार्य सरल हो गया है। यहा हम केवल उनके मूल सिद्धात पुद्गलवाद पर ही विचार करेंगे।

सम्मितीय वात्सीपुत्रीयो का कहना है कि बुद्ध पुद्गल का अस्तित्व मानते थे, जो बौद्धेतर मतो के आत्मा की भाँति नित्य एव अपरिवर्तनशील तो नही है, परन्तु जिसका अस्तित्व जीव के स्कधो के साथ तब तक बना रहता है जब तक वह निर्वाण नही प्राप्त कर लेता, जिससे कि उसका सर्वदा के लिए विलोप हो जाता है। वे जानबूझ-कर 'आत्मा' के बदले 'पुद्गल' शब्द का प्रयोग करते थे, जिससे बुद्ध के तीन मूल सिद्धातो (अनात्म, अनित्य, दुक्ख) मे उक्त अनात्म के कारण उसमे कोई भ्रम न उत्पन्न हो। सबसे पहले इस मत की आलोचना 'कथावत्थु' के सकलयिता मोग्गलिपुत्र तिस्स ने की, उसके बाद अभिधर्मकोश के रचयिता वसुबधु तथा उसके व्याख्याकार यशोमित्र ने। शातरक्षित ने भी अपने 'तत्त्वसग्रह' मे पुद्गलवाद की तीव्र आलोचना की, और उनके बाद व्याख्याकार कमलशील ने उनका अनुसरण किया। परन्तु सम्मितीय-निकाय-शास्त्र ने अल्पज्ञ भिक्षुओ की कुछ भ्रात धारणाओ के साथ-साथ बाह्येतर मतो का भी खडन करके पुग्दलवादियो के मत को ठीक बतलाया है।

यहा हम उपर्युक्त आलोचको द्वारा की गई पुद्गलवाद की तीव्र आलोचनाओ को न देकर केवल उस सिद्धात को ही, उन्ही के द्वारा व्यक्त रूप मे, प्रस्तुत करेंगे।

कथावत्थु तथा अन्य ग्रथो मे सम्मितीयो का मत इस प्रकार दिया गया है—

पुद्गलवादियो के मत का आधार बुद्ध के ये वचन है -(१) "एक वह 'पुद्गल' है जो अपने ही स्वार्थ के लिए परिश्रम करता है" (अत्थि पुग्गलो अत्थिताय पटिपन्नो),

१. 'अर्ली बोद्धिस्टिक बुद्धिज्म', २।

और "एक वह 'पुदगल' है जो पुन जन्म लेता है बहुजन के हित और सुख के लिए, ससार के जीवो पर करुणा करने के लिए" (एक पुग्गलो लोके उपज्जयानो उपज्जति बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय, इत्यादि)। बुद्ध के इस प्रकार के वचनो का आश्रय लेकर, सम्मितीय लोग कहते है कि उपर्युक्त वाक्यो मे कहा गया 'पुग्गल' (पुद्गल) कोई भावात्मक वस्तु है, वह न मृगमरीचिका है और न कपोलकल्पना। नव 'निब्बान' की भांति कोई 'अ-सस्कृत' वस्तु है और न भौतिक तत्त्वो (रूप, वेदना इत्यादि) की भाति 'सस्कृत'। 'पुग्गल' कोई नित्य एव सर्वव्यापक सत्ता भी नही है, साराश यह कि वह 'परमार्थत' सत्य नही है। एक ओर तो वह जीव के स्कधो से पृथक् कोई पदार्थ नही है, और इस कारण 'पुग्गल' और स्कधो के बीच आधार-आधेय जैसा किसी प्रकार का सबध स्थापित करना सभव नही है। दूसरी ओर, यद्यपि पुग्गल मे स्कधो के सभी गुण और लक्षण वर्तमान रहते है तथापि वह न तो उनकी भाति कारण और प्रत्यय से उत्पन्न (सहेतु, सपच्चय) होता और न 'निब्बान' की भांति कारण और प्रत्यय से अनुत्पन्न (अहेतु, अपच्चय)। वह न 'सस्कृत' है और न 'अ-सस्कृत'। यद्यपि वह स्कधो से अभिन्न नही है तथापि उसमे स्कधयुक्त (सस्कृत) जीवो की कुछ दशाएँ (जैसे सुख, दु ख) पाई जाती है। उसमे अ-सस्कृत पदार्थ के भी धर्म पाए जाते है, क्योकि वह जन्म, जरा और मरण के अधीन नही है। उसका तभी अत होता है जब जीव को पूर्ण मुक्ति (निर्वाण) प्राप्त हो जाती है।

अभिधर्म-कोश और उसकी व्याख्या मे 'पुग्गल' और स्कधो के सबध की व्याख्या अग्नि और ईधन का दृष्टान्त देकर की गई है। अग्नि तभी तक रहती है जब तक ईधन रहता है, उसी प्रकार 'पुग्गल' तभी तक रहता है जब तक स्कध रहते है। परतु अग्नि और ईधन मे अतर यह है कि अग्नि मे वस्तुओ को जलाने और प्रकाश उत्पन्न करने की शक्ति है किंतु अकेले ईधन मे यह शक्ति नही है। अग्नि और ईधन दोनो सहवर्ती है और पहला दूसरे का आधार है। दोनो एक दूसरे से नितात भिन्न नही है, क्योकि ईधन अग्नि-तत्त्व (तेजस्) से सर्वथा शून्य नही है। यही सबध जीव के पुग्गल का उसके स्कधो के साथ है। सम्मितीय 'भारहार सूत्र' का उद्धरण देकर कहते है कि इसमे 'भार' से तात्पर्य स्कधो से है और उनका वाहक ('हार') 'पुग्गल' है। इस भार का मोचन इच्छाओ, रागो और सासारिक सुखो के त्याग से होता है। इस 'पुग्गल' का नाम होता है, गोत्र होता है, और वह सुख-दु ख का भोक्ता भी है[१]।

१. संयुत्त ३, पृ० २५—कतमो भिक्खवे भारो ?

'भारहारसूत्र' पर विचार करते हुए शातरक्षित और कमलशील ने कहा है कि बुद्ध ने 'पुदगल' शब्द का प्रयोग केवल एक 'प्रज्ञप्ति' के रूप मे किया था। उन्होने स्पष्ट रूप से यह नही कहा कि वह असत् वा अस्तित्वहीन है, क्योकि किसी ने उसके स्व-रूप वा स्व-भाव के विषय मे प्रश्न नही किया। उनके ध्यान मे पाँच स्कधो की समष्टि थी और समष्टि रूप मे पाँचो स्कधो को ही उन्होने 'पुग्गल' कहा था। वह जन्म-मरणहीन है, अत उसका अतीत, वर्तमान और भविष्य भी नही है। वह न नित्य है और न अनित्य। वह वस्तुत अनिर्वचनीय एव अनवधारणीय है। वह स्कधो मे अतर्भूत नही है, परतु वह तभी प्रकट होता है जब सब स्कध वर्तमान हो।

कथावत्थु मे कहा गया है कि सम्मितीयो के मतानुसार उनका 'पुग्गल' रूपधारी (रूपी) मनुष्यो और देवो के लोक मे भौतिक रूप मे रहता है और भौतिक शरीर से हीन (अरूपी) उच्च कोटि के देवो के लोक मे वह अभौतिक रूप मे (अरूपी) रहता है। उनका कथन है कि पुदगल (पुग्गल) प्राणियो के शरीर मे 'सत्त्व' वा 'जीव' का स्थानी है, परतु साथ ही वह शरीर (काय) से न अभिन्न है और न भिन्न, क्योकि बुद्ध शरीर और जीव मे अभेद और भेद दोनो नही मानते थे (न जीव त शरीर अञ्ञ जीव अञ्ञ शरीर)। सम्मितीय लोग बुद्ध के एक अन्य वचन को भी अपना आधार मानते है, जिसे वे अपने प्रवचनो मे प्राय कहा करते थे। वह यह है कि 'स्मृत्युपस्थान का अभ्यास

पंचुपादानक्खन्धा तिस्स वचनीयम्।
कतमे पच? सेय्यथीदं रूपुपादानाक्खधो,
वेदनुपादानाक्खंधो सञ्ञुपादानाक्खधो, सखारुपादानाक्खंधो,
विञ्ञानुपादानाक्खंधो। अयं वुच्चति भिक्खवेभारो
कतमो च भिक्खवे भारहारो?
पुग्गलो तिस्स वचनीयम्। योऽयं
आयस्या एवंनामो एवं गोत्तो। अयं वुच्चति भिक्खवे भारहारो।

तत्त्वसंग्रह में कमलशील ने निम्नलिखित उद्धरण दिया है--

भारहारः कतमः पुद्गलः?
योऽसवायुष्मन्नेवंनामा
एवंजातिः एवंगोत्रो एवमाहार:
एवं सुखदुःखं प्रतिसंवेदी
एवं दीर्घायुरित्यादि।

करते समय भिक्षु को सदा यह ज्ञान रहता है कि उसके शरीर के भीतर क्या हो रहा है (सो काये कायानुपस्सी विहरति)।

उपर्युक्त वचन मे बुद्ध ने 'सो' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है 'वह' अर्थात् 'पुद्गल', जो अपने शरीर की धातुओं और उसके अतर्गत होनेवाली क्रियाओं को देखता रहता है। यह 'सो' केवल प्रज्ञप्तिमात्र नही, प्रत्युत उसमे यहाँ तात्पर्य वस्तुत 'पुग्गल' मे है।

इसके पश्चात् सम्मितीय पुनर्जन्म की समस्या पर विचार करते है। वे यह मानते है कि 'पुग्गल' एक योनि से दूसरी योनि मे प्रवेश करता है, परन्तु उन दोनो योनियो के 'पुग्गल' न एक है, न एक दूसरे से भिन्न। इसका कारण वे यह देते है कि जो मनुष्य सोतापन्न अवस्था को प्राप्त कर लेता है वह इस मर्त्य लोक मे अथवा स्वर्ग मे होनेवाले सभी भविष्य जन्मो मे सोतापन्न बना रहता है। सोतापन्न मनुष्य सोतापन्न देव के रूप मे पुन जन्म ले सकता है, अर्थात् 'सोतापन्नत्व' मे परिवर्तन नही होता, यद्यपि उसके शरीर के स्कध मनुष्य के स्कधो से देव के स्कधो के रूप मे परिवर्तित हो जाते है। 'सोतापन्नत्व' का एक योनि से दूसरी योनि मे चले जाना सभव ही नही है, जब तक कि 'पुग्गल' का अस्तित्व एव स्थायित्व स्वीकार न कर लिया जाय।

उपर्युक्त कथन के समर्थन मे सम्मितीय बुद्ध के निम्नलिखित वचनो का आश्रय लेते है—

(१) (सत) पुरुषो के चार जोडे अथवा आठ (प्रकार के) पुग्गल होते है (सन्ति-चत्तारो पुरिसयुगा अट्ठ पुरिस पुग्गल)। यह वचन बुद्ध के सघ के सबध मे कहा गया है जिसमे ऐसे शिष्य वा भिक्षु होते है जो साधना की प्रारभिक अवस्था (मग्ग) और फलो को प्राप्त करते है। ऐसे 'मग्ग' या फल के चार जोडे होते है, अर्थात् ऐसे मग्ग या फल कुल आठ है। इसमे 'पुग्गल' शब्द को सम्मितीय लोग बहुत महत्त्व देते है।

(२) 'सोतापन्न' को अपने दु खो का अत करने के लिए (निर्वाण प्राप्त करने के लिए) अधिक से अधिक सात बार पुन जन्म लेना पडता है, यह बुद्ध ने अपने इस वचन मे स्पष्ट किया है—"सो सत्तक्खत्तुपरमो सधावितवान पुग्गलो दुक्खस्सन्तकरो होति।" इस कथन मे सम्मितीय लोग "सधावितवान पुग्गलो" (दूसरी योनियो मे जन्म लेनेवाला पुग्गल) पर जोर देते है।

(३) जीव का ससरण-चक्र (ससार) अनादि है। तृष्णापाश मे बंधे हुए जीवो का आरभ अज्ञात है। (अनमतग्गो अय ससारो पुब्बा कोटी न पञ्ञायति सत्तान

तृष्ण-संयोजनानि)। सम्मितीय इसमें 'संसारो' और 'सत्त्व' शब्दों को लेकर उनसे यह तात्पर्य निकालते हैं कि बुद्ध जीव का पुनर्जन्म मानते थे।

(४) बुद्ध प्राय उच्च शक्तियों अथवा ज्ञान (अभिज्ञा) की प्राप्ति के संबंध में चर्चा किया करते थे। उनमें से एक पूर्व जन्म की बातें स्मरण रखने की शक्ति (पुब्बे निवासञाण) भी थी। वे स्वयं भी अपने पूर्व जन्म की बातें बताया करते थे और इस प्रकार की बातें कहा करते थे कि 'जब मैं सुनेत्र था', इत्यादि। इससे भी सम्मितीयों के इस विचार की पुष्टि होती है कि एक ऐसा तत्त्व (पुग्गल) अवश्य है जो कई जन्मों तक बना रहता है और जो पूर्व जन्मों की बातें स्मरण रख सकता है। स्कंधों के लिए पूर्व जन्म की बातें स्मरण रखना संभव नहीं है, क्योंकि उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है और मृत्यु के पश्चात्, एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करते समय तो उनमें अत्यधिक परिवर्तन हो जाता है। सम्मितीयों का कथन है कि 'स्मृति' को स्वीकार करने का अर्थ है 'पुग्गल' के अस्तित्व को भी स्वीकार करना।

सम्मितीयों के कथनानुसार 'पुग्गल' चेतन है, परन्तु वह चित्त वा 'विज्ञान' से, जो जीव के पंचस्कंधों में से एक है, भिन्न है। चित्त वा विज्ञान की भाँति वह क्षणिक भी नहीं है, परन्तु प्रत्येक क्षणिक विचार वा ज्ञान में उसके अस्तित्व का अनुभव किया जा सकता है। नेत्र अपना कार्य कर रहे हों या नहीं, परन्तु पुग्गल 'द्रष्टा' के रूप में अपना कार्य करता रहता है, क्योंकि बुद्ध ने कहा था कि "मैं अपने दिव्य नेत्रों से जीवों का आविर्भाव और तिरोभाव देखता हूं।" इसमें 'मैं' का प्रयोग जिसके लिए हुआ है वही सम्मितीयों का 'पुग्गल' है।

इसके पश्चात् 'पुग्गल' के सार्थक कर्म करने के सामर्थ्य (अर्थक्रियाकारित्व) के विषय में विचार किया गया है। बुद्ध कहते थे कि यह संसार किसी ईश्वर का रचा हुआ (ईश्वरनिर्माण) नहीं है। उनके इस कथन के अनुरूप ही सम्मितीय लोग 'पुग्गल' को स्रष्टा वा कर्ता नहीं मानना चाहते, परन्तु वे कहते हैं कि माता, पिता वा गुरु का 'पुग्गल' एक प्रकार से मनुष्य का स्रष्टा वा कर्ता (कत्ता, कारेता) होता है। 'पुग्गल' का कोई स्वतंत्र कार्य वा मानसिक धर्म (मनन, चिंतन, अनुभव आदि) नहीं होता। वह कर्म-फल का स्वतंत्र भोक्ता भी नहीं है। यद्यपि यह कहा जाता है कि पुग्गल को सुख वा दुःख का अनुभव होता है, परन्तु 'पुग्गल' और 'फल' दो भिन्न पदार्थ नहीं हैं, क्योंकि उन विभिन्न तत्त्वों के समुदाय को, जिनसे यह शरीर बना है, सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता। यदि इस शरीर के भीतर कोई कर्ता वा भोक्ता (कारक, वेदक) हो तो वह कर्म और वेदना से भिन्न नहीं हो सकता। कर्ता कर्म से

न भिन्न है, न अभिन्न। सम्मितीयो का यह कथन विरोधियो के इस तर्क के प्रतिवाद के रूप मे था कि शाश्वत आत्मा की भाँति अर्ध-शाश्वत 'पुग्गल' मे कोई कर्तृत्व वा कारित्व नही हो सकता। कर्तृत्व (अर्थक्रियाकारित्व) तो केवल अनित्य और क्षणिक आत्मा (या उसे जो भी नाम दिया जाय) मे ही हो सकता है।

शातरक्षित ने अपने तत्त्वसग्रह (३३६–३४९) मे लिखा है वात्सीपुत्रीयो का 'पुग्गल' स्कधो से न भिन्न है, न अभिन्न। कमलशील ने अपनी व्याख्या मे कहा है कि वात्सीपुत्रीयो का 'पुद्गल' कर्मों का कर्ता तथा फलो का भोक्ता है। पुनर्जन्म मे वह स्कधो के एक समूह को छोडकर दूसरे समूह को ग्रहण करता है। वह स्कधो से पृथक् नही है, क्योकि ऐसा होने से उसे नित्य मानना पडेगा। वह स्कधो से अभिन्न भी नही है (स्वय स्कध भी नही है), क्योकि उस अवस्था मे उसे एक नही, स्कधो की भाँति अनेक मानना पडेगा। अतएव वह अनिर्वचनीय है। कमलशील की इस व्याख्या का प्रज्ञाकरमति ने अपनी बोधिचर्यावतार की व्याख्या मे समर्थन किया है।

इस प्रसग मे कमलशील ने न्यायवार्तिक (३,१,१) मे की गई उद्योतकर की इस आलोचना पर भी विचार किया है कि यदि आत्मा स्कधो से अभिन्न नही है तो उसकी पृथक् सत्ता माननी ही पडेगी। परन्तु चद्रकीर्ति ने सम्मितीयो के पुद्गलवाद को पूर्णतया निराधार एव त्याज्य नही माना है,[1] प्रत्युत उन्होने यह कहा है कि बुद्ध ने जिस प्रकार पीछे आदर्शवादी सिद्धान्तो (विज्ञानवाद) का उपदेश किया उसी प्रकार उन्होने पुद्गल-वाद को आवश्यक समझकर उसका उपदेश किया।

'सम्मितीय निकाय शास्त्र' (वेकटरमण का अनुवाद) मे आत्मा के सबध मे सभी सभव मतो का उल्लेख कर उनपर विचार किया गया है। उन मतो का सकलन इस प्रकार है (पृ० २१)—

(१) आत्मा सत् नही है।
(२) आत्मा अव्याकृत है।
(३) पचस्कध और आत्मा एक ही है।
(४) पचस्कध और आत्मा भिन्न-भिन्न है।
(५) आत्मा शाश्वत है।
(६) आत्मा अशाश्वत है।
(७) आत्मा सत् है, यद्यपि नित्य नही है।

१. माध्यमिक वृत्ति, पृ० २७६; पृ० १४८ तथा १९२ भी द्रष्टव्य है।

इनमें से अंतिम मत सम्मितीयों का है। इस ग्रंथ में अ-सम्मितीय मतों का संक्षेप में बिना किसी टीका-टिप्पणी के उल्लेख कर दिया गया है, परंतु सम्मितीय मत का पूर्ण रूप से विवेचन और प्रतिपादन किया गया है, जो इस प्रकार है—

(१) पुग्गल पंचस्कंधों से उत्पन्न (निर्मित वा संगठित) है और वह न नित्य है, न अनित्य।

(२) बुद्ध ने आत्मा का अस्वीकार वा अनात्म (अनत्त) सिद्धांत का प्रतिपादन इन भ्रांत मतों के निराकरण के लिए किया था कि आत्मा का आधार मानसिक 'संस्कार' है, अथवा आत्मा शरीर वा पंचस्कंधों से अभिन्न है (शरीर वा पंचस्कंध ही आत्मा है)।

बुद्ध ने अपने शिष्यों को 'मैं' और 'मेरा' (यह 'मैं' हूं, यह 'मेरा' है) की भावना का त्याग करने का उपदेश दिया, क्योंकि उनके मतानुसार यह भावना एक मिथ्या आत्मा (अहं) की धारणा पर आश्रित है, जिसके प्रति सांसारिक मनुष्यों का दृढ़ राग होता है, परंतु उन्होंने उस आत्मा (पुग्गल) का निर्देश नहीं किया जो वस्तुतः राग का विषय हो ही नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त, बुद्ध ने अपने वचनों में 'असत्' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रसंगों में किया था। जैसे, उनका कथन था कि कुछ पदार्थ पूर्णतः (निरपेक्ष रूप से) असत् हैं, जैसे आकाश-कुसुम और शश-शृंग, किंतु कुछ पदार्थ परमार्थतः असत् किंतु व्यवहारतः (सापेक्ष रूप से) सत् हैं, जैसे दीर्घ-ह्रस्व, बीज-वृक्ष। अतएव उनके, आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करने का यह अर्थ नहीं कि उन्होंने 'पुग्गल' के अस्तित्व को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया। पुग्गल को जो कभी-कभी अनिर्वचनीय कहा गया है उसका कारण यह है कि केवल जिन पंचस्कंधों का ही ज्ञान साधारण कोटि के लोगों को हो पाता है उनसे पुग्गल को न भिन्न कहा जा सकता और न अभिन्न। इसके अतिरिक्त यदि पुद्गल को नित्य वा अनित्य, अथवा 'संस्कृत' वा 'असंस्कृत' माना जाय तो वह सत्-वाद और असत्-वाद के दो अंतिम कोटि के मतों में से किसी एक का स्वीकार करना होगा, जिन्हें बुद्ध ने अस्वीकार कर दिया था। अतएव सापेक्ष रूप से पुग्गल की सत्ता बुद्ध को स्वीकार थी।

सम्मितीयों का तर्क है कि यदि पुग्गल को पूर्ण रूप से असत् माना जाय तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि जीव-हिंसा असत् है, हिंसा करनेवाला असत् है, साधना और सिद्धि असत् है और साधक वा भिक्षु भी असत् है, फिर तो बुद्ध भी असत्, उनके उपदेश भी असत्।

इस ग्रंथ में 'भारहार सूत्र' (दे० पूर्व पृ० २२४) का भी उल्लेख और विवेचन किया गया है और उसमें आए हुए 'पुग्गल' शब्द पर जोर दिया गया है। इस सूत्र के आधार पर सम्मितीयों का कथन है कि बुद्ध ने 'भार' और उसके वाहक (हार) अर्थात् उस भार को वहन करनेवाले व्यक्ति (पुग्गल) में भेद किया है। इस सूत्र से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'हार' अर्थात् पुग्गल, 'भार' अर्थात् स्कंधों से अभिन्न नहीं है, प्रत्युत पुग्गल और स्कंध दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। साथ ही, 'भार' और 'हार' दोनों एक-दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते, दोनों अन्योन्याश्रित हैं, इस कारण 'पुग्गल' को स्कंधों से भिन्न वा पृथक् नहीं किया जा सकता।

आगे इस ग्रंथ में यह भी कहा गया है कि ऐसी बात नहीं है कि राग, तृष्णा आदि दोषों को ग्रहण करना वा उनसे अपने को मुक्त करना अकेले 'पुग्गल' का ही काम है, स्कंधों का नहीं। परन्तु इसके साथ ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'पुग्गल' और 'स्कंध' एक दूसरे से न भिन्न हैं और न अभिन्न, क्योंकि बुद्ध जीव और शरीर में न भेद मानते थे और न अभेद (दे० पूर्व पृ० २२५)।

इसके पश्चात् 'पुद्गल' पर तीन पक्षों से विचार किया गया है --

(१) पुद्गल अपने आश्रय के नाम से अभिहित होता है (आश्रयप्रज्ञप्त पुद्गल), अर्थात् कभी-कभी पुद्गल को उसके आश्रय वा आलंबन के आधार पर नाम वा विशेषण दिया जाता है, जैसे अग्नि को उसके ईंधन का नाम वा विशेषण देकर पुकारा जाता है--वन की अग्नि (दावाग्नि), कोयले की अग्नि, इत्यादि। जीवधारियों में उनके 'संस्कार' ईंधन हैं और उनका 'पुद्गल' अग्नि। उस पुद्गल का नाम और गुण उसके संस्कारों के अनुरूप होता है। जीव जिस शरीर को धारण करता है उसी के अनुसार उसका नाम मनुष्य, नाग वा देव होता है। पुद्गल भौतिक शरीर (रूप) को धारण करता है, परन्तु पुद्गल और रूप अन्योन्याश्रित एवं अविच्छेद्य होने के कारण एक ही समय में, एक साथ ही आते और जाते हैं। पता नहीं क्यों, चंद्रकीर्ति ने 'माध्यमिक वृत्ति' में लिखा है (पृ० १९२) कि सम्मितीयों का मत है कि स्कंधों को धारण करनेवाला (पुद्गल) स्कंधों को धारण करने के लिए उनसे पहले ही प्रकट होता है।

(२) संक्रमण-कालीन पुद्गल (संक्रमणप्रज्ञप्त पुद्गल), अर्थात् जब पुद्गल एक योनि से दूसरी योनि में प्रवेश करता है। जिस मनुष्य का चित्त वा विज्ञान अपने शील एवं समाधि के प्रभाव को अपने साथ ले जाता है, उसका पुनर्जन्म उच्चतर लोक में होता है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पंचस्कंध विघटित होकर पुद्गल के साथ उत्तम लोक को जाते हैं। उसके पुण्यकर्म तथा उसकी आध्यात्मिक सिद्धियाँ उसकी

निधि है जो दूसरे जन्म मे उसके साथ जाती है, अत उसका पुद्गल अकेला नही जाता। यदि पुद्गल स्कधो से भिन्न हो तो अगले जन्मो मे उसके टिकने के लिए कोई आधार नही मिलेगा। इसी प्रकार, यदि पुद्गल सत्य और शाश्वत अथवा मिथ्या और क्षणभंगुर हो तो वह एक योनि से दूसरी योनि मे सक्रमण के समय अपने साथ कुछ भी नही ले जा सकता।

पुद्गल के सक्रमण की बात बुद्ध के अनेक वचनो मे कही गई है। जैसे, उन्होने कहा है कि 'मनुष्य उत्तम कर्म करता है तो उसके फलस्वरूप परलोक मे सुख भोगता है', 'जो अपनी इद्रियो पर सयम रखता है वह दूसरे जन्म मे सुख पाता है', 'मरने-वाला फिर जन्म लेता है', इत्यादि।

बुद्ध प्राय स्वय अपने पूर्व जन्मो की चर्चा किया करते थे, जिनमे उन्होने कई पारमिताओ मे सिद्धि प्राप्त की थी। उन्होने पहले ही अजित से कह दिया था कि मैं भविष्य मे मैत्रेय बुद्ध होऊंगा। कुछ अवसरो पर उन्होने कृपण धनपतियो का भी उल्लेख किया है। उन्होने कहा है कि कृपण व्यक्ति अपार धन सचित कर लेता है परतु जब मृत्यु निकट आती है तब उसे सब कुछ यही छोडकर अकेले, रिक्तहस्त जाना पडता है। बुद्ध के इन वचनो से स्पष्ट है कि अगले जन्मो की चर्चा करते समय उनके मन मे पुद्गल ही था, जो अपने पूर्व जन्मो के कर्मो के परिणामस्वरूप सचित सस्कारो के साथ एक योनि से दूसरी योनियो मे सक्रमण करता है।

(३) निर्वाण की अवस्था मे पुद्गल (निरोधप्रज्ञप्त पुद्गल), अर्थात् जब पुद्गल का ससरण निरुद्ध हो जाता है और फिर उसका जन्म नही होता। ऐसा तब होता है जब वह पूर्ण, अर्हत् हो जाता है और अपने को सपूर्ण दोषो से मुक्त (क्षीणास्रव) करके निर्वाण प्राप्त कर लेता है, जिसके बाद पुनर्जन्म होता ही नही (नत्थि दानि पुनब्भवो)।

इसी ग्रथ मे बुद्ध के एक दूसरे कथन पर विचार किया गया है, जिसमे उन्होने कहा है कि यह भवचक्र या ससारचक्र अनादि है (अनमतग्गोऽय ससारो, दे० पूर्व पृ० २२६), और उस कथन से यह तात्पर्य निकाला गया है कि आदि तो उसका अवश्य है, किंतु अज्ञानियो के लिए वह अगम्य है। इसी प्रकार आत्मा के अनस्तित्व के विषय मे भी बुद्ध के कथन का तात्पर्य यह है कि अपूर्ण वा अनर्हत् पुरुषो को पुद्गल के अस्तित्व वा स्वरूप का ज्ञान नही हो सकता। ग्रथकर्ता ने यह तर्क उपस्थित किया है कि यदि कोई पदार्थ साधारण बुद्धिवाले मनुष्यो की ज्ञान-सीमा के बाहर है तो इसी कारण से उस पदार्थ के सत् वा असत् होने के सबध मे सदेह नही करना चाहिए। उससे केवल अपूर्ण वा अल्पज्ञ मनुष्य का ज्ञानाभाव ही सूचित होता है, सत् वा असत् पदार्थ का अस्तित्व

वा अनस्तित्व सिद्ध नही होता। यह सत्य है कि रूप-लोक के जीवो के लिए अरूप-लोक अज्ञेय है, किंतु उस अज्ञेयता के कारण यह निष्कर्ष निकालना उचित नही कहा जा सकता कि अरूप-लोक का अस्तित्व ही नहीं है। इसी प्रकार पुद्गल भी अज्ञानियो के लिए अज्ञेय है, किंतु इससे यह सिद्ध नही हो सकता कि पुद्गल है ही नही। धूल का एक सूक्ष्म कण, बाल का सिरा, धरती के भीतर की खान, समुद्र के उस पार का तट, पानी मे घोला हुआ मुट्ठी भर नमक, भीत के पीछे छिपा हुआ रत्न, प्रेतादि का शरीर, यहाँ तक कि आँख की पलके भी जो आँखो के इतने निकट है, इन साधारण चर्म-चक्षुओं से देखी नही जा सकती, किंतु इससे यह सिद्ध नही होता कि इन वस्तुओं का अस्तित्व नही है। इन वस्तुओं को वे ही देख सकते है जिनके दिव्य चक्षु हो। इसी प्रकार इस भव-चक्र के आदि का ज्ञान अज्ञानियो के लिए सभव नही है, किंतु सम्यक् सबुद्ध, सर्वज्ञ, बुद्ध के लिए वह ज्ञेय है। बुद्ध ने जो यह कहा कि यह ससार अनादि है, वह मुख्यत इस उद्देश्य से कि उनके शिष्य शाश्वतवाद और नास्तिवाद मे विश्वास न करने लगे तथा उनके मन मे 'मै था, मै हूँ, मै होऊँगा'—इस प्रकार की भावना न घर कर ले। यदि ससार का आदि आकाश-कुसुम वा शश-शृग की भाँति अस्तित्वहीन होता तो बुद्ध यह न कहते कि ससार अनादि है, क्योकि कोई यह नही कहता कि आकाश-कुसुम वा शश-शृग नही है। गोलाकार पदार्थ का कही आदि नही होना, किंतु कोई यह नही कहता कि ऐसा पदार्थ है ही नही। यही बात ससार के विषय मे भी समझनी चाहिए। यदि इस ससार का कोई आदि या अत न माना जाय तो इसमे और निर्वाण मे कोई भेद नही रह जायगा, क्योकि निर्वाण भी अनादि और अनत है। इन तर्कों के द्वारा सम्मितीय-निकाय-शास्त्र के प्रणेता ने यह सिद्ध किया है कि बुद्ध ने कई विषयों के सबध मे अपने गहन विचारों की पूर्ण रूप से व्याख्या नही की थी, उन्ही विषयो मे से एक पुद्गल का अस्तित्व भी है। अत इसके विषय मे उनके मौन का यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि वे पुद्गल को नही मानते थे।

— —

अध्याय १४

बौद्ध धर्म और चीनी परिव्राजक

भारत में ई० ४०० से ७०० तक के बौद्ध धर्म के इतिहास के लिए फाहियान, हुएन-साग और इत्सिंग द्वारा लिखे गए यात्रा-विवरणों से अधिक अच्छे विवरण प्राप्त नहीं होते। ये तीनों चीनी यात्री ईसा की पाँचवीं और सातवीं शती में भारत आए थे। फाहियान ने ई० ३९९ से ४१४ तक भारत और लंका में यात्रा की थी। हुएन-साग ६२९ में चीन से चला और संपूर्ण भारत का भ्रमण कर, देश के विभिन्न भागों में बौद्ध धर्म की स्थिति के संबंध में विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त करके ६४५ ई० में अपने देश लौट गया। ऐसा जान पड़ता है कि हुएन-साग ने फाहियान का यात्रा-विवरण देखा था, क्योंकि कई बातों में उसके वर्णन प्रायः ज्यों के त्यों फाहियान के ही वर्णनों से मिलते हैं। इत्सिंग भारत में ६७१ से ६९५ ई० तक रहा, परंतु उसका ध्यान मुख्यतः बौद्ध भिक्षुओं द्वारा पालन किए जाने वाले विनय के नियमों तक ही सीमित रहा। कुछ सामान्य बातें उसने बौद्ध धर्म के भौगोलिक विभाजन के संबंध में लिखी हैं। मध्यकालीन धार्मिक बुद्धि वाले पुरुष होने के कारण ये यात्री उन दिनों बौद्ध लोगों में प्रचलित जनकथाओं और विश्वासों को बहुत महत्त्व देते थे, उन्हें मनगढंत वा अविश्वसनीय समझकर उनकी उपेक्षा नहीं करते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी के संबंध में उनके अनुमान सदा ठीक नहीं पाए जाते, परंतु जो कुछ भी उन्होंने लिखा है उससे वे जिन स्थानों में गए थे उनकी स्थिति का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

फाहियान की दृष्टि हुएन-साग के जैसी आलोचनात्मक न थी, फिर भी उसने ई० पाँचवीं शती के प्रारंभ में भारत में बौद्ध धर्म की स्थिति का जो विवरण दिया है वह सामान्य होने पर भी रोचक है। उत्तर प्रदेश के जिन स्थानों में फाहियान गया उनके संबंध में ज्ञात होता है कि पंजाब से वह यमुना के किनारे-किनारे दक्षिण-पूर्व की ओर चलता हुआ मथुरा पहुँचा। भारत के मध्यदेश नामक भाग के लोगों के संबंध में पहले वह अपनी सामान्य धारणा प्रस्तुत करता है। जैसे, यहाँ का जलवायु समशीतोष्ण है, बस्ती घनी है, लोग सुखी हैं और अन्न का उत्पादन करनेवाले कृषकों को छोड़कर अन्य लोगों को राजा को कोई कर नहीं देना पड़ता। राज्य के अधिकारियों

को पर्याप्त वेतन मिलता है। अपराधों के कठोर दंड नहीं दिए जाते। लोग जीव-हिंसा नहीं करते, न लहसुन-प्याज या मदिरा का सेवन करते हैं। केवल चांडाल लोग मछली और मांस बेचते हैं।

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद राजाओं और सेठियों ने भिक्षुओं के लिए बहुत से विहार बनवा दिए थे और धातु के पत्रों पर दानपत्र खुदवाकर उनके नाम भूमिदान भी किया था। भिक्षु लोग उन विहारों में रहकर सूत्रों का पाठ, ध्यान और धर्म के कार्य करते हैं। आगंतुक भिक्षुओं के प्रति वे विनय के नियमों के अनुसार उचित शिष्टता का व्यवहार करते और उन्हें विहार में ठहरने के लिए सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

राजा लोग भिक्षुओं का उचित सम्मान करते हैं। जब वे किसी भिक्षु के यहां जाते हैं तो अपना मुकुट उतार देते हैं और ऊँचे आसन पर न बैठकर धरती पर बिछे हुए कालीन पर बैठते हैं। वे स्वयं अपने हाथों से भिक्षुओं को भोजन देते हैं।

लोग सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और आनंद की स्मृति में तथा अभिधर्म, विनय एवं सूत्रों का पाठ करनेवालों के सम्मानार्थ स्तूपों का निर्माण कराते हैं। वर्षावास के अनंतर गृहस्थ लोग भिक्षुओं को भोजन कराने और दान देने के लिए एक दूसरे को प्रोत्साहित करते हैं। सेठि और ब्राह्मण लोग वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं का दान करते हैं। भिक्षुगण धर्म का उपदेश देते और स्तूपों की पूजा करते हैं। भिक्षुणियां आनंद के स्तूप की पूजा करती हैं और नए साधकगण राहुल के स्तूप की पूजा करते हैं। अभिधर्म और विनय के शिक्षार्थी अपनी भेंटें अभिधर्म और विनय के शिक्षकों को देते हैं और महायान के शिक्षार्थी प्रज्ञापारमिता, मंजुश्री और अवलोकितेश्वर को।

विनय के नियमों और धार्मिक विधियों का पालन बुद्ध के समय से प्रत्येक पीढ़ी में बराबर एक ही प्रकार से होता आ रहा है।

उस समय बौद्ध धर्म उन्नति पर था। यमुना के दोनों किनारों पर बीस विहार थे जिनमें तीन सहस्र भिक्षु रहते थे।

फाहियान के लगभग दो सौ वर्ष बाद हुएन-सांग मथुरा में आया। उसने यहां की जलवायु को उष्ण तथा देश को आर्थिक दृष्टि से संपन्न पाया। उसने लिखा है कि लोग कर्मों के फल में विश्वास करते थे और नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से बहुत उन्नत थे। विहारों की संख्या उसने फाहियान के बराबर ही, अर्थात् बीस, दी है परंतु भिक्षुओं की संख्या उसके अनुमान से दो सहस्र ही थी। उसने कितने ही देव-मंदिरों तथा बौद्धेतर धर्मानुयायियों को देखा। उसने अशोक द्वारा बनवाए हुए तीन स्तूपों तथा सारिपुत्र, मुद्गलपुत्र, पूर्ण मैत्रायणीपुत्र उपालि, आनंद और राहुल के अवशेषों पर निर्मित

स्तूपों को भी देखा। पर्व-दिनों तथा वर्षावास के समय में भिक्षु लोग कई वर्गों में बँट जाते थे और अपने-अपने वर्ग के पूज्य मतों की पूजा करने में वे एक-दूसरे से होड़ करते थे। अभिधर्मिक लोग सारिपुत्र की, समाधिवादी मद्गलपुत्र की, विनयवादी उपालि की, भिक्षुणियाँ आनंद की, श्रमण लोग राहुल की तथा महायानी विभिन्न बोधि-सत्त्वों की पूजा करते थे। दोनों चीनी यात्रियों के वर्णनों में इस विषय में तात्त्विक समानता है, और जिन कारणों से बौद्ध धर्म के अंतर्गत अनेक मतों का विकास हुआ उनमें से एक कारण उक्त प्रकार से किसी मत-विशेष की पूजा में कुछ बौद्ध भिक्षुओं की विशेष अभिरुचि होना भी विदित होता है। यह ध्यान देने की बात है कि सारिपुत्र परंपरा से अभिधर्म पिटक के प्रतिपादक माने जाते हैं, अतः यह सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि अभिधर्मिक लोग सारिपुत्र की पूजा करें। इसी प्रकार मौद्गलायन ने ध्यानयोग के अभ्यास द्वारा असाधारण सिद्धियाँ प्राप्त की थीं, अतः वे समाधि-साधकों के पूज्य संत थे। उपालि विनयपिटक का पंडित था, अतः विनयवादियों का उसकी पूजा करना उचित ही था। भिक्षुणी-संघ आनंद के ही प्रयत्नों के फलस्वरूप स्थापित हुआ था, अतएव वह भिक्षुणियों का पूज्य हुआ। राहुल आदर्श श्रमण था, इसलिए वह श्रमणों द्वारा पूजित हुआ, और महायानी लोग मंजुश्री तथा अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्वों की पूजा करते थे।

चीनी यात्रियों के इस साक्ष्य से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ई० पाँचवीं से सातवीं शती तक मथुरा महायानियों तथा अन्य सभी बौद्ध मतों के भिक्षुओं का प्रिय आश्रय-स्थान हो गया था और इसी से ह्वेन-सांग ने लिखा है कि वहाँ दो सहस्र भिक्षु परिश्रमपूर्वक हीनयान और महायान दोनों मतों का अध्ययन करते थे। ह्वेन-सांग ने नटभट विहार का उल्लेख किया है, जहाँ उपगुप्त रहते थे, और उस गुफा का भी उल्लेख किया है जिसमें उनके शिष्यों ने लकड़िया एकत्र की थीं (दे० ऊपर, पृ० २०१)।

फाहियान मथुरा से सीधे साकाश्य गया था, परंतु ह्वेन-सांग ने लंबा और चक्कर-दार मार्ग पकड़ा और मथुरा से उत्तर की ओर स्थानेश्वर, सुघ्न, मतिपुर, गोविसाण, अहिच्छत्रा, पिलो-शन्-न होते हुए वह साकाश्य पहुँचा, जो मथुरा से कुछ ही मील दूर है।

उत्तर प्रदेश के बाहर अंबाला जिले के स्थानेश्वर नगर में ह्वेन-सांग ने देखा कि वहाँ के लोग सुखी और संपन्न हैं और ब्राह्मण धर्म-कर्मों में उनकी रुचि है। वहाँ तीन विहारों में कुछ हीनयानी बौद्ध भी रहते थे। वहाँ के लोग गीता के सिद्धांतों का बड़ा आदर करते थे।

स्थानेश्वर से उत्तर-पूर्व की ओर चलकर ह्वेन-सांग गंगा के पश्चिम सुघ्न में

पहुँचा जिसके उत्तर में ऊँचे-ऊँचे पर्वत थे। यहाँ के लोगों की आर्थिक और धार्मिक स्थिति स्थानेश्वर के लोगों-जैसी ही थी। यहाँ पाँच विहार थे जिनमें एक सहस्र हीनयानी भिक्षु रहते थे। उनमें कुछ भिक्षु तो बड़े विद्वान् एवं हीनयान सिद्धांतों की व्याख्या में कुशल थे और दूसरे स्थानों के भिक्षु उनके पास अपनी शंकाओं के समाधान के लिए आया करते थे। हुएन-साग ने दिव्यावदान (पृ० ७४) में विस्तार से वर्णित उस अनुश्रुति का उल्लेख किया है जिसके अनुसार बुद्ध उस स्थान को गए थे और वहाँ उन्होंने एक ब्राह्मण का अभिमान दूर किया था। बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् यह देश ब्राह्मण-धर्मावलंबी हो गया। फिर कुछ समय के बाद ही कुछ प्रवीण बौद्ध आचार्य यहाँ बौद्ध धर्म की पुन स्थापना करने में समर्थ हुए।

सुघ्न से हुएन-साग पूर्व की ओर चला और उस स्थान पर पहुँचा जिसे गंगा का उद्गम (गंगाद्वार) कहते थे। संभवत यह स्थान हरद्वार था। यहाँ के लोगों का दृढ़ विश्वास था कि गंगा में मज्जन करने से दिव्य लोकों में जन्म होता है। महान् संत और आचार्य आर्यदेव एक बार वहाँ गए और कुछ लोगों को यह विश्वास करा दिया कि गंगाजल के द्वारा पापी का उद्धार असंभव है। हुएन-साग जयगुप्त नामक एक सौत्रांतिक आचार्य से शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए यहाँ कुछ समय तक रहा।

यहाँ से गंगा पार कर वह उसके पूर्व की ओर मतिपुर नामक स्थान में पहुँचा जिसकी पहचान कनिंघम ने पश्चिमी रुहेलखंड में स्थित मंडावर से की है। यहाँ उसने उस विहार को देखा जिसमें महान् वैभाषिक आचार्य गुणप्रभ रहते थे। इस स्थान से अनति-दूर वह विहार था जिसमें एक अन्य गंभीर वैभाषिक विद्वान् संघभद्र रहते थे, जो काश्मीरी थे और जो निश्चय ही वहाँ वसुबंधु के साथ विचार-विमर्श करने के लिए आए रहे होंगे (दे० पृ० २१३)।

हुएन-साग ने यहाँ दो स्तूप देखे—एक संघभद्र के अवशेषों पर निर्मित था, दूसरा उनके शिष्य विमलमित्र के। विमलमित्र भी काश्मीरी था और वह वैभा-षिक सिद्धांतों का विशिष्ट प्रतिपादक तथा वसुबंधु की सौत्रांतिक सिद्धांतों की ओर प्रवृत्ति का कठोर आलोचक था। हुएन-साग गुणप्रभ के ग्रंथ 'तत्त्वसंदेश शास्त्र' एवं अन्य अभिधर्म-व्याख्या-ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए कई महीने यहाँ रहा। वह गुणप्रभ के एक शिष्य मित्रसेन से मिला, जो अत्यंत वृद्ध होने पर भी बड़ा गंभीर विद्वान् था।

मतिपुर से वह उत्तर की ओर चलकर गोविषाण पहुँचा, जिसकी पहचान कनिंघम ने काशीपुर, रामपुर और पीलीभीत से की है। यहाँ के लोग सत्यशील, धर्मात्मा

तथा ब्राह्मण-धर्म को माननेवाले थे। यहाँ केवल दो विहार थे, जिनमे एक सौ भिक्षु रहते थे।

गोविषाण से हुएन-साग अहिच्छत्रा (रुहेलखड का पूर्वी भाग) गया। यहाँ के लोग भी सत्यशील थे और ब्राह्मण-धर्म और दर्शन का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करते थे। कुछ लोग पाशुपत मत को माननेवाले तथा शिव के पूजक थे। यहाँ दस विहारो मे सम्मितीय मत के बहुत से बौद्ध भिक्षु रहते थे।

अहिच्छत्रा से वह दक्षिण की ओर गया और पि-लो-शन्-न पहुँचा। यहाँ के लोग ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे। यहाँ दो विहार थे जिनमे आठ सौ महायानी भिक्षु रहते थे।

पि-लो-शन्-न से हुएन-साग दक्षिण-पूर्व की ओर चला और कपित्थ या साकाश्य पहुँचा, जिसका अनुवाद चीनी भाषा मे क्वागमिग (=प्रकाश, विमलता) किया गया है। फाहियान बुद्ध के त्रयस्त्रिश स्वर्ग मे अवतरण की अनुश्रुति का विस्तार से उल्लेख करता है और कहता है कि अशोक ने सीढियो के पास एक विहार तथा एक प्रस्तर-स्तभ बनवा दिया, जिसके शीर्ष पर एक सिह तथा चारो ओर बुद्ध की प्रतिमाएँ बनी हुई थी। यहाँ एक सहस्र भिक्षु और भिक्षुणियाँ रहती और हीनयान तथा महायान मतो का अध्ययन करती थी।

हुएन-साग भी बुद्ध के त्रयस्त्रिश स्वर्ग से उतरने की अनुश्रुति का उल्लेख करता है। वह कहता है कि पुरानी निसेनियाँ नष्ट हो गई थी और उनके स्थान पर नई बनवा दी गई थी। ये निसेनियाँ सत्तर फीट ऊँची थी और एक विहार मे पहुँचती थी, जिसमे बुद्ध की एक प्रस्तर-प्रतिमा तथा उसके दोनो ओर ब्रह्मा और इद्र की प्रतिमाएँ उतरती हुई मुद्रा मे बनाई गई थी। हुएन-साग ने वहाँ अशोक का स्तभ भी देखा। वह यह भी लिखता है कि उस स्थान के निवासी अधिकतर शैव थे। वहाँ चार विहार थे जिनमे सम्मितीय मत के एक सहस्र भिक्षु रहते थे। उनमे से एक विहार बडा था और उसकी बनावट अत्यत सुदर और सुडौल थी। उसमे सम्मितीय भिक्षु रहते थे।

साकाश्य से दक्षिण-पूर्व की ओर सात योजन चलकर हुएन-साग गगातट के नगर कान्यकुब्ज या कनौज मे पहुँचा। यहाँ उसने केवल दो विहार देखे जिनमे हीनयानी भिक्षु रहते थे। ऐसा जान पडता है कि फाहियान के समय तक कनौज वह महत्त्व नही प्राप्त कर सका था जो उसे आगे चलकर राजा हर्षवर्धन द्वारा राजधानी बनाए जाने पर प्राप्त हुआ।

हुएन-साग कन्नौज का दीर्घ विवरण प्रस्तुत करता है और कुब्जा राजकुमारी की कथा का भी उल्लेख करता है जिसके नाम पर उस नगर का नाम कान्यकुब्ज पड़ा। हर्षवर्धन ने किन परिस्थितियों में सिंहासन प्राप्त किया, उसका सैन्य-बल कितना था, कैसे उसने एक विशाल राज्य विजय किया तथा बौद्ध धर्म के घोर शत्रु शशांक को पराजित किया--इन सब बातों का वह बड़े विस्तार से वर्णन करता है। हर्षवर्धन का पिता ब्राह्मण धर्म का अनुयायी एवं सूर्य का उपासक था। हर्षवर्धन यद्यपि बौद्ध धर्म का संरक्षक था, परन्तु ब्राह्मणों को बराबर सहायता देता रहा। वह प्रतिदिन एक सहस्र भिक्षुओं और पाच सौ ब्राह्मणों को भोजन कराता था। उसकी बहिन राज्यश्री सम्मितीय मत की भिक्षुणी बन गई थी। उसके उत्तम शासन के कारण तीस वर्ष तक उसकी प्रजा सुख-शांति से रही। उसने अनेक विहार बनवाए। वह नियमित रूप से प्रति पाँचवें वर्ष बौद्ध भिक्षुओं की सभा किया करता था। विद्वान्, विशेषत शास्त्रार्थ में निपुण, भिक्षुओं को वह पुरस्कार देता था। उसने असम के राजा भास्करवर्मा को, जिसके निमंत्रण पर हुएन-साग उसकी राजधानी में गया था, उस चीनी यात्री सहित अपने पास आने के लिए विवश किया। परन्तु हुएन-साग से उसने इसके लिए क्षमा माँगी और उससे उसकी यात्रा तथा उसके राजा और देश की विशद कीर्ति के संबंध में प्रश्न किए।

हर्षवर्धन के बौद्ध धर्म को संरक्षण देने के कारण भिक्षुओं की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो गई, क्योंकि हुएन-साग ने कान्यकुब्ज में एक सौ विहार देखे, जिनमें दोनों यानों के दस सहस्र भिक्षु रहते थे। वहाँ दो सौ देवमंदिर भी थे, जिनमें कई सहस्र पुजारी रहते थे।

हुएन-साग ने कनौज में तीन मास तक भद्रविहार में रहकर आचार्य वीर्यसेन से असंग के शिष्य एवं वसुबंधु के समसामयिक बुद्धदास द्वारा रचित विभाषाओं का अध्ययन किया।[1]

फाहियान कनौज से तीन योजन दक्षिण-पूर्व चलकर शा-चे (साकेत) आया। उसने यहाँ बुद्ध की दतकूचिका (दतुअन) से एक वृक्ष की अलौकिक उत्पत्ति की कथा का वर्णन किया है।

हुएन-साग ने दूसरा मार्ग पकड़ा। वह कनौज से चलकर नवदेवकुल संभवतः नवल, जि० उन्नाव गया और वहाँ से दक्षिण-पूर्व की ओर एक लंबी यात्रा के बाद गंगा पार

१. शीफनर, तारानाथ, अध्याय २३।

करके अयोध्या पहुँचा। अयोध्या से हयमुख, प्रयाग, कौशाबी आदि होता हुआ वह साकेत आया।

हुएन-साग लिखता है कि अयोध्या नगरी शस्यों और फलों एवं पुष्पों से परिपूर्ण थी। वहाँ के निवासियों की सत्कर्मों में रुचि थी और वे व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने में दत्तचित्त रहते थे। वह इस नगरी में बुद्ध के आने की अनुश्रुति का तथा उनके अभ्यागम के स्मारक-स्वरूप बनवाए गए अशोक-स्तूप का भी उल्लेख करता है। वसुबंधु के विषय में उसका कथन है कि वह एक प्रसिद्ध मंत्र और विद्वान् था और उसने कई वर्ष अयोध्या में रहकर सर्वास्तिवाद पर दार्शनिक ग्रंथों की रचना की थी। वह राजकुमारों तथा विशिष्ट भिक्षुओं एवं ब्राह्मणों का गुरु था। स्पष्टतः हुएन-साग का संकेत युवराज बालादित्य के शिक्षक के रूप में वसुबंधु की नियुक्ति की ओर है (दे० पृ० २१३)।

हुएन-साग ने अपनी भारत-यात्रा के दो सौ वर्ष पूर्व के वसुबंधु और असंग के विषय में जो कुछ लिखा है वह केवल सुनी-सुनाई बातों के आधार पर। इस कारण, जैसा कि फ्राउवाल्नर ने निर्देश किया है, उसने दो वसुबंधुओं का वृत्त एक में मिला दिया है (दे० पूर्व पृष्ठ २१४)।

उसने लिखा है कि असंग और वसुबंधु पेशावर के थे और दोनों ही बड़े विद्वान् थे। असंग पहले महीशासक मत के अनुवर्ती हुए और वसुबंधु महीशासकों की सर्वास्तिवादी शाखा के। असंग कुछ समय तक अयोध्या में रहे। वे योगाचार दर्शन के एक महान् आचार्य हुए और मैत्रेय की प्रेरणा से उन्होंने 'योगाचार-भूमि-शास्त्र' (यह प्रकाशित हो रहा है), 'सूत्रालंकार' और 'मध्यान्त-विभाग-शास्त्र' (दोनों प्रकाशित) नामक प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की।

असंग ने अपने भाई वसुबंधु के मन में योगाचार दर्शन के विज्ञानवाद के प्रति आस्था उत्पन्न कर दी और उन्हें अपने दार्शनिक विचारों का अनुयायी बना लिया। दशभूमिक सूत्र (प्रकाशित) का अध्ययन करने के बाद वसुबंधु पक्के महायानी हो गए।

यहाँ विचारणीय केवल यह है कि क्या, जैसा हुएन-साग ने कहा है, असंग और महायानी वसुबंधु अयोध्या में रहते थे, अथवा हुएन-साग ने हीनयानी वसुबंधु के विषय में प्रचलित अनुश्रुतियाँ सुनी और असंग के विषय में जो जानकारी प्राप्त हुई उसे उसने उनके साथ जोड़ दिया। हुएन-साग ने लिखा है कि प्रसिद्ध सौत्रांतिक आचार्य श्रीलाभ भी, जो हीनयानी वसुबंधु के समसामयिक थे और जिनके मतों का यशोमित्र ने अपने ग्रंथ अभिधर्मकोश व्याख्या में प्रायः उल्लेख किया है, कुछ काल तक अयोध्या में रहे थे और उन्होंने सौत्रांतिक-विभाषा-शास्त्र की रचना की थी।

अयोध्या में हुएन-साग ने एक सौ विहार देखे, जिनमें हीनयान और महायान दोनों शाखाओं के तीन सहस्र भिक्षु रहते थे। सभवत उसके समय तक अयोध्या नगरी उक्त दोनों शाखाओं के बौद्ध दर्शनों के प्रमुख आचार्यों का महत्त्वपूर्ण केंद्र हो गई थी।

अयोध्या से हुएन-साग हयमुख गया, जहाँ के लोगों को उसने आचार-विचार एव आर्थिक स्थिति में अयोध्यावासियों के समान ही पाया। यहाँ उसने पाँच विहार देखे जिनमें सम्मितीय मत के एक सहस्र भिक्षु रहते थे। एक विहार में सर्वास्तिवाद मत का प्रसिद्ध भाष्यकार बुद्धदास रहता था।

हयमुख से वह प्रयाग (इलाहाबाद) गया और वहाँ का जलवायु अनुकूल पाया। यह देश ब्राह्मण-धर्मानुयायी था और यहाँ ऐसे लोग थे जो अपने जीवन का अत करने के लिए कठोर तप करते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि इस पवित्र स्थान में देह-त्याग करने से स्वर्ग अवश्य प्राप्त होगा। हर्षवर्धन प्रति पाचवें वर्ष सभी धर्मों और मतों के सुपात्र विद्वानों एव सतों को पुरस्कार वितरण करने के लिए यहाँ आया करता और अपनी असीम उदारता के कारण अपना सर्वस्व दान करके यहाँ से प्राय रिक्तहस्त होकर लौटता था। यहाँ दो विहारों में कुछ हीनयानी भिक्षु रहते थे। माध्यमिक दर्शन के प्रतिपादक नागार्जुन का विख्यात शिष्य आर्यदेव यहाँ रहता था और यहीं उसने 'शत-शास्त्रवैपुल्य' (क्वाग-पाइ-लुन) ग्रथ की रचना की थी।

प्रयाग से हुएन-साग कौशाबी गया। कोसम के उत्खनन से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि प्राचीन कौशाबी इलाहाबाद जिले में वर्तमान स्थान पर थी। हुएन-साग लिखता है कि यहाँ के लोग साहसी और धार्मिक प्रवृत्ति के थे और कलाओं में उनकी अभिरुचि थी। यह वत्स राज्य के अधिपति राजा उदयन की राजधानी थी। यहाँ उसने सेट्ठि घोषित द्वारा बनवाए गए घोषिताराम नामक प्रसिद्ध विहार के खँडहर देखे। उसके कथनानुसार महायानी वसुबधु ने यहाँ कुछ समय तक रहकर विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि' नामक ग्रथ (अब प्रकाशित) लिखा, जिसमें उसने 'मन और मात्रा' के अस्तित्व का खडन किया और "पदार्थों के फलत परिवर्तन से अप्रभावित एव भ्रम से निर्लिप्त नित्य मन की सत्ता से पृथक् इद्रियानुभव के, मिथ्यात्व" की स्थापना की। हुएन-साग ने ठीक ही बतलाया है कि उक्त ग्रथ का सार 'विज्ञप्तिमात्रता' की नित्यता है। असग ने भी यहाँ एक ग्रथ रचा था। उसने महा-माया सूत्र में की गई एक भविष्यवाणी का उल्लेख किया है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के १,५०० वर्षों के बाद बौद्ध धर्म का अत हो जायगा। हुएन-साग के समय में कौशाबी के लोग ब्राह्मण धर्म को मानते थे और यहाँ उस समय केवल दस विहार थे

जिनमें ३०० हीनयानी भिक्षु रहते थे। यहां पाए गए एक प्राचीन शिलालेख से विदित होता है कि यहाँ कस्सपिय मत के भिक्षु रहते थे।[1]

हुएन-सांग कौशांबी से कासपुर गया, जिसके निकट उसने एक विहार के खंडहर देखे। इस विहार में धर्मपाल रहता था, जिसने अ-बौद्ध आचार्यों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। धर्मपाल दक्षिण भारत का निवासी था और वह अपने देश की राजकुमारी से विवाह करने से अपना पिंड छुड़ाने के लिए भिक्षु हो गया था। वह नालंदा का बहुत प्रसिद्ध आचार्य हो गया और उसने शीलभद्र को अपना शिष्य बनाया। वह गुणमति और स्थिरमति नामक वैभाषिक आचार्यों का तथा महान् माध्यमिक आचार्य भाविवेक का समकालीन था।

कासपुर से वह विशोक गया, जिसकी पहचान फाहियान के सा-चे अथवा साकेत से की गई है और जो संभवतः विशाखा का स्वदेश होने के कारण प्यार से उसी के नाम से प्रसिद्ध हो गया था (चीनी अनुवाद में 'विशाखा' का 'विशोक' हो गया है)। यह देश शस्यों से संपन्न था और लोग अध्ययनशील एवं सत्कर्मनिष्ठ थे। यहाँ एक विहार था, जिसमें देवशर्मा रहता था, जिसने यहीं रहकर सर्वास्तिवादियों के अभिधर्मपिटक के 'ग्रंथ विज्ञानकायपाद' की रचना की थी (दे० पूर्व पृ० २११)। यहाँ गोप नाम का एक अन्य भिक्षु था, जिसने मन और अ-मन (मन के विषय) के अभाव के संबंध में देवशर्मा के मतों का खंडन किया। ऐसा जान पड़ता है कि गोप सम्मितीय संप्रदाय का था जो 'पुद्गल' नाम के एक अनित्य वा क्षणिक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता था। धर्मपाल बोधिसत्त्व भी, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, बाद में यहीं आकर रहने लगा था। उसने यहाँ सात दिनों तक चलने वाले शास्त्रार्थ में कई हीनयानी आचार्यों को परास्त किया।

आगे हुएन-सांग उस अलौकिक वृक्ष का उल्लेख करता है जो फाहियान के उपर्युक्त उल्लेखानुसार बुद्ध की दंतकूर्चिका (दंतअन) से पल्लवित हुआ था।

साकेत में ब्राह्मण धर्म के बहुत से अनुयायी थे। यहाँ केवल बीस विहार थे जिनमें सम्मितीय संप्रदाय के ३,००० भिक्षु रहते थे।

फाहियान साकेत से श्रावस्ती गया, जिसकी पहचान सहेत-महेत से की गई है। उस समय यहाँ बस्ती बहुत कम थी। वह श्रावस्ती का इस प्रकार वर्णन करता है—

नगर के बाहर कोई १,२०० डग पर जेतवन विहार था। यह एक विशाल

१. घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑव कौशांबी, पृ० ५९।

सतमजिला भवन था और यहां राजा और सामतगण तथा देश के अन्य लोग उपासना के लिए आते थे। सयोगवश आग लग जाने से यह नष्ट हो गया। यात्री ने यहां दो प्रस्तर-स्तभ देखे, जिनमे से एक के ऊपर धर्मचक्र बना था और दूसरे के ऊपर एक वृषभ। इस विहार से कुछ दूर पर अधवन था, जहां भिक्षुगण ध्यान लगाते और ज्ञानचक्षु प्राप्त करते थे। फाहियान और हुएन-साग दोनो ने इसे 'प्राप्त चक्षुओ का वन' कहा है और इसके विषय मे एक दतकथा का वर्णन किया है जिसके अनुसार यहां कुछ दस्युओ ने बुद्ध के प्रभाव से पुन दृष्टि प्राप्त की थी।

फाहियान ने यहां विशाखा द्वारा बनवाए मिगारमातुपासाद नामक विहार का स्थान देखा और साथ ही वह स्थान भी देखा जहां राजा प्रसेनजित् के पुत्र विरुद्धक से बुद्ध की भेट हुई थी।

उसने उन असद्धर्मियो की भी चर्चा की है जिन्होने सुदरी और चिचा की सहायता से बुद्ध को कलकित करने का षड्यत्र रचा था और जिनका मठ जेतवन के पास ही था। अत मे उसने देवदत्त का भी उल्लेख किया है जिसके अनुयायी उस समय विद्यमान थे।

जेतवन मे फाहियान के ध्यान मे पुरानी बाते गुंज रही थी। वह बुद्ध के जीवन के विषय मे तथा पचीस वर्ष तक उनके श्रावस्ती मे निवास के विषय मे सोचने लगा। फिर उसे अपने उन साथियो का स्मरण हो आया जो मार्ग मे ही मर गए थे या स्वदेश लौट गए थे। जेतवन-निवासी भिक्षुओ ने उसका बडे आदर से स्वागत किया। एक विदेशी को बुद्ध तथा बौद्ध धर्म मे अनुरक्त देखकर उन्हे बडा आश्चर्य हुआ।

हुएन-साग फाहियान के ही मार्ग से चलकर साकेत से श्रावस्ती के प्रसिद्ध नगर मे पहुंचा। उसने देश को शस्यो से सपन्न तथा वहा के निवासियो को धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए पाया। उसने वहां (१) राजा प्रसेनजित् के बनवाए एक विहार, (२) जेतवन विहार, तथा (३) महाप्रजापति गौतमी के नाम अर्पित एक भिक्षुणी-विहार के खंडहर देखे। जेतवन के पूर्व द्वार पर उसने दो अशोक-स्तभ देखे। उनमे से एक के शिखर पर धर्मचक्र बना था और दूसरे के शिखर पर एक वृषभ, जैसा कि फाहियान ने भी वर्णन किया है। उसे अनाथपिंडिक, अगुलिमाल (दे० पूर्व पृष्ठ ८९), सारिपुत्त और बुद्ध की स्मृति मे बनवाए गए स्तूप भी मिले।

कहा जाता है कि मूल जेतवन विहार और उसके स्थान पर बनाया गया दूसरा विहार, दोनो ही आग मे जलकर नष्ट हो गए। चीनी ग्रथो के अनुसार यह विहार लगभग १३० एकड क्षेत्र मे बना हुआ था और इसमे भोजन, प्रवचन तथा ध्यान के लिए अलग-अलग शालाएँ बनी हुई थी। उसमे स्नानगृह, चिकित्सालय, पुस्तकालय और

जलाशय भी बने हुए थे और संपूर्ण विहार एक दीर्घ प्राकार से घिरा हुआ था। यहाँ के पुस्तकालयों में बौद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त वैदिक तथा अन्य बौद्धेतर ग्रंथ एवं भारतीय कलाओं और शास्त्रों के भी अनेक ग्रंथ थे। यह विहार नगर की भीड़भाड़ से बाहर था, साथ ही उससे बहुत दूर भी नहीं था। यह स्थान अत्यंत शांत, शीतल और रमणीक तथा पूजा-उपासना के लिए अत्युत्तम था।

हुएन-सांग ने सारिपुत्त और मौद्गलायन के बीच बल-परीक्षा की कथा का, जिसका मूलसर्वास्तिवाद विनय (भैषज्य-वस्तु, पृ० १९५) में विस्तृत वर्णन है, और बुद्ध के चरित्र को लांछित करने के लिए असद्धर्मियों द्वारा नियुक्त चिंचा माणविका का, तथा संघ का प्रधान बनने के लिए देवदत्त की महत्त्वाकांक्षा का भी उल्लेख किया है।

यद्यपि **हुएन-पांग** ने श्रावस्ती के खँडहरों का व्योरा अधिक दिया है, परंतु तत्त्वतः उसने फाहियान द्वारा वर्णन की गई बातों को ही दोहराया है।

हुएन-सांग के समय में यह स्थान बौद्धों द्वारा त्यक्त हो चुका था, विहार खँडहर हो गए थे और केवल सम्मितीय शाखा के थोड़े से भिक्षु रह गए थे। उस समय ब्राह्मण-मंदिरों की बहुलता थी और लोग ब्राह्मण धर्म के ही अनुयायी थे।

श्रावस्ती छोड़ने के बाद फाहियान ने गौतम बुद्ध के पहले के तीन बुद्धों—काश्यप, ककुच्छंद और कनकमुनि—की स्मृति में बनवाए गए स्तूपों को देखा।

फिर वह कपिलवस्तु गया जिसे उसने सुनसान खँडहरों के रूप में पाया। उसने यहाँ राजकुमार सिद्धार्थ के जन्म से लेकर उपालि सहित शाक्यों के बौद्ध बनने तक की बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओं से संबद्ध स्थानों को ध्यान से देखा। उसने महाप्रजापति द्वारा दिए गए एक वस्त्र (संघाटी) के दान का तथा विरूढक द्वारा शाक्यों के वध का भी उल्लेख किया है। देश उस समय उजड़ा हुआ था, केवल थोड़े से भिक्षु और कुछ गृहस्थ वहाँ रहते थे।

कपिलवस्तु के लुंबिनीवन से थोड़ी ही दूर पर रामग्राम था, जहाँ भगवान् बुद्ध की अस्थियों पर एक स्तूप बना हुआ था। अशोक इस स्तूप से अस्थियों का संग्रह नहीं कर सका था। इसके चारों ओर झाड़-झंखाड़ उगे हुए थे और वन्य पशुओं के अतिरिक्त उसकी रखवाली करनेवाला कोई न था। अंत में एक श्रमण ने उसे ढूँढ निकाला, चारों ओर की झाड़ियाँ काटकर साफ कर दीं और उसे पूजन के योग्य बना दिया। उसने वहाँ के एक सामंत से कह-सुनकर अपने लिए एक विहार बनवा लिया। फाहियान ने वहाँ कुछ भिक्षुओं को देखा था।

हुएन-साग ने भी कपिलवस्तु को एकदम उजाड पाया, केवल राजप्रासाद के प्राकार की ईटो की नीव दिखाई पडती थी। उसने बुद्ध के जीवन की घटनाओ से सबद्ध स्थानो के वर्णन मे फाहियान का ही अनुसरण किया। उसने ककुच्छद और कनकमुनि के स्तूप भी देखे। कनकमुनि के स्तूप के पास उसने एक बीस फुट ऊँचा प्रस्तर-स्तभ देखा जिसके शिखर पर एक सिह बना था, जिसके पार्श्व मे एक लेख खुदा हुआ था। इस लेख के विषय के सबध मे उसका ज्ञान सुनी हुई बातो पर ही निर्भर था। प्रकटत उसने वह अशोक-स्तभ देखा था जिसपर ब्राह्मी यह लेख खुदा हुआ था—"देवानपियेन पियदसिना लजिना चोदसवसाभिसितेन बुधस कोमक मुनस थुबे दुतिय वढिते विसतिवसाभिसितेन च अतन आगाच महीयिते सिलाथुभे च उसपापिते।" (देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा के द्वारा, जब उसके अभिषेक को चौदह वर्ष हो गए, कनकमुनि बुद्ध का यह स्तूप दूसरी बार विस्तृत किया गया, फिर जब उसके अभिषेक को बीस वर्ष हो गए, तब उसने स्वय जाकर उस स्तूप की आराधना की और वहा एक प्रस्तर-स्तभ स्थापित कराया)। हुएन-साग ने बुद्ध के जीवन की घटनाओ का ब्यौरा अधिक दिया है, अन्यथा, उसने फाहियान द्वारा लिखे गए विवरण के अतिरिक्त नई बाते बहुत कम दी है।

यहाँ हुएन-साग ने कई विहारो के खँडहर देखे, केवल एक विहार मे सम्मितीय मत के तीस भिक्षु रहते थे।

कपिलवस्तु से वह रामग्राम गया और वहाँ उसने फाहियान द्वारा लिखी हुई बातो की ही पुनरुक्ति की, केवल राजकुमार सिद्धार्थ की प्रव्रज्या की घटनाओ से सबद्ध स्थानो के विषय मे कुछ और बाते जोडी।

रामग्राम से हुएन-साग कुशीनगर गया, जो बुद्ध के महापरिनिर्वाण का पवित्र स्थान था। इस नगर मे निवासियो की सख्या बहुत कम थी और भिक्षु भी बहुत थोडे थे। उसने बुद्ध के परिनिर्वाण से सबधित अनुश्रुतियो और तथ्यो का वर्णन किया है, यथा—सुभद्र का दीक्षा ग्रहण करना, देवो द्वारा अर्थी मे रखे हुए बुद्ध के शरीर की पूजा तथा आठ सामतो को उनकी अस्थियो का वितरण।

हुएन-साग ने यहाँ का वर्णन अधिक विस्तार से किया है और कुछ नई बाते भी बतलाई है। वह लिखता है कि कुशीनगर जानेवाला मार्ग दस्युओ एव वन्य पशुओ द्वारा आक्रात रहता था। उसने यहीं नगर की ईट की बनी पुरानी नीव तथा अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप देखा, जो उसी स्थान पर बना हुआ था जहाँ चुड का घर था। इस चुड ने ही बुद्ध को सूकरमद्दव का अतिम भोजन कराया था, जिसे चीनी ग्रथो मे

एक प्रकार का भोज्य पदार्थ (छत्राक वा भूफोड) बनाया गया है, जिसका उल्लेख प्राय. 'भिक्षुओ का आमिष' कहकर किया गया है।

उसने अजिरवती (हिरण्यवती) नदी के उस पार का शाल-वन तथा एक मदिर भी देखा, जिसमे बुद्ध की एक लेटी हुई प्रतिमा थी, जिसका सिर उत्तर की ओर था। इस प्रतिमा का पता कार्लाइल को सन् १८७०-७५ मे लगा था। यह 'मरणोन्मुख बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा है, जो एक ईंट के बने मदिर मे लिटाई हुई है, जिसका मुख उत्तर की ओर है। इस मदिर के चारो ओर अनेक स्तूप है।' यहां एक बडा सा स्तूप था और उसके पास ही एक दो सौ फुट उँचा अशोकस्तभ था, जिसपर एक लेख खुदा हुआ था। प्राचीन घटनाओ के स्मारक अन्य स्तूपो मे से उसने निम्नलिखित स्तूपो का उल्लेख किया है—

(१) सुभद्र का स्तूप, जो वह अतिम व्यक्ति था जिसे बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के ठीक पहले दीक्षा दी थी, (२) उस स्थान पर बना हुआ स्तूप जहाँ वज्रपाणि मूर्छित हुआ था, (३) उस स्थान पर बना हुआ स्तूप जहाँ महामाया ने स्वर्ग से अवतरण के बाद रुदन किया था, (४) उस स्थान पर निर्मित स्तूप जहाँ बुद्ध की अस्थियाँ आठ दावेदारो को बाटी गई थी।

कुशीनगर छोडने के पश्चात् फाहियान वैशाली, पाटलिपुत्र, राजगृह और गया होता हुआ वाराणसी पहुँचा। वह ऋषिपत्तन का वर्णन बुद्ध के आविर्भाव पर प्रत्येक बुद्धो के देहत्याग से प्रारभ करता है, तत्पश्चात् वह उन परिस्थितियो का वर्णन करता है जिनमे पाँचो ब्राह्मण तपस्वियो ने बुद्ध का साथ छोड दिया। फिर जिस प्रकार वे उनके सर्वप्रथम शिष्य हुए उसका विवरण प्रस्तुत करता है। उसने भविष्य मे बुद्ध के रूप मे मैत्रेय के आविर्भाव के विषय मे बुद्ध की भविष्यवाणी का भी उल्लेख किया है। कुशीनगर मे हुएन-साग ने केवल दो विहार देखे, जिनमे कुछ भिक्षु रहते थे।

कुशीनगर से वह वनो मे से होकर सीधे वाराणसी आया। यहा के लोगो को उसने बहुत धनसपन्न और उनके घरो को बहुमूल्य सामग्रियो से भरा पाया। वे लोग धार्मिक प्रवृत्ति के थे और विद्या का आदर करते थे। वाराणसी मे प्रचुर अन्न, फल और अन्य वनस्पतियाँ उत्पन्न होती थी। राजधानी के उत्तर-पूर्व तथा वरुणा नदी के पश्चिम ओर उसने एक अशोक-स्तूप तथा पालिश किए हुए हरे पत्थर का एक ओपयुक्त स्तभ देखा।

वाराणसी से कुछ ही दूरी पर मृगदाव विहार था, जिसके आठ खड थे और सब एक प्राकार से घिरे हुए थे। उसके प्राकार के भीतर एक विशाल मदिर था जिसमे

उपदेश देते हुए बुद्ध की एक धातु-प्रतिमा थी। मंदिर के दक्षिण-पश्चिम में एक अशोक-स्तूप और स्तंभ था।

विहार के प्राकार के बाहर तीन जलाशय थे—दो पश्चिम की ओर और तीसरा दूसरे जलाशय के दक्षिण में। पुरातत्त्व विभाग के उत्खनन में तीन जलाशयों का पता लग गया है।

इसके बाद हुएनसांग उन स्तूपों का उल्लेख करता है जो महत्त्वपूर्ण घटनाओं के स्मारक थे। वे अधिकतर बुद्ध के पूर्व जन्मों की जातक-कथाओं से संबंधित थे। दो स्तूपों का संबंध उन दो भविष्यवाणियों से था जिनमें से एक काश्यप बुद्ध ने शाक्य-मुनि के आविर्भाव के संबंध में की थी और दूसरी गौतम बुद्ध ने मैत्रेय के भावी जन्म के संबंध में। उपर्युक्त स्तूप की पहचान ओर्टेल ने वर्तमान धमेख स्तूप से की है। यहाँ दो और स्तूप थे—एक उस स्थान पर जहाँ प्रत्येकबुद्धों ने अपना शरीर त्याग किया था और दूसरा उस स्थान पर जहाँ पाँचों ब्राह्मण तपस्या करते थे।

जहाँ तक धार्मिक विश्वासों का संबंध है, हुएनसांग लिखता है कि वाराणसी में सैकड़ों देवालय थे, जिनमें बहुत से पुजारी थे। अधिकांश पुजारी शिव के पूजक थे। शिव के भक्त सिर मुँड़ाए रहते थे और शिखा रखते थे। उनमें कुछ तो प्रायः नग्न रहते थे और कुछ शरीर में भभूत मले रहते थे। बहुत से भक्त मुक्ति के हेतु तपस्या करते थे।

वाराणसी में तीस विहार थे जिनमें सम्मितीय संप्रदाय के तीन सहस्र भिक्षु रहते थे। सारनाथ के विहार में पंद्रह सौ भिक्षु थे।

सारनाथ में कई महायानी मूर्तियाँ पाई गई हैं। इससे स्पष्ट है कि हुएन-सांग के वाराणसी में आगमन के कुछ काल के पश्चात् वहाँ महायान मत का प्रचार हुआ।[1]

---

१. देखिए आगे पृ० २८६-६०।

अध्याय १५

उत्तर प्रदेश के मुख्य बौद्ध केंद्र तथा स्मारक

बौद्ध धर्म के प्रारंभिक प्रसार का गौरव उस भूभाग को प्राप्त है जो वर्तमान उत्तर प्रदेश का उत्तर-पूर्वी भाग है। प्राचीन कोसल राज्य और उसके आसपास के जनपदों का इतिहास इस दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। बुद्ध के पूर्व इस क्षेत्र में एक लंबे समय तक वैदिक धर्म का जोर रहा। कोसल-नरेश प्रसेनजित् (पसेनदि) स्वयं वैदिक कर्मकांड के पोषक थे। ब्राह्मणों की शक्ति प्रबल थी और उनके पांडित्य की धाक उत्तर भारत में अनेक स्थानों में जमी हुई थी।

बोध गया में सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के अनंतर बुद्ध ने अपने कार्यक्षेत्र के लिए उत्तर प्रदेश के जिन स्थानों को चुना वे उनसे विशेष रूप से संबंधित होने के कारण कालांतर में प्रधान बौद्ध तीर्थों के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनमें बौद्ध धर्म, दर्शन और कला का एक लंबे समय तक विकास होता रहा। यहाँ बुद्ध के जन्म-स्थान लुंबिनी तथा अन्य प्रमुख बौद्ध केंद्रों का परिचय दिया जाता है—

१ लुंबिनी

लुंबिनी यद्यपि उत्तर प्रदेश की वर्तमान सीमा के बाहर है, पर वह प्राचीन कोसल राज्य के अंतर्गत थी। कपिलवस्तु[1] के जिस शाक्यकुल में बुद्ध उत्पन्न हुए थे उसका छोटा प्रदेश कोसल राज्य में ही सम्मिलित था। लुंबिनी[2] को 'रुम्मिनदेई' और 'रूपदेई' भी कहते हैं। अशोक के स्तंभ-लेख में इसका नाम 'लुमिनि' तथा चीनी ग्रंथों में 'लुन-मिन्', 'लुन-मिग', 'ल-फ-नि' आदि नाम पाए जाते हैं।

बौद्ध ग्रंथों में लुंबिनी को वन, प्रमोदवन या राजोद्यान कहा गया है। तिब्बतीय साहित्य में इस संबंध में जो अनुश्रुति मिलती है उसके अनुसार देवदह के राजा सुप्रबुद्ध

१. इस स्थान की पहचान उत्तर-पूर्वी रेलवे के नौतनवा स्टेशन से १२ मील उत्तर-पश्चिम तिलौराकोट नामक स्थान से की गई है।

२. यह उत्तर प्रदेश की उत्तर-पूर्वी सीमा के निकट ही नेपाल-तराई में स्थित है। यहाँ पहुंचने का मार्ग नौतनवा स्टेशन से है। नौगढ़ नामक दूसरे स्टेशन से भी लुंबिनी पहुँचा जाता है। हाल में ये दोनों रास्ते यात्रा-सुलभ बना दिए गए हैं।

ने इस प्रमोदोद्यान को अपनी लुबिनी नामक रानी के लिए बनवाया था। इसी से इसका नाम लुबिनी-उद्यान हुआ। परन्तु अन्य कथाओं में यह मिलता है कि लुबिनी राजा सुप्रबुद्ध के प्रधान मंत्री की पत्नी का नाम था। इस स्थान की स्थिति कपिलवस्तु तथा देवदह के बीच में थी और दोनों नगरों के लोग यहां उद्यान-चर्या के लिए आया करते थे।

लुबिनी को जो विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई वह गौतम बुद्ध का जन्म-स्थान होने के कारण ही। जब मायादेवी का प्रसव-काल निकट आया तब उनके इच्छानुसार उन्हें उनके पितृनगर देवदह की ओर ले जाया गया। लुबिनी उद्यान की प्राकृतिक मनोहरता को देखकर उन्होंने वहां कुछ क्षण विश्राम करने का निश्चय किया। उद्यान के एक वृक्ष[1] को उन्होंने अपने दाएँ हाथ से पकड़ा। उसी समय बालक सिद्धार्थ का जन्म हो गया। जन्म-स्थान होने के कारण लुबिनी उद्यान का गौरव बहुत बढ़ गया।

बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद एक बार बुद्ध अपने जन्मस्थान में पधारे। देवदह जाते हुए उन्होंने लुबिनी में विश्राम किया और यहां 'देवदह सुत्त' का उपदेश दिया।

मौर्य सम्राट् अशोक का ध्यान इस पवित्र जन्मस्थान की ओर आकृष्ट हुआ। अपनी धर्मयात्रा में सम्राट् स्वयं यहां आए। यहाँ आचार्य उपगुप्त के द्वारा यह बताए जाने पर कि यहीं भगवान् का जन्म हुआ था[2], अशोक बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने वहाँ दान-पुण्य किया और एक चैत्य-निर्माण का आदेश दिया। यात्रा को चिरस्मरणीय बनाने के लिए एक बड़ा पाषाण-स्तंभ भी वहाँ स्थापित किया गया।

ई० पाचवीं शती में फाहियान लुबिनी गया, परन्तु उसने अशोक के उक्त स्मारकों का कुछ जिक्र नहीं किया। उसने उस सरोवर की चर्चा की है जिसमें अनुश्रुति के अनुसार मायादेवी ने प्रसव के पहले स्नान किया था। उसने लुबिनी के उस कूप का भी उल्लेख किया है जिसके जल से नागराजों द्वारा भगवान् को स्नान कराया गया था।

सातवीं शती में हुएन-सांग का लुबिनी में आगमन हुआ। उसने इस स्थान का कुछ विस्तार से वर्णन किया है। सरोवर आदि के साथ उसने अशोक के स्तंभ का भी उल्लेख किया है तथा उन स्मारक-स्तूपों का भी जो निम्नोक्त स्थानों पर बनवाए गए थे—

(१) नागराज का प्राकट्य-स्थान, (२) वह जगह जहाँ उन्होंने गरम तथा ठंढे जल की दो धाराएँ उत्पन्न की थीं, (३) भगवान् बुद्ध को स्नान कराने का स्थान तथा

१. बौद्ध ग्रंथों में इसे शाल या प्लक्ष का पेड़ कहा गया है।
२. "अस्मिन् महाराज, प्रदेशे भगवान् जातः।"

(४) वह स्थान जहां जन्मोपरांत बालक को इंद्र तथा अन्य देवों ने अपने हाथों पर उठा लिया था।

वु-कुंग नामक एक अन्य चीनी यात्री ७९४ ई० में लुंबिनी गया। उसके बाद लुंबिनी के संबंध में जानकारी नहीं मिलती। मध्यकाल में जन्म-स्थान घने जंगलों से आच्छादित हो गया होगा।

१८९६ ई० में डा० फुहरर ने लुंबिनी के अशोक-स्तंभ का पता लगाया। इस स्थान की पहचान जन्म-स्थान से की गई। नेपाल सरकार द्वारा घने जंगल को साफ कराया गया और जन्म-स्थान के पास की भूमि में उत्खनन-कार्य भी हुआ। यह कार्य हाल में भी कराया गया है, जिससे लुंबिनी एक आकर्षक स्थान बन गया है। सड़कों के ठीक हो जाने से अब लुंबिनी पहुँचने में पहले-जैसी कठिनाई नहीं होती। लुंबिनी में यात्रियों के ठहरने की भी समुचित व्यवस्था कर दी गई है।

वर्तमान समय में लुंबिनी की दर्शनीय वस्तुओं में प्रमुख अशोक का अभिलिखित स्तंभ है। ई० सातवीं शती के पूर्व ही बिजली गिरने के कारण यह स्तंभ खंडित हो चुका था। जो भाग इस समय बचा है उसकी परिधि ७½ फुट तथा ऊँचाई १२½ फुट है। इस खंभे का लगभग १० फुट भाग जमीन के अंदर गड़ा है। हुएन-सांग ने इसके शिखर पर अश्व की मूर्ति देखी थी, जो अब अप्राप्य है। इस स्तंभ पर अशोक का एक लेख खुदा है। लेख की पंक्तियां बिलकुल सीधी हैं और अक्षरों की लिखावट अत्यंत सुंदर है। इसे देखने से लगता है मानो यह लेख अभी लिखकर तैयार किया गया हो।

इस लेख के अनुसार सम्राट् अशोक ने अपने राज्यारोहण के बीसवें वर्ष जन्म-स्थान की यात्रा की और यहां एक शिलास्तंभ तथा संभवतः एक मूर्ति की स्थापना की। लुंबिनी के ग्रामवासियों को कर-भार से भी मुक्त किया गया।

अशोक-स्तंभ के निकट एक छोटा मंदिर है। इसमें एक प्राचीन पाषाण-प्रतिमा स्थापित है। मूर्ति का विषय बुद्ध-जन्म है। माता मायादेवी वृक्ष के नीचे दक्षिणोन्मुख खड़ी हैं। एक हाथ से वे वृक्ष की शाखा थामे हैं और दूसरे से अपने वस्त्र ठीक कर रही हैं। उनकी बगल में नवजात शिशु है। समीप में अन्य लोग दिखाए गए हैं जिनमें प्रजापति गौतमी तथा इंद्र भी हैं।

वर्तमान मंदिर संभवतः प्राचीन जन्म-मंदिर के ही आधार पर बना है। उत्खनन में एक बड़े विहार या चैत्य का अंश भी निकला है। उसके समीप एक शुष्क तालाब है। जनश्रुति के अनुसार जन्मोपरांत बुद्ध को इसी के जल से स्नान कराया गया था। नेपाल सरकार द्वारा यहां प्राचीन सामग्री के आधार पर दो स्तूप बनवा दिए गए हैं।

२. सारनाथ

बौद्ध धर्म के इतिहास में सारनाथ का अत्यंत गौरवपूर्ण स्थान है। यहीं भगवान् बुद्ध ने अपना प्रथम धर्मोपदेश किया। इसी केंद्रबिंदु से धर्म का चक्र चतुर्दिक् प्रवर्तित हुआ। यहीं बौद्धसंघ की स्थापना हुई। बुद्ध के समय से लेकर लगभग १८ वीं शती तक सारनाथ में बौद्ध धर्म, दर्शन, कला और साहित्य [illegible] होते रहे।

सारनाथ के अभिज्ञान के लिए विद्वानों को वैसा परिश्रम नहीं करना पड़ा जैसा कि अन्य कतिपय स्थानों के संबंध में। चीनी यात्रियों ने इस स्थान की दूरी काशी नगरी से १० ली (लगभग २ मील) बताई है। परंतु वर्तमान काशी से सारनाथ लगभग ५ मील उत्तर पड़ता है। प्राचीन काल में जो सड़क काशी से मृगदाव (सारनाथ का प्राचीन नाम) को मिलाती थी उसके चिह्न आज भी दिखाई पड़ते हैं।

'सारनाथ' नाम अधिक प्राचीन नहीं है। जनरल कनिंघम का मत है कि यह पहले स्थानीय शिव-मंदिर का नाम था। वे इस नाम की व्युत्पत्ति 'सारङ्गनाथ' से करते हैं, जो शिव तथा बुद्ध दोनों के लिए प्रयुक्त हो सकता है। बौद्ध ग्रंथों में इस स्थान के नाम 'इसिपत्तन' (ऋषिपत्तन) तथा 'मिगदाव' या 'मिगदाय' (मृगदाव, मृगदाय) मिलते हैं।[1] द्वितीय नाम का आधार 'निग्रोध मृग जातक' की कथा है। इसके अनुसार एक बार बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने इसी स्थान पर मृग-योनि में जन्म लिया था। बोधिसत्त्व मृगराज से प्रसन्न होकर काशी के राजा ने उन्हें अभयदान दिया और इस वन-खंड को उनके हेतु सुरक्षित कर दिया। इसीलिए यह स्थान 'मृगदाव' वा 'मृगदाय' कहलाया।[2] सारनाथ से प्राप्त अभिलेखों में इस स्थान का नाम 'धर्मचक्र या सद्धर्म-चक्रप्रवर्तन विहार' भी मिलता है। यह नाम वस्तुतः यहाँ के एक विहार का था, जो बाद में समस्त सारनाथ का सूचक हो गया।

१. ऋषिपत्तन का अर्थ 'ऋषियों का निवास-स्थान' है। परंतु कुछ बौद्ध ग्रंथों में इसका अर्थ 'ऋषि का पतन' किया गया है। इन ग्रंथों के अनुसार प्रत्येकबुद्ध ने यहाँ निर्वाण प्राप्त किया था। 'दिव्यावदान' में 'ऋषिवदन' पाठ भी मिलता है और यह पाठ चीनी ग्रंथों में भी मिलता है।

२. जिनप्रभसूरि के 'विविध तीर्थकल्प' से पता चलता है कि काशी से तीन कोस दूर सारनाथ 'धर्मेक्षा' नाम से प्रसिद्ध था, जहाँ बोधिसत्त्व का गगनचुंबी आयतन था—'अस्याः कोशत्रितये धर्मेक्षा नाम संनिवेशो यत्र बोधिसत्वस्योच्चैस्तरशिखर-चुंबितगगनमायतनम्।' 'धमेख' नाम का स्तूप आज भी यहाँ विद्यमान है। (विविधतीर्थकल्प, सिंघी जैन ग्रंथमाला, सं० १९९१, पृ० ७४।)

सारनाथ का महत्त्व बुद्ध के समय में ही हो गया। सम्यक् सबुद्ध तथागत ने इसी स्थान को अपने प्रथम उपदेश के लिए चुना। उन्होंने अज्ञात कौंडिन्य तथा उसके चार साथियों को यहां 'धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्र' का उपदेश दिया। यह बुद्ध जी के जीवन की एक महान् घटना हुई, जिसका विस्तृत विवरण बौद्ध साहित्य में मिलता है और जिसका आलेखन कितने ही शिल्पियों ने करके अपनी कला को सार्थक माना। सारनाथ से प्राप्त एक शिलापट्ट पर यह दृश्य अत्यंत प्रभावोत्पादक ढंग से उत्कीर्ण है। भगवान् मध्य में "धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा" में आसीन हैं। उनके अगल-बगल पंचभद्रवर्गीय भिक्षु हैं। आसन के सामने प्रथम उपदेश का चिह्न धर्मचक्र बना है, जिसके दोनों ओर हरिण हैं।

सारनाथ में निवास कर बुद्ध सद्धर्म का उपदेश देते रहे। उनके अनुयायियों की संख्या में अनुदिन वृद्धि होने लगी। तीन मास के अनंतर जब उन्होंने संघ की स्थापना की उस समय ६० अनुयायी थे। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार बुद्ध के जीवनकाल में ही इस पवित्र स्थल पर दो विहारों का निर्माण किया गया। इनमें से एक के निर्माण का श्रेय बनारस के धनी व्यापारी यश को दिया जाता है।[1]

मौर्य सम्राट् अशोक के समय में सारनाथ की प्रसिद्धि बढ़ी। अशोक अपने धर्मगुरु उपगुप्त के साथ तीर्थ-यात्रा में यहां भी आए। उन्हें बताया गया कि यही वह स्थान है जहां बुद्ध द्वारा धर्मचक्र का प्रवर्तन किया गया—"अस्मिन् प्रदेशे महाराज भगवता धर्मचक्र प्रवर्तितम्।"

अशोक के आज्ञानुसार उपदेश-स्थान पर एक विशाल स्तंभ स्थापित किया गया, जिसके शीर्ष को चार सिंह-मूर्तियां अलंकृत कर रही थीं। एक धातु चैत्य का भी सम्राट् ने निर्माण कराया।

शुंग-काल (२०० पूर्व द्वितीय-प्रथम शती) में सारनाथ में एक वेदिका का निर्माण कराया गया, जिसके कुछ अवशेष सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इसी काल में एक अर्द्धचंद्राकार मंदिर का निर्माण यहां किया गया, जिसकी अब केवल नींव बची है। अनेक खंडित मूर्तियां भी मिली हैं, जिनपर चिकनी पालिश (ओप) है।

१. द्रष्टव्य 'बौद्ध मूर्तिकला', अध्याय १६, पृ० २८१।

२. परंतु उस काल की इमारतों का कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं। संभवतः बुद्ध के समय में भिक्षु पर्णशालाओं में रहते थे। इन पर्णशालाओं के स्वरूप का पता सांची, सारनाथ, मथुरा, अमरावती आदि की कला में मिलता है।

३. इस स्तंभ पर के अभिलेख में संघ-भेद पैदा करनेवालों के विरुद्ध राजाज्ञा है।

कुषाण-काल (१–१८० ई०) में सारनाथ में बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की अनेक प्रतिमाएँ बनाई गईं। प्रारंभिक मूर्तियाँ मथुरा-शैली पर आधारित हैं, जिसका एक उत्कृष्ट नमूना सारनाथ में प्राप्त भिक्षु बल की अभिलिखित मूर्ति है।

गुप्त-हर्ष-काल (३२०–६५० ई०) सारनाथ के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण युग है। इस काल में यहाँ आए हुए प्रथम चीनी परिव्राजक फाहियान ने सारनाथ में चार विशाल स्तूपों तथा दो संघारामों को देखा। दूसरे यात्री हुएन-सांग ने यहाँ ३० संघाराम पाए, जिनमें १,५०० भिक्षु रहते थे। वे सब सम्मितीय संप्रदाय के अनुयायी थे। मृगदाव की इमारतें उस समय आठ भागों में विभक्त थीं और वे एक ही प्राकार के भीतर थीं। हुएन-सांग ने कलापूर्ण चैत्यों, स्तूपों और मंदिरों का वर्णन किया है। एक विशाल बौद्ध मंदिर २०० फुट ऊँचा था। उसका निचला भाग पत्थर का और ऊपरला ईंटों का बना था। अशोककालीन स्तंभ की ऊँचाई हुएन-सांग ने ७० फुट लिखी है और भग्नावशिष्ट स्तूप की १०० फुट। उसने अनेक स्मारक-स्तूपों की भी चर्चा की है।[1]

सारनाथ को गुप्त नरेशों तथा सम्राट् हर्ष का साहाय्य प्राप्त था। कुछ बौद्ध प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना संभवतः गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त तथा बुधगुप्त के द्वारा की गई। इस काल की अनेक कलाकृतियाँ शारीरिक गठन तथा भाव-सौंदर्य की दृष्टि से उच्च कोटि की हैं।[2]

हर्षवर्धन के पश्चात् सारनाथ कनौज के गुर्जर-प्रतीहार शासन के अंतर्गत रहा। उस समय का कोई लेख यहाँ नहीं मिला। प्रतीहारों के बाद यहाँ पाल शासकों का आधिपत्य रहा। एक अभिलेख १०२६ ई० का और दूसरा १०५८ ई० का मिला है। प्रथम लेख में स्थिरपाल तथा वसंतपाल नामक दो बंधुओं के द्वारा सारनाथ के धर्मराजिका स्तूप तथा धर्मचक्र के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। इस लेख से यह भी पता चलता है कि उस समय सारनाथ पाल साम्राज्य के अंतर्गत था। दूसरे लेख के समय (१०५८ ई०) में सारनाथ पर चेदि राजा कर्ण का राज्य था।

ई० बारहवीं शती में सारनाथ को गाहड़वाल नरेशों का संरक्षण प्राप्त हुआ। सम्राट् गोविंदचंद्र की बौद्ध रानी कुमारदेवी ने यहाँ की कई प्राचीन इमारतों का जीर्णोद्धार कराया तथा एक बड़े विहार का निर्माण भी कराया। ११९४ ई० में गाहड़वाल शासक जयचंद्र मुहम्मद गोरी के द्वारा मारा गया और काशी नगरी की बड़ी बर्बादी हुई।

१. वाटर्स, आन युवान च्वांग, जिल्द २, पृ० ४८ तथा आगे।
२. इनके संबंध में द्रष्टव्य 'बौद्ध मूर्तिकला', अध्याय १६, पृ० २८६।

सारनाथ भी न बच सका। यहाँ की अनेक विशाल इमारतें नष्ट की गईं। सारनाथ के बौद्ध भिक्षु या तो मारे गए या अन्यत्र चले गए। धीरे-धीरे यह स्थान पूर्णतया निर्जन बन गया। यहाँ तक कि कालांतर में लोग इसके अस्तित्व तक को भूल गए। मुगल काल में यहाँ के टीलों पर एक इमारत बनी, जिसे 'चौखंडी' कहते हैं।

१७१८ ई० में काशी के जगतसिंह द्वारा जब धर्मराजिका स्तूप की ईंटें निकलवाई जा रही थीं तब हरे पाषाण की मंजूषा में कुछ अस्थि-खंड प्राप्त हुए। अस्थियों को गंगा में प्रवाहित कर दिया गया। परंतु लोगों का ध्यान इस प्राचीन स्थान की ओर आकृष्ट हो गया और यत्र-तत्र खुदाई की गई। इससे बड़ी हानि हुई। अनेक प्राचीन मूर्तियों को वरुणा नदी के पुल के निर्माण में लगा दिया गया।

१८३५ ई० में कनिंघम के द्वारा सारनाथ की पहचान की गई और उसने इस स्थान के संरक्षण की ओर ध्यान दिया। वैज्ञानिक ढंग से इस स्थान की खुदाई १९०४ ई० में प्रारंभ हुई और कई वर्ष तक जारी रही। इसके परिणामस्वरूप अनेक प्राचीन भग्नावशिष्ट इमारतें प्रकाश में आईं तथा पुरातत्त्वीय महत्त्व की अन्य बहुत सी सामग्री मिली।[1] अब भी यहाँ की भूमि के अंतराल में न जाने कितनी वस्तुएँ छिपी पड़ी हैं।

सारनाथ के गौरव के रक्षार्थ स्व० अनागरिक धर्मपाल तथा भारत की महाबोधि सभा के प्रयत्न विशेष रूप से सराहनीय हैं। उनके प्रयत्नों से १९३१ ई० में नवीन मूलगंधकुटी विहार बनकर तैयार हुआ, जो एक बड़ी भव्य इमारत है। इसकी दीवारें प्रसिद्ध जापानी कलाकार कोसेत्सु-नोमु के चित्रों से सुशोभित हैं। बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाएँ इन चित्रों के विषय हैं। ब्रह्मा, चीन तथा तिब्बत के बौद्धों द्वारा भी यहाँ पृथक्-पृथक् मंदिरों का निर्माण किया गया है। भारत सरकार तथा उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा सारनाथ में प्रायः सभी आधुनिक सुविधाओं का प्रबंध किया गया है।

१. कनिंघम, आर्केओलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, जिल्द १ (१८७१), पृ० १०५ तथा आगे।

२. ऐनुअल रिपोर्ट, आर्के० सर्वे ऑव इंडिया, १९०४-०५, पृ० ५९ तथा आगे; १९०६-०७, पृ० ६८ तथा आगे; १९०७-०८, पृ० ४३ तथा आगे; १९१४-१५, पृ० ९७ तथा आगे; १९१९-२०, पृ० २६--; १९२१-२२, पृ० ४२--; १९२७-२८, पृ० ९५--। खुदाई में प्राप्त अधिकांश वस्तुएँ स्थानीय संग्रहालय में हैं। सारनाथ के अवशेषों के संबंध में द्रष्टव्य 'मूर्तिकला' तथा 'वास्तुकला' संबंधी अध्याय।

३. सांकाश्य या संकस्स (संकिस)

प्राचीन साकाश्य की पहचान सकिसा नामक गांव से की गई है। यह गांव फर्रुखाबाद, एटा तथा मैनपुरी जिलों की सीमा पर २७.२०° उ० अक्षांश तथा ७९.२०° पू० देशांतर पर स्थित है। इसके समीप काली नदी बहती है, जिसका प्राचीन नाम 'इक्षुमती' था। आजकल सकिसा पहुँचने के लिए एक मार्ग शिकोहाबाद-फर्रुखाबाद रेलवे लाइन के मोटा नामक स्टेशन से है, जहाँ से सकिसा लगभग चार मील है। अधिक सुकर मार्ग पखना स्टेशन से है, जहाँ से सकिसा दक्षिण-पश्चिम ७ मील दूर है।

प्राचीन साहित्य में साकाश्य या सकस्स नगर के अनेक उल्लेख मिलते है। वाल्मीकि रामायण[1] में सीता के पिता मिथिला-नरेश सीरध्वज जनक के भाई कुशध्वज जनक का वृत्तांत मिलता है। जिस समय मिथिला में सीरध्वज जनक का शासन था उस समय साकाश्य के राजा सुधन्वा थे। कुछ कारणों से इन दोनों राजाओं के बीच युद्ध छिड़ गया, जिसमें सुधन्वा की पराजय हुई। सीरध्वज ने अपने छोटे भाई कुशध्वज को साकाश्य का अधिकारी बनाया। फर्रुखाबाद जिले में जनखद (जनक क्षेत्र) नामक एक अन्य प्राचीन स्थान है। इसका संबंध भी जनक के साथ बताया जाता है। सीता के विवाह के अवसर पर उसमें सम्मिलित होने के लिए कुशध्वज अपनी लड़कियों सहित साकाश्य से मिथिला गए।

पाणिनि ने अपने ग्रंथ अष्टाध्यायी[2] में साकाश्य का उल्लेख किया है। महात्मा बुद्ध के समय से इस नगर का महत्त्व बढ़ा। जो स्थान बुद्ध के जीवन से विशेष रूप से संबंधित हैं उनमें एक साकाश्य भी है। प्रसिद्ध है कि यहीं पर बुद्ध भगवान् त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से सीढ़ी द्वारा उतरे थे। उनके एक ओर इंद्र तथा दूसरी ओर ब्रह्मा उतरे थे। अवतरण का यह स्थान सकिसा गांव के पास बिसहरी देवी के मंदिर के समीप माना जाता है। इसकी बौद्ध लोग बड़ी श्रद्धा के साथ प्रदक्षिणा करते हैं। बौद्ध साहित्य में संकस्स-अवतरण की चर्चा बहुत मिलती है। भारतीय एवं यूनानी कलाकारों ने साकाश्य में बुद्ध के अवतरण का चित्रण उनके जीवन की अन्य प्रमुख घटनाओं के साथ बहुसंख्यक कलाकृतियों में किया है।

प्राचीन काल में साकाश्य नगर, कनौज तथा अतरजी नगरों के बीच में पड़ता था। मथुरा से भी यहाँ को एक मार्ग जाता था। ई० चौथी शती के अंत में फाहियान

१. आदिकांड, अ० ७०।
२ अष्टाध्यायी ४,२,८०।

मथुरा से सकिसा पहुँचा था। दूसरा चीनी यात्री हुएन-साग ६३६ में 'पीलोशन' (सभवत अतरजी खेडा) से साकाश्य पहुँचा। इस यात्री ने इस नगर का नाम 'कीपित्थ' (कपित्थ) दिया है। उसने इस नगर का तथा उस राज्य का, जिसकी यह राजधानी था, विस्तार से वर्णन किया है।

हुएन-साग के विवरण से तत्कालीन साकाश्य के सबध में कई बातों का पता चलता है। उस समय वहाँ बौद्ध धर्म के साथ-साथ शैव मत का प्रचलन था। नगर में अनेक विशाल मठ तथा मदिर विद्यमान थे। लोग साकाश्य को बहुत पवित्र स्थल मानते थे। मौर्य सम्राट् अशोक तथा उसके बाद के राजाओं ने इस नगर को अनेक सुदर इमारतों और कलाकृतियों से विभूषित किया था।

वर्तमान समय में प्राचीन स्मारकों के जो अवशेष सुरक्षित है उन्हें देखकर यह कहा जा सकता है कि अशोक के समय से लेकर प्राय गुप्त-काल के अत तक साकाश्य में स्थापत्य और मूर्तिकला का विकास होता रहा। चीनी यात्री हुएन-साग ने अशोक के एक स्तभ का उल्लेख किया है। वह पूरा खभा दुर्भाग्य से अभी तक प्राप्त नहीं हो सका। केवल उसका शीर्ष मिला है, जो आज भी सकिसा में विद्यमान है। इसपर हाथी की मूर्ति तथा विविध कलात्मक अलकरण है। यह शीर्ष बिसहरी देवी के मदिर के समीप रखा है।

सकिसा के टीलों में चादी और ताबे के आहत (पचमार्क्ड) सिक्के तथा कुषाण एव पचाल राजाओं के सिक्के अधिकता से प्राप्त होते है। कुछ दिन पूर्व यहाँ से एक महत्त्वपूर्ण ईंट (११" ६") मिली है, जिसपर ई० पूर्व दूसरी शती की ब्राह्मी लिपि में यह लेख खुदा है—

'भदमसस सवजीवलोके पुठगोरथस
भटिकपुतस जेठस ...[1] ।'

लेख की भाषा प्राकृत है। उसमें भटिक तथा भार्गवी के पुत्र दानदाता जेठ का नाम आया है।

सकिसा गाव ऊँचे टीले पर बसा है। अन्य टीलों की शृखला गाव के बाहर काफी दूर तक फैली है।[1] इसकी लबाई १,५०० फुट और चौडाई १,००० फुट है। लोग इसे 'किला' कहते हैं। सकिसा गाव के पूर्व लगभग दो फर्लांग दूर 'चौखडी' नामक

१. इन टीलों तथा सकिसा के अन्य प्राचीन स्थानों आदि के संबंध में द्रष्टव्य कनिंघम, आ० स० रि०, जिल्द १, पृ० २७१-७९; जिल्द ११, पृ० २२ तथा आगे; आ० स० इं०, ऐ० रि०, १९२५-२६, पृ० ११०।

स्थान है। यहां खुदाई करते समय पुरानी ईंटें बड़ी संख्या में मिली थीं। चौखंडी के दाईं ओर की भूमि 'पथवाली' कही जाती है। इसके आगे दक्षिण की तरफ 'नीवी का कोट' है। चौखंडी से लगभग दो फर्लांग उत्तर-पूर्व की ओर 'कुम्हर गढ़े' के खेत और टीले हैं। बरसात में यहां मिट्टी की मूर्तियां और मुद्राएं प्राय मिलती हैं। कुछ दूर पर 'टेढ़ा महादेव' का प्रसिद्ध मंदिर है। १६ फुट से अधिक लंबी पत्थर की एक लाट को 'टेढ़ा महादेव' कहते हैं। इस लाट का व्यास ३८ इंच है। इसके समीप ही मथुरा के लाल बलुए पत्थर का बना एक वेदिका-स्तंभ (ऊँचाई २' १") है। यह अठपहलू ढंग का बना है और इसका निर्माण-काल लगभग ८० पूर्व १०० है। सकिसा के टीलों से पाषाण और मिट्टी की मूर्तियों, मुहरों, सिक्कों आदि के रूप में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। अभी यहां के टीलों में उत्खनन की बड़ी आवश्यकता है। जो सामग्री यहां बिना खुदाई के प्राप्त होती रहती है उसका भी समुचित संरक्षण अपेक्षित है। बौद्धों का तीर्थस्थल होने के साथ सकिसा हिंदुओं के लिए भी एक पवित्र स्थान है।

सकिसा में यात्रियों के पहुंचने तथा उनके ठहरने की बड़ी असुविधा थी। हाल में पखना स्टेशन से लेकर सकिसा तक का मार्ग पक्का कर दिया गया है। ठहरने के लिए एक आवास-गृह का भी निर्माण किया गया है। यहां से प्राप्त कुछ कलाकृतियों को भी प्रदर्शित करने की व्यवस्था की जा रही है जिससे लोग प्राचीन नगर के वैभव की झांकी प्राप्त कर सकें।

८ कुशीनगर (कसिया)

जिस स्थान को भगवान् बुद्ध का पुनीत निर्वाण-स्थल होने का गौरव प्राप्त है वह देवरिया जिले का 'कसिया'[1] नामक स्थान है। प्राचीन कुशीनगर में इसका अभिज्ञान विल्सन तथा कनिंघम ने किया था जिसकी पुष्टि यहां प्राप्त हुए प्राचीन अवशेषों से हुई।

बुद्ध के पूर्व यह नगरी 'कुशावती' तथा 'कुशीनारा' (कुसीनारा) नामों से प्रसिद्ध थी। यह प्राचीन मल्ल राष्ट्र[2] (मल्लरट्ठ) की राजधानी थी। मल्ल राष्ट्र दो भागों में विभाजित था—एक की राजधानी पावा और दूसरी की कुशावती थी। इन दोनों

१. कसिया देवरिया से २१ मील उत्तर और गोरखपुर से ३३ मील पूर्व है। दोनों स्थानों से यहां तक अच्छी पक्की सड़कें हैं। कसिया वर्तमान देवरिया जिले की एक तहसील है।

२. महाभारत, ६, ९, ३४।

भागों की सीमा ककुत्था नदी (वर्तमान कुकु) थी। बौद्ध साहित्य में कुशीनगर के अन्य नाम 'कुशीनगरी' तथा 'कुशीग्राम' भी मिलते हैं। महापरिनिब्बान सुत्तन्त के अनुसार मल्लों का शालवन तथा कुसीनारा का उपवत्तन (उपनगर) हिरण्यवती नदी के समीप थे।[1] विंसेंट स्मिथ ने इस नदी की पहचान गंडक से की थी। उनका अनुमान था कि कुसीनारा छोटी राप्ती और गंडक के संगम पर नेपाल में बसा हुआ था।[2] परन्तु जब कसिया के निर्वाण-मंदिर के पीछे बड़े स्तूप से अभिलिखित ताम्रपत्र[3] निकला तब स्मिथ को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि कसिया ही प्राचीन कुशीनगर (कुसीनारा) है।[4]

अपनी चरम समृद्धि की दशा में कुशीनगर बारह योजन लंबा तथा सात योजन चौड़ा था। सातवीं शती में हुएन-सांग के समय में उसका विस्तार केवल १० ली (लगभग २ मील) रह गया।

बुद्ध के समय में कुशीनगर मुख्य स्थल-मार्ग पर स्थित था। नगर के समीप विस्तृत शालवन का एक भाग प्रमोद उद्यान था, जिसके नाम उपवत्तन, देववन तथा बलिहरण वन थे। उस समय मल्ल लोग बहुत शक्तिशाली थे।[5] उनके राज्य की गणना तत्कालीन सोलह बड़े जनपदों में की जाती थी।

पहले कुशीनगर में नृपतंत्र था और वहां महासम्मत वंश का शासन था। इस वंश के प्रमुख शासकों के नाम इक्ष्वाकु, कुश तथा महासुदर्शन मिलते हैं। दीपवंश के अनुसार तक्षशिला के शासक 'तक्षस्मर' के वंशजों ने बारह पीढ़ी तक कुशीनगर पर शासन किया। यह बताना कठिन है कि यहां मल्लों का अधिकार कब से हुआ तथा किस समय से यहां गणतंत्र की स्थापना हुई।[6]

१. दीघ निकाय, २, १३७; जर्नल ऑव दि रायल एशियाटिक सोसायटी १९०६, पृ० ६५९।

२. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आव इंडिया, (तृतीय संस्करण), पृ० १५९, नोट। हिरण्यवती वास्तव में छोटी गंडक है।

३. इस ताम्रपत्र पर 'परिनिर्वाण चैत्ये ताम्रपट्ट' यह लेख लिखा है। द्र० आर्केलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, १९११-१२, पृ० १७ तथा आगे।

४. चीनी यात्री हुएन-सांग ने 'कौ-शिह्-नकलो' नाम दिया है, जो 'कुशीनगर' का चीनी रूप है।

५. कौटिल्य ने मल्लों की गणना 'राजशब्दोपजीवी' संघों के अंतर्गत की है। (अर्थशास्त्र, ११, १, ६)।

६. मज्झिम निकाय (१, २३१) तथा अन्य कई बौद्ध ग्रंथों में कुशीनगर के गणतंत्र का उल्लेख मिलता है।

मल्ल लोग वशिष्ठ वश के क्षत्रिय थे। युद्ध-प्रिय होने के साथ-साथ वे विद्यानुरागी थे। उनके युवक उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिए सुदूर तक्षशिला तक जाया करते थे। मल्लो मे धार्मिक सकीर्णता न थी। बुद्ध, महावीर तथा अन्य धर्माचार्यों के प्रति वे सम्मान का भाव रखते थे। कल्पसूत्र से पता चलता है कि जैन तीर्थकर महावीर के निर्वाण-दिवस को मल्लो तथा उनके सहयोगियो ने समुचित रूप से मनाया।[1] उसी प्रकार बुद्ध का अतिम सस्कार उन्होने बडे उत्साह एव श्रद्धापूर्वक निष्पन्न किया।[2]

परिनिर्वाण के पूर्व बुद्ध कई बार कुशीनगर गए। वहाँ उनके प्रमुख अनुयायी दब्ब तथा बधुल थे। बधुल की पत्नी मल्लिका भी बौद्ध थी। बुद्ध के कुशीनगर आगमन पर एक बार मल्लो ने यह निश्चय किया कि जो व्यक्ति उनके स्वागत-सत्कार मे भाग न लेगा उसपर ५०० मुद्राओ का दड किया जायगा—

'यो भगवतो पच्चुग्गमन न करिस्सति पञ्चसत दण्डोऽनि।'

कुशीनगर मे बुद्ध शालवन उपवत्तन या बलिहरण वन मे ठहरा करते थे। वहीं पर उन्होंने 'कुशिनारा सुत्त', 'कितिसुत्त', 'महासुदस्सन सुत्तत' आदि सूत्रो का उपदेश किया।[3] महासुदस्सन जातक की कथा भी उन्होंने यहीं सुनाई थी। परतु उस समय कुशीनगर की गणना देश के प्रमुख नगरो मे न थी। बुद्ध जी ने इस 'क्षुद्र जगली शाखा-नगर' को ही अपने महापरिनिर्वाण के लिए उपयुक्त पाया, इस बात से उनके प्रमुख शिष्य आनद को खेद तथा विस्मय भी हुआ। उसने प्रतिवाद किया—"भन्ते! देश मे चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी तथा वाराणसी आदि महानगर है, भगवान् को उन्ही मे परिनिर्वाण प्राप्त करना चाहिए।"[4] तथागत ने आनद को ऐसे वचन कहने से रोका और कुशीनगर के भूतपूर्व गौरव का वर्णन किया। दिग्विजयी चक्रवर्ती राजा महासुदर्शन के शासन-काल मे यह ८४,००० नगरो मे प्रमुख था। उस समय कुशावती नगरी बडी रमणीक, जनाकीर्ण एव धन-धान्य-सपन्न

१. सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, २२, पृ० २६६।

२. महापरिनिब्बान सुत्तंत ५-६।

३. अंगुत्तर निकाय १,२७४; ५,७९; मज्झिम निकाय २,२३८ तथा आगे।

४. मा भन्ते भगवा इमिस्म कुड्डनगरके उज्जङ्गलनगरके साखनगरके परिनिब्बायतु। सन्ति हि भन्ते अञ्ञानि महानगरानि····एत्थ भगवा परिनिब्बायतु···। (दीघ० २,१४६, १६९)।

थी, और रात-दिन 'दस शब्दो' से गुंजायमान रहती थी।[1] इसके चार द्वार तथा सात प्राकार थे। महासुदस्सन सुत्तन्त में यहां के राजभवन, सरोवर तथा शाल-कुंजो के अतिरिक्त राजकीय वैभव का भी अतिरंजित वर्णन किया गया है।

बुद्धघोष की 'सुमंगलविलासिनी' के अनुसार तथागत ने निम्नोक्त तीन कारणों से कुशीनगर को परिनिर्वाणार्थ चुना था—(१) महासुदस्सन सुत्तन्त के उपदेश के लिए यही उपयुक्त स्थान था, (२) सुभद्र की प्रव्रज्या यहीं संभव थी तथा (३) अस्थि-विभाजन की समस्या को हल करनेवाला द्रोण नामक ब्राह्मण वहीं उपस्थित था। इनके अतिरिक्त पूर्व जन्मों में इसी स्थान पर भगवान् का सात बार शरीरान्त हो चुका था।[2]

तथागत ने अपना अंतिम वर्षाकाल वैशाली में व्यतीत किया। वहां पर वे अस्वस्थ हो गए। उन्हें यह भी आभास मिल गया कि जीवन-काल के केवल तीन मास शेष रह गए हैं।[3] वैशाली से चलकर भंडग्राम, हत्थिग्राम, अंबग्राम, जंबुग्राम तथा भोगनगर होते हुए वे पावा पहुंचे। वहां पर उन्होंने चुंद लोहकार का आतिथ्य स्वीकार किया। यह बुद्ध जी का अंतिम भोजन था। इसके पश्चात् ही उन्हें रक्तातिसार हो गया। परंतु उन्होंने यात्रा भंग न होने दी और कुशीनगर की ओर प्रस्थान किया। शालवन पहुंचकर उन्होंने आनंद से दो शालवृक्षों के मध्य (यमक सालान अंतरे) स्थित मंच पर अपने वस्त्र बिछा देने के लिए कहा। फिर उसी पर दाहिनी करवट, उत्तर दिशा की ओर सिर रखकर, लेट रहे। बुद्ध जी जानते थे कि उसी दिन उनका शरीरान्त होगा, अतः उन्होंने आनंद द्वारा मल्लों से कहला भेजा—"वाशिष्ठो! आज रात्रि के अंतिम प्रहर में तथागत का परिनिर्वाण होगा तुमको पीछे पश्चात्ताप न करना पड़े कि तुम लोगों के ग्राम में ही तथागत का परिनिर्वाण हुआ, फिर भी तुम उनका अंतिम दर्शन न कर सके।" यह संदेश पाते ही मल्लगण शोकाकुल हो उठे। आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष सब के सब रोते-कलपते शालवन पहुंचे। आनन्द ने उन सबको

१. ये नगर की समृद्धि एवं वैभव सूचक हस्ति, अश्व, रथ, भेरि, मृदङ्ग, वीणा, गीत, शंख, ताल तथा 'खाओ पिओ' (अन्नाथपिवथखादथाति) के शब्द थे। द्रष्टव्य दीघ० २, १४६-४७, १६९ तथा आगे; सैक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, ११, पृ० १००-०१; २४८-८८।

२. दीघ० २, पृ० १९८।

३. वही, २, पृ० १०६।

भगवान् के दर्शन कराए। बुद्ध का अंतिम कार्य था सुभद्र को प्रव्रज्या तथा उपसंपदा देना। यह परिव्राजक १२० वर्ष की अवस्था में भगवान् का शिष्य बना और उसने उनके सामने ही समाधिस्थ होकर अपनी इहलीला समाप्त कर दी। तत्पश्चात् उपस्थित भिक्षओं को संबोधित कर भगवान् ने कहा—"वयधम्मा संखारा अप्पमादेन सम्पादेथाति" (संस्कार नाशवान् हैं, अप्रमाद के साथ (जीवन के लक्ष्य को) पूर्ण करो)।[1] ये उनके अंतिम शब्द थे। इस प्रकार कुशीनगर में वैशाख पूर्णिमा की रात्रि के अंतिम प्रहर में इस महापुरुष ने ८० वर्ष की आयु में परिनिर्वाण प्राप्त किया।

कुशीनगर के निवासियों ने उनके अंतिम संस्कार का समुचित प्रबंध किया। छ दिन तक तो वे लोग भगवान के निष्प्राण शरीर का नृत्य, गीत, वाद्य तथा गंध-पुष्पादि से सत्कार करते रहे। सातवें दिन वे समारोहपूर्वक उसे मकुट बंधन चैत्य ले गए, और वहीं पर चक्रवर्ती-राजोचित विधान के अनुसार उसका दाहसंस्कार किया। तत्पश्चात् मल्लों ने भगवान् की पवित्र अस्थियों का संचय किया और उनको अपने संस्थागार में स्थापित किया। सांची के एक चित्र में यह दृश्य भी अंकित है।[2] अस्थियों की रक्षा के लिए विशेष आयोजन किया गया और सप्ताह पर्यंत उनका पूजा-सत्कार होता रहा। तब तक भगवान् के देहावसान का समाचार चारों ओर फैल गया। शीघ्र ही अन्यान्य राज्यों के दूत कुशीनगर में आ उपस्थित हुए और उन्होंने भगवान् की अस्थियों के विभाजन की माँग की। इस प्रसंग में वैशाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकप्प के बुलि, रामग्राम के कोलिय, पावा के मल्ल, मगधराज अजातशत्रु तथा वेठदीप (विष्णुद्वीप) के ब्राह्मण के नाम उल्लिखित हैं। कुशीनगर के मल्ल अस्थि-विभाजन के लिए तैयार न थे। अतः युद्ध अवश्यंभावी हो गया। प्रतिद्वंद्वी राज्यों के सैनिकों ने कुशीनगर को घेर लिया। परंतु उसी समय द्रोण नामक ब्राह्मण वहाँ उपस्थित हुआ। उसने सबको समझाया कि बुद्ध-जैसे शांतिप्रिय, क्षमाशील व्यक्ति की अस्थियों के लिए युद्ध करना उचित नहीं है। सभी अभियोक्ता उसकी बात मान गए। द्रोण ने भगवान् की अस्थियों को आठ सम भागों में विभाजित कर दिया। पिप्पलीवन के मौर्य पीछे आए और उन्हें चिताभस्म पाकर ही संतोष करना पड़ा। जो पात्र विभाजन में प्रयुक्त हुआ था उसे स्वयं द्रोण ने ही रख लिया। सब लोग अवशेषों को अपने-अपने नगर ले गए और वहाँ उनपर चैत्य बनवाए।[3]

१. दीघ० २, पृ० १५६; सै० बु० ई०, ११, पृ० ११४।
२. सांची की कला में अस्थि-विभाजन संबंधी दृश्य दर्शनीय हैं।

कुशीनगर अब तीर्थ रूप मे परिणत हो गया। समय-समय पर यहाँ स्तूप, विहार तथा चैत्य बनते रहे। परतु प्राचीन साधनो के अभाव मे बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् कुशीनगर का ठीक इतिहास ज्ञात नही। मल्लराष्ट्र मगध की साम्राज्यवादी नीति का शिकार हुआ और उसकी राजधानी का वैभव भी क्षीण हुआ। तथापि शालवन और मकुट बधन के चैत्यो की प्रसिद्धि बहुत समय तक बनी रही। वे दूर-दूर से देश-विदेश के यात्रियो को आकृष्ट करते रहे।

दिव्यावदान से विदित होता है कि ई० पू० तृतीय शताब्दी मे आचार्य उपगुप्त के साथ महाराज अशोक यहा आए। जैसे ही उन्होंने सुना कि इसी स्थान पर भगवान् का परिनिर्वाण हुआ था, वे मूर्छित हो गए।[1] तदनतर वहां चैत्य-निर्माणार्थ उन्होने एक लक्ष मुद्राएँ प्रदान की। सम्राट् के आज्ञानुसार, अन्य धातु-चैत्यो की भांति, कुशीनगर का स्तूप भी तोड़ा गया। उन्होंने भगवान् की अवशिष्ट अस्थियो को ८४,००० भागो मे विभाजित किया और उनके लिए साम्राज्य भर मे उतने ही स्तूपो की रचना की गई। कुशीनगर मे भी नवीन स्तूप का निर्माण हुआ। हुएन-साग के समय तक वहाँ पर अशोक निर्मित तीन स्तूप तथा दो स्तभ विद्यमान थे। मौर्यकालीन स्मारको के कुछ अवशेष पुरातत्त्व विभाग द्वारा की गई खुदाई मे भी प्राप्त हुए है।

कुशीनगर का यह वैभव चिरस्थायी न रह सका। पांचवी शताब्दी मे फाहियान ने इस प्रात का परित्यक्त तथा निर्जन पाया। शालवन के विहार मे उस समय भी भिक्षु रहते थे। परिनिर्वाण स्तूप के अतिरिक्त चार अन्य स्तूप भी थे, जो निम्नोक्त स्थानो पर बने हुए थे—(१) जहां सुभद्र को अर्हत्-पद प्राप्त हुआ था, (२) जहां वज्रपाणि यक्ष की गदा गिरी थी, (३) जहां मल्लो ने भगवान् बुद्ध के शरीर का सप्ताह पर्यत पूजन किया था तथा (४) जिस स्थान पर उनकी अस्थियो का विभाजन हुआ था।

दो शताब्दी पश्चात् हुएन-साग ने भी कुशीनगर को प्राय वैसी ही स्थिति मे पाया। मार्गों के अगार स्तूप से लेकर शालवन तक दुर्गम्य वन था, जिसमे जगली पशुओ के अतिरिक्त चोर और डाकुओ का भी भय रहता था। इस प्रदेश के नगर तथा ग्राम उजड़ गए थे। कुशीनगर की जनसख्या बहुत कम थी। इसका मध्य भाग तो नितात निर्जन था। नगर का प्राचीन प्राकार भी भग्न हो गया था। हुएन-साग ने यहां के विहारो की भिक्षु-सख्या का उल्लेख नही किया। परतु उसके भ्रमण-वृत्तात से हम

१. दिव्यावदान, पृ० ३९४।

तत्कालीन इमारतों का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। उनमें सर्वप्रमुख था ईंटों का वह विशाल मंदिर जिसमें बुद्ध जी की परिनिर्वाण-मूर्ति स्थापित थी। उसके समीप ही अशोक-निर्मित स्तूप था, जो भग्नावस्था में होते हुए भी २०० फुट से अधिक ऊँचा था। उसके सम्मुख मौर्यकालीन प्रस्तर-स्तंभ था, जिसपर परिनिर्वाण-वृत्तान्त उत्कीर्ण था। इनके अतिरिक्त शालवन में विभिन्न घटनाओं के स्मारक-स्वरूप स्तूप बने थे। दो का सम्बन्ध तो बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथा से था, अन्य स्तूप सुभद्र के निर्वाण, वज्रपाणि यक्ष के गदापतन, देवताओं द्वारा तथागत के शरीर-पूजन तथा महामाया के विलाप आदि स्थानों पर निर्मित थे।[1]

नगर के उत्तर में, नदी पार ३०० पग चलकर वह स्थान था जहां तथागत का दाह-संस्कार हुआ था। वहाँ भी एक स्तूप बना हुआ था। उसके निकट अन्य स्तूप भी थे। एक तो उस स्थान पर था जहाँ महाकाश्यप ने अंतिम बार भगवान् की पद-वंदना की थी। दूसरा स्तूप अशोक का बनवाया हुआ था। यह उस स्थान पर था जहाँ भगवान् की अस्थियों का विभाजन हुआ था। उसके सामने एक स्तंभ था जिसपर उपर्युक्त घटना का वृत्तांत उत्कीर्ण था। श्रद्धालु भिक्षु ने लिखा है कि चिता-भूमि में उस समय भी कोयले तथा भस्म के टुकड़े विद्यमान थे और जो व्यक्ति वहाँ पर विश्वासपूर्वक आराधना करते थे उन्हें भगवान् के अवशेष अवश्य प्राप्त हो जाते थे।

कार्लायल के द्वारा हुएन-सांग द्वारा वर्णित स्तूपों को ढूँढ निकालने का सराहनीय प्रयत्न किया। परन्तु उस समय से अब तक कुशीनगर की भूमि में महान् परिवर्तन हो चुका है। नदियों की धाराएं बदल गई हैं, प्राचीन इमारतें नष्ट हो चुकी हैं। यही नहीं, उनके खँडहरों पर बनी हुई इमारतें भी टीलों में परिवर्तित हो गई हैं। बहुत से टीलों को कृषकों ने तोड़कर खेत बना डाला है। दोनों स्तंभ भी अब तक अप्राप्य हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक प्राचीन स्मारक का स्थान निर्धारित करना असंभव हो गया है।

सातवीं शताब्दी के अंत में एक अन्य चीनी परिव्राजक इत्सिंग का आगमन यहाँ हुआ। उस समय कुशीनगर की अवस्था कुछ सुधरी हुई थी। इसका कारण संभवतः हर्ष का संरक्षण था। शालवन तथा मकुट बंधन चैत्य प्रमुख तीर्थ थे। वहाँ दूर-दूर

१. हुएन-सांग ने चुंद के निवास-स्थान के निकट एक स्तूप का उल्लेख किया है, परंतु अन्यान्य ग्रंथों से विदित होता है कि वह पावा का निवासी था। हुएन-सांग के वर्णन के लिए द्रष्टव्य वाटर्स, युवान च्वांग, २, पृ० २५–४५।

से सहस्रो की सख्या मे यात्री आया करते थे, विशेषतया शरद् और वसत ऋतुओ मे। स्थानीय विहार मे लगभग एक सौ भिक्षु रहा करते थे। उन लोगो को आगतुक भिक्षुओ का स्वागत-सत्कार करने मे किसी प्रकार की कठिनाई न होती थी। कुशीनगर के सघाराम मे समय की गणना किस प्रकार की जाती थी, इत्सिग ने इसका भी उल्लेख किया है। उसके साथ एक अन्य यात्री, ता-च्यंग-टेग भी आया था। वह कुशीनगर पहुँचकर अस्वस्थ हो गया और वही महापरिनिर्वाण विहार मे उसकी मृत्यु हो गई।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी मे कुशीनगर पर कलचुरी नरेशो का आधिपत्य था। कार्लायल को १८७५ ई० मे एक खडित शिलालेख प्राप्त हुआ था। इस राजवश के इतिहास का वही एक मात्र साधन है। इस लेख का अभिप्राय क्या था तथा किस राजा के शासन-काल मे वह लिखा गया था, यह अज्ञात है। इसमे कोई तिथि भी नहीं है। अनुमान है कि इसका सबध उसी सघाराम से था जिसके खंडहरो से यह प्राप्त हुआ है। यह अभिलेख शकर, पार्वती, तारा तथा बुद्ध की स्तुति से आरभ होता है और इस भाँति प्राचीन भारत मे धार्मिक सद्भावना का अत्युत्तम प्रमाण उपस्थित करता है। कसिया के ध्वसावशेषो से प्राप्त विष्णु, गणेश, गरुड आदि की मूर्तियाँ भी उसी भावना की प्रतीक हैं। इत्सिग के समय मे भी कुशीनगर तथा अन्यान्य सघारामो मे महाकाल की पूजा होती थी, जो महेश्वर (शिव) परिवार का देवता था।

तेरहवीं शताब्दी के लगभग कुशीनगर पर मुसलमानो का आक्रमण हुआ। कार्लायल को यहाँ अग्नि तथा असि द्वारा सपादित विध्वस काड के प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त हुए। इन खंडहरो मे इस बात का भी प्रमाण उपलब्ध है कि अतिम विनाश से पूर्व, पाँचवीं शताब्दी के लगभग भी, यहाँ अग्निकाड हुआ था। सभव है यह हूण आक्रमण-कारियो का कार्य रहा हो। तेरहवीं शती के बाद कुशीनगर परित्यक्त तथा विस्मृत हो गया, यहाँ तक कि इसका अस्तित्व भी कालातर म विवाद का कारण बन गया। १८६०-६१ ई० मे कनिघम को यहाँ पर माथाकुँवर का कोट तथा रामाभार नामक दो बडे टीले एव कुछ छोटे-छोटे टीले मिले। यह भू-भाग उस समय वनाच्छादित था। निकटवर्ती ग्रामो के निवासी यहाँ के खंडहरो से ईंटे निकाला करते थे। प्राचीन स्मारको का दुरुपयोग भी हो रहा था। भगवान् बुद्ध के चिता-स्तूप के ऊपर रामाभार भवानी का मदिर बन चुका था, और एक अन्य स्तूप पर किसी नट की समाधि थी।

आधुनिक युग मे सर्वप्रथम बुकनन तथा लिस्टन ने कसिया के अवशेषो का वर्णन किया, परतु ये विद्वान् उसके इतिहास से अवगत न थे। १८६० ई० मे जब

कनिंघम ने यह विचार प्रकट किया कि कसिया ही प्राचीन कुशीनगर है, तब से इतिहास-प्रेमियों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। कनिंघम के पश्चात् कार्लायल ने १८७५-७७ ई० में यहाँ अनुसंधान-कार्य किया। १८९३ ई० में भारत सरकार ने इस स्थान को अपने अधिकार में लिया। इस बीच कई व्यक्तियों ने यहाँ खनन-कार्य कराया, परन्तु पुरातत्त्व विभाग द्वारा वैज्ञानिक ढंग से उत्खनन १९०४ ई० में आरंभ हुआ, जो १९१२ ई० तक चलता रहा। बहुत से स्तूप, विहार तथा चैत्यों के अवशिष्ट भाग टीलों के गर्भ से निकालकर प्रकाश में लाए गए। ये स्मारक एक-दूसरे के सान्निध्य में ही नहीं, वरन् ऊपर-नीचे भी बने हुए हैं। तिथि तथा सवत् युक्त लेखों के अभाव में प्रत्येक स्मारक का इतिहास निर्धारित करना कठिन है। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् ही यहाँ स्मारक बनने लगे थे और यह क्रम बारहवीं शती तक चलता रहा। प्रयुक्त ईंटों के आकार-प्रकार विभिन्न इमारतों के समय निर्धारित करने में सहायक हैं।

कुशीनगर के अवशेष मुख्यत दो स्थानों पर केंद्रित है—एक शालवन में, जहाँ भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए थे, और दूसरे मकुटबंधन चैत्य में, जहाँ उनका दाह-संस्कार किया गया था। परिनिर्वाण-स्थल अब माथा-कुँवर के कोट के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे स्थल का प्रतिनिधित्व करता है रामाभार का टीला। मल्लों का प्राचीन नगर सभवत उस स्थान पर था जहाँ वर्तमान अनिरुधवा गाव है। यह गाव प्राचीन टीलों पर ही बसा हुआ है और कोट से लगभग २५,००० फुट दक्षिण-पूर्व की ओर स्थित है। अनिरुधवा के उत्तर-पूर्व भाग में एक ऊँचा टीला है। कनिंघम के अनुसार यह मल्लों के राजप्रासाद का अवशेष है। नगर के बाह्य भाग में ही बौद्ध-स्मारकों की रचना हुई थी। इसकी प्राचीर के कुछ अश भी प्राप्त हुए हैं।

माथाकुँवर के कोट के गर्भ में परिनिर्वाण मंदिर तथा स्तूप छिपे हुए थे। मंदिर का १८७६-७७ ई० में कार्लायल ने खोदकर निकाला। मंदिर की दीवारें तो कुछ ऊँचाई तक बच रही थीं, परन्तु उसकी छत बिल्कुल ही नष्ट हो गई थी। उसके भीतर एक ऊँचे मंच पर भगवान् बुद्ध की २० फुट लंबी परिनिर्वाणमूर्ति स्थापित थी। बुद्ध जी दाहिनी करवट लेटे हैं। सिर उत्तर की ओर है। दक्षिण बाहु सिर के नीचे रक्खा है और दूसरा हाथ जंघा पर है। पैर एक-दूसरे के ऊपर स्थापित हैं। सिंहासन के अग्र-भाग में एक पटिया पर तीन शोकग्रस्त मूर्तियाँ अंकित हैं।[1] वे सभवत आनंद, सुभद्र

१. इसी प्रकार की एक विशाल मूर्ति अजंता की २६ संख्यक गुफा में भी विद्यमान है।

तथा मल्लिका की प्रतिमाएँ हैं। इसी पटिया पर पाँचवी शती की लिपि में यह लेख उत्कीर्ण है—

'देयधर्म्माय महाविहार स्वामिनो हरिबलस्य ।
प्रतिमा चेय घटिता दिन्नेन माथुरेण ।।'

स्पष्ट है कि इस मूर्ति का प्रतिष्ठापक था स्वामी हरिबल और शिल्पी था मथुरा का दिन्न। यह मूर्ति टीले की ऊपरी सतह से १० फुट नीचे प्राप्त हुई थी। उस समय यह अत्यधिक टूटी हुई थी। कार्लायल ने मंदिर तथा मूर्ति की मरम्मत कराई। यह मंदिर मूर्ति के बाद का बना हुआ है। इसके नीचे प्राचीन मंदिरों के अवशेष विद्यमान हैं। परिनिर्वाण-मूर्ति ही कुशीनगर में सबसे अधिक पूज्य थी। इसी प्रकार की अन्य छोटी मूर्तियाँ भी खुदाई में मिली हैं।

मंदिर के पृष्ठ भाग में, परंतु उसी वेदी पर, परिनिर्वाण स्तूप बना हुआ है। इसको भी कार्लायल ने ही खोदकर निकाला था। उस समय यह बहुत ही जीर्णशीर्ण दशा में था। इसका अंड भाग तो बिलकुल ही नष्ट हो चुका था, केवल नीचे का भाग ही बच रहा था। इसके नीचे भी अन्य प्राचीन स्तूपों के अवशिष्ट भाग दबे हुए थे। हीरानंद शास्त्री ने इसके भीतरी भाग की परीक्षा की थी। ऊपर से पाँच फुट की गहराई पर उन्हें ईंटों के बने हुए दो स्वस्तिक-चिह्न मिले। कुछ और नीचे १८ फुट की गहराई पर एक वृत्ताकार कमरा-सा मिला। इसमें एक ताम्रघट रक्खा हुआ था, जिसका मुँह एक ताम्रपत्र द्वारा बंद था। घट में बालू, जले हुए कोयले, कौड़ी, मोती, माणिक तथा तांबे की दो नलियाँ पाई गईं। एक नली तो छूते ही टूट गई, परंतु दूसरी में राख, मोती, पन्ना और सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के ३ सिक्कों के साथ एक छोटी सी चाँदी की डिबिया भी प्राप्त हुई। उसके अंदर एक सोने की नली थी, जिसमें किसी तरल पदार्थ की दो बूंदें तथा भूरे रंग का कोई अन्य पदार्थ रक्खा था। ताम्रपत्र पर संस्कृत में 'निदान सूत्र' लिखा है। उसके अंत में स्वामी हरिबल का नाम आता है और यह भी उल्लिखित है कि यह ताम्रपत्र परिनिर्वाण चैत्य में स्थापित किया गया था। स्पष्टतः यह स्तूप भी पाँचवीं शती में बना था। अधिक नीचे खोदने पर, शिखर से ३.४ फुट की गहराई पर, एक लघु स्तूप मिला। उसके एक पार्श्व में छोटा-सा आला था, जिसमें भगवान् बुद्ध की मृन्मयी मूर्ति आसीन थी। स्तूप के भीतरी भाग में मिट्टी का एक पात्र था, जिसमें मिट्टी और जले हुए कोयले थे। संभवतः वे किसी भिक्षु की चिता से लाकर रखे गए थे। यह छोटा स्तूप पाँचवीं शताब्दी से कुछ ही पहले का प्रतीत होता है।

परिनिर्वाण मंदिर तथा स्तूप के सान्निध्य में समय-समय पर स्तूप, मंदिर तथा विहार बनते रहे। कुछ इमारतें विश्रामालय अथवा पाकशाला प्रतीत होती हैं। स्तूप भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के हैं। कतिपय स्तूपों में प्राचीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं और एक के अंदर से मिट्टी का घट मिला है। अन्य स्तूप स्मारक मात्र थे, अथवा श्रद्धालु उपासकों द्वारा स्थापित हुए थे। विहार अन्यान्य स्थानों के विहारों की भाँति ही बने हुए थे। उनमें से कुछ तो बहुत ही विस्तृत तथा भव्य रहे होंगे। उनकी दीवारों की मोटाई से ही विदित होता है कि उनपर एक से अधिक खंड थे। कई प्राचीन विहारों के कुएँ तथा नालियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

भगवान् बुद्ध के दाह-स्थान पर भी अनेक स्मारक बने, जिनमें मकुट बंधन नामक विहार तथा चैत्य प्रमुख थे। आजकल यह स्थान 'रामाभार का टीला' नाम से विख्यात है। रामाभार झील के पश्चिमी किनारे पर एक विशाल स्तूप के अवशेष हैं। कनिंघम के समय में इसकी ऊँचाई ४९ फुट थी। यहाँ पर १८७७ में खुदाई हुई थी, परंतु मिट्टी की कतिपय मुहरों के अतिरिक्त और कुछ न मिल सका। १९१०-१२ में इसकी पुन खुदाई हुई। तब मौर्यकालीन ईंटें प्राप्त हुईं, जो इसकी प्राचीनता का परिचय देती हैं। अवशिष्ट भाग से यह भी विदित होता है कि यह स्तूप परिनिर्वाण स्तूप की अपेक्षा अधिक विशाल था।[1]

कसिया के वर्तमान ध्वसावशेष आज भी कुशीनगर के विगत वैभव एवं समृद्धि का परिचय दे रहे हैं। वे इस बात के भी साक्षी हैं कि प्राचीन काल में बौद्ध जनता के लिए इस स्थान का कितना महत्व था। इसके खंडहरों में बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई है, जिसमें पाषाण की मूर्तियाँ, मिट्टी की तथा धातुनिर्मित मुद्राएँ एवं मुहरें, विभिन्न प्रकार के पात्र, अस्त्र-शस्त्र, चित्रित प्रस्तर-खंड तथा नक्काशीदार ईंटें सम्मिलित हैं। कुछ ऐसी ईंटें भी प्राप्त हुई हैं जिनके तले-ऊपर रखने से कई प्रकार की आकृतियाँ बन जाती हैं। उपलब्ध मूर्तियाँ मिट्टी की अथवा पाषाण की हैं। उनमें बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की प्रतिमाओं का बाहुल्य है। एक मूर्ति मायादेवी की है और एक अन्य सभवत सारिपुत्र की है। इनके अतिरिक्त विष्णु, गणेश, गरुड आदि पौराणिक देवताओं की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, यद्यपि उनकी सख्या बहुत कम है। इन मूर्तियों में सबसे अधिक विख्यात एवं दर्शनीय बुद्ध की परिनिर्वाण प्रतिमा ही है, जिसका विवरण दिया जा

१. पुरातत्त्व विभाग द्वारा खुदाई के विवरणों के लिए १९०४-०५, १९०५-०६, १९०६-०७ तथा १९१०-११ की वार्षिक रिपोर्टें विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

चुका है। एक अन्य बुद्धमूर्ति भी उल्लेखनीय है। श्याम पाषाण की यह खंडित मूर्ति अब 'माथाकुँवर' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी स्थापना कलचुरी-कालीन विहार में हुई थी। इसके पाद-पीठ पर ११ वीं शताब्दी की लिपि में एक लेख भी उत्कीर्ण है, जिसके अक्षर अब मिट गए हैं। कुछ लाल पत्थर की मूर्तियाँ भी हैं, जो मथुरा से लाई गई थीं। प्राचीन युग में मथुरा मूर्ति-कला का प्रधान केंद्र था और वहाँ के शिल्पियों द्वारा निर्मित देवमूर्तियों की सर्वत्र माँग रहती थी। मृन्मूर्तियों में कुछ पशु-पक्षियों की भी हैं।

खुदाई में धातु तथा पाषाण के बने हुए कुछ पात्र एवं अन्य उपयोगी वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं, जैसे—पत्थर की चक्की, सिल, नाँद, तश्तरी इत्यादि। धातुपात्रों में लोटा, कटोरी, कटोरा, चम्मच, घड़ा, घंटा, धूपदान इत्यादि सम्मिलित हैं। लोहे के चाकू, कीले, खूँटियाँ तथा कुछ अस्त्र-शस्त्र भी प्राप्त हुए हैं। परिनिर्वाण स्तूप में स्वर्ण, रजत तथा ताम्र की सामग्रियाँ भी मिली हैं, जिनमें धातुखंड रक्खे हुए थे। मिट्टी की बनी हुई वस्तुओं की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। इनमें विभिन्न आकार-प्रकार के बर्तन, दीपक, मिट्टी की गोलियाँ तथा मनुष्य अथवा पशु आकृतिवाले बर्तन उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ मूँगा, मोती, माणिक, हाथीदाँत की मोहरें तथा कौड़ियाँ भी प्राप्त हुई हैं, यद्यपि उनकी संख्या बहुत ही अल्प है।

कसिया की मृन्मयी मुद्राएँ विशेषत द्रष्टव्य हैं। वे सहस्रों की संख्या में प्राप्त हुई हैं। उनमें से अधिकांश तो कुशीनगर के ही दो प्रमुख संघारामों की हैं। कुछ एरंड, विष्णुद्वीप प्रभृति अन्यान्य विहारों की अथवा विशिष्ट व्यक्तियों की मुद्राएँ हैं। एक कुमारामात्य के अधिकरण की मुद्रा है। कुशीनगर के महापरिनिर्वाण एवं मकुट बंधन विहारों की प्राथमिक मुद्राओं पर अलग-अलग लेख तथा चिह्न अंकित हैं। एक पर दो शालवृक्षों के मध्य में बुद्ध जी का मृत शरीर एवं 'श्रीमहापरिनिर्वाण-महाविहारीयार्य भिक्षु संघस्य' आदि वाक्य लिखे हैं। दूसरे पर प्रज्वलित चिता तथा 'श्रीमकुट-बन्धन संघ' तथा 'श्रीबन्धन-महाविहारे-आर्यभिक्षु संघस्य' लेख हैं, परंतु दोनों ही विहारों की उत्तरयुगीन मुद्राएँ धर्मचक्र एवम् हिरण-चिह्न से अलंकृत हैं। वास्तव में यह सारनाथ-विहार का चिह्न था, परंतु क्रमश सभी विहारों में इसका प्रचलन हो गया। एक मुद्रा पर 'आर्य अष्ट वृद्धयै' शब्द उत्कीर्ण हैं। संभवत यह उन आठ स्तूपों की प्रतीक है जिनमें सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध के धातु-खंड रक्खे गए थे। मिट्टी की छोटी-छोटी पटियाँ भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुई हैं। उनपर बौद्ध 'धम्म परियाय' उत्कीर्ण है। किसी-किसी पटिया पर इसके साथ ही बुद्ध या बोधिसत्त्व की मूर्ति अथवा

स्तूप, चक्र आदि चिह्न भी अंकित हैं। कई पटियों पर मनुष्य का जर्जरित अस्थिपंजर मात्र बना हुआ है। अनुमान किया जाता है कि यह बुद्ध जी की तपस्या-मूर्ति है। ऐसी मूर्तियां गांधार कला में प्राय पाई जाती हैं।

कुशीनगर में कुछ सिक्के भी मिले हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। प्राचीनतम सिक्के जो यहां प्राप्त हुए हैं वे कुषाण शासक कैडफाइसेस द्वितीय तथा कनिष्क प्रथम के हैं। इनके अतिरिक्त गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम एवं शक क्षत्रप दामसेन के भी सिक्के मिले हैं। जयगुप्त नामक एक राजा के भी सिक्के पाए गए हैं।

सिक्कों की अपेक्षा उपलब्ध अभिलेखों की संख्या अधिक है। यद्यपि किसी भी लेख में तिथि अथवा संवत् का उल्लेख नहीं है तथापि उनकी लिपियों से स्पष्ट है कि वे विभिन्न युगों के हैं। अधिकांश लेख मुद्राओं, मुहरों तथा पटियों पर उत्कीर्ण हैं। कुछ मूर्तियों पर अंकित हैं। बुद्ध की विशाल परिनिर्वाण-मूर्ति के लेख का वर्णन हो चुका है। इस मूर्ति के रचयिता शिल्पी दिन्न का नाम एक अन्य मूर्ति के पादपीठ पर भी उल्लिखित है। इस मूर्ति का प्रतिष्ठापक भदन्त संवीर था। लेख इस प्रकार है—"देय धर्मोय शाक्यभिक्षो भदन्त संवीरस्य कृतिर्दिन्नस्य।' यहां के मुख्य स्तूप के अंदर से एक ताम्रपत्र मिला था। इसपर निदान-सूत्र काली स्याही से लिखा हुआ है। केवल प्रथम पंक्ति ही उत्कीर्ण है। इसके अंत में लिखा है—"(दे) य धर्मोय अनें (क विहार) स्वामिनो हरिबलस्य य (दत्र) पु(ण्यम्) तद् (भ) वतु सर्वसत्वानाग अनुत्तरज्ञानावाप्तये (महापरि नि) र्वाण चैत्ये ताम्रपट्ट इति।' यह हरिबल स्वामी संभवतः वही हैं जिन्होंने परिनिर्वाण-प्रतिमा की स्थापना कराई थी। एक अन्य ताम्रपत्र पर तीन पंक्तियों में 'धम्म-परियाय' उत्कीर्ण है। ऐतिहासिक महत्त्व का केवल एक ही अभिलेख उपलब्ध हुआ है और वह भी खंडित है। यह लेख कुशीनगर के कलचुरी शासकों का है। जिस श्याम प्रस्तरपट पर यह उत्कीर्ण है वह अब लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कसिया के खंडहरों से उपलब्ध सामग्री उसके महत्त्व एवं इतिहास के अनुपात में बहुत कम है। इसी कारण कतिपय विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि यहां के निवासी भिक्षु अपने मंदिरों और विहारों के नष्ट होने से पहले ही उनकी बहुमूल्य सामग्री अन्यत्र हटा ले गए थे। परन्तु यह भी संभव है कि स्वयं आक्रमणकारियों ने ही उनकी संपत्ति लूट ली हो।

बीसवीं शताब्दी में कुशीनगर का भाग्य-चक्र पुनः प्रवर्तित हुआ। आज फिर

वहां का वातावरण भगवान् बुद्ध की वाणी से निनादित हो रहा है। इस शुभ परिवर्तन का मुख्य श्रेय भिक्षु महावीर को है। १८९० से १९२० में अपनी मृत्यु पर्यंत यह कर्मठ भिक्षु कुशीनगर के पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील रहा। तत्पश्चात् महाथेरा चंद्रमणि ने उस भार को ग्रहण किया। इन दोनों व्यक्तियों ने इस प्राचीन तीर्थ की सर्वांगीण उन्नति के लिए अथक परिश्रम किया। इस सुकार्य में उन्हें ब्रह्मदेश के यू—फोच्यू तथा चटगाव के खी-जरी—जैसे दानशील व्यक्तियों से यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई। सर्व-प्रथम उन्होंने भिक्षुओं के रहने के लिए एक नवीन विहार का निर्माण कराया। तत्पश्चात् प्राचीन परिनिर्वाण मंदिर एवं उसके समीपस्थ परिनिर्वाण स्तूप का जीर्णोद्धार कराया गया। यह कार्य १९२६-२७ में पूर्ण हुआ। इस समय स्तूप की ऊंचाई ७५ फुट है और परिधि १६५ फुट। ब्रह्मदेश के बौद्ध यात्रियों ने इस स्तूप को तथा बुद्ध की परि-निर्वाण मूर्ति को भी सुवर्णान्वित करा दिया है। लगभग उसी समय माथाकुँवर नामक बुद्ध-मूर्ति के लिए भी प्राचीन आधार पर मंदिर का निर्माण हुआ। इस समय यह स्तूप तथा मंदिर ही कसिया के प्रसिद्ध दर्शनीय स्थान हैं। साथ ही यह बौद्ध तीर्थ शिक्षा एवं संस्कृति का भी केंद्र बन गया है। यहां पाठशाला, स्कूल तथा कालेज और पुस्तकालयों की स्थापना हो चुकी है और प्रतिवर्ष बुद्ध जयंती के अवसर पर मेला लगता है, जिसमें बहुसंख्यक व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। उस समय बुद्ध-पूजा, रथयात्रा, धर्मोपदेश आदि का आयोजन किया जाता है। इस महोत्सव का प्रारंभ १९२४ में हुआ था। आगंतुक यात्रियों के लिए अनेक धर्मशालाएं बन गई हैं, जिनमें बिड़ला द्वारा निर्मित 'आर्य विहार' मुख्य है। अन्य आवश्यक सुविधाएं भी शासन द्वारा की गई हैं।

५. श्रावस्ती (सहेत-महेत)

कनिंघम ने श्रावस्ती (सावत्थी) की पहचान सहेत-महेत (जि० गोंडा-बहराइच) से की थी। यह स्थान उत्तर-पूर्वीय रेलवे के बलरामपुर स्टेशन से पक्की सड़क के रास्ते दस मील दूर है। बहराइच से इसकी दूरी २१ मील है।

श्रावस्ती नगरी प्राचीन उत्तर कोसल राज्य की राजधानी थी। विष्णुपुराण (अध्याय ४, अंश ४) के अनुसार सूर्यवंशी राजा श्रवस्त या श्रावस्तक के द्वारा इसकी स्थापना हुई। श्री राम ने अपने पुत्र लव को श्रावस्ती का शासक बनाया।

बौद्ध तथा जैन साहित्य में सावत्थि या सावत्थिपुर नाम से इस नगर की चर्चा बहुत मिलती है। पाली टीकाओं में नगर के नाम के संबंध में लिखा गया है कि

जहाँ पर सब वस्तुएँ सुलभ हों वह नगर सावत्थी है (सब्बं एत्थ अत्थीति सावत्थी)।[1] 'श्रावस्ती' का ही बिगड़ा हुआ रूप 'सहेत' है।[2]

भगवान् बुद्ध के समय में उत्तर भारत के प्रमुख छ नगरों में श्रावस्ती की गणना थी। अन्य पाँच नगर चम्पा, राजगृह, साकेत, कौशाबी तथा वाराणसी थे। उस समय श्रावस्ती में बड़े धनाढ्य श्रेष्ठी (सेट्ठि) रहते थे, जिनके पास करोड़ों की सपत्ति थी। अनेक प्रकार के उद्योग-धंधे इस नगर में उन्नति पर थे। प्रमुख व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने के कारण श्रावस्ती नगरी वस्तुओं के आयात-निर्यात का प्रमुख केंद्र थी।

बुद्ध के समय में उत्तर कोसल का शासक प्रसेनजित् (पसेनदि) था। जब बुद्ध राजगृह में निवास कर रहे थे, तब महाराज प्रसेनजित् ने वहाँ जाकर उनके दर्शन किए। बुद्ध ने उन्हें कुमारदृष्टान्त सूत्र का उपदेश दिया।

बौद्ध ग्रंथों में प्रसेनजित् के पुत्र राजकुमार जेत और श्रावस्ती के धनी सेठ (महासेट्ठि) सुदत्त की कथा मिलती है। सुदत्त का दूसरा नाम अनाथपिंडिक था। उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उसकी प्रबल इच्छा थी कि महात्मा बुद्ध के निवास के लिए श्रावस्ती नगरी के निकट एक सुंदर विहार का निर्माण कराए। उसने इसके लिए नगरी के दक्षिण एक मील दूर राजकुमार जेत के उद्यान को सबसे उपयुक्त समझा। जेत से सुदत्त ने प्रार्थना की कि वह विहार के लिए उपवन की भूमि दे दे। राजकुमार इस शर्त पर राजी हुआ कि जितनी भूमि पर सुदत्त सोने के सिक्के बिछा देगा उतनी उसे प्राप्त हो जायगी। सुदत्त ने गाड़ियों में भरकर स्वर्ण-मुद्राएँ मँगाईं और उन्हें भूमि पर बिछाकर १८ करोड़ में उद्यान को खरीद लिया। फिर उसने वहाँ सारिपुत्त के निरीक्षण में अनेक शालाओं से युक्त विशाल जेतवन विहार का निर्माण कराया। महात्मा बुद्ध को आदरपूर्वक बुलाकर उसने उन्हें यह विहार अर्पित किया। इस प्रसिद्ध विहार में अनेक दर्शनीय कुटियाँ थीं।

भगवान् बुद्ध को जेतवन विहार बहुत प्रिय था। यहाँ उन्होंने पच्चीस वर्ष तक निवास कर भिक्षुओं एवं गृहस्थ स्त्री-पुरुषों को उपदेश दिए। उनके द्वारा ४१६

१. पपंचसूदनी (१, पृ० ५९) में 'सावत्थी' नाम की व्याख्या इस प्रकार दी है—"यं किंच मनुस्सानं उपभोग परिभोगं सब्बं एत्थ अत्थीति सावत्थी। सत्थ समायोगे च 'किं भण्डं अत्थीति' पुच्छिते सब्बं अत्थीति वचनमुपादाय सावत्थी।"

२. एक अनुश्रुति के अनुसार श्रावस्ती के महाश्रेष्ठि (महासेट्ठि) सुदत्त के नाम पर उसका नाम सहेत-महेत हो गया।

जातक कथाएँ एव अनेक सूत्र इसी स्थान पर कहे गए। इस विहार मे सहस्रो भिक्षु निवास करते थे। गधकुटी मे स्वय भगवान् बुद्ध का निवास था। अन्य कुटियो के नाम करेरि कुटी, कोसब कुटी, चदनमाला तथा मलगधर थे। अतिम का निर्माण सभवतः महाराजा प्रसेनजित् के द्वारा कराया गया था और अन्य का सुदत्त के द्वारा। बौद्ध साहित्य से यह भी पता चलता है कि जेतवन की भूमि के मूल्य रूप मे १८ करोड की जो सपत्ति राजकुमार जेत को प्राप्त हुई थी तथा पेडो की बिक्री का जो धन मिला था उसे उसने एक विशाल भवन के निर्माण मे व्यय किया। इस भवन को उसने बौद्ध धर्म के लिए समर्पित कर दिया।

जेतवन विहार के उत्तर-पूर्व मे भगवान् बुद्ध की समृद्ध शिष्या विशाखा ने 'पूर्वाराम' नामक एक बौद्ध सघाराम का निर्माण कराया। इसका निर्माण मोग्गलायन की अध्यक्षता मे सपन्न हुआ। अन्य विहार 'राजकाराम' तथा 'मल्लिकाराम' थे।

बुद्ध से शत्रुता रखनेवाले देवदत्त ने श्रावस्ती मे कई बार बुद्ध के प्राण लेने की चेष्टा की, परतु वह अपने प्रयत्नो मे विफल रहा। उसकी मृत्यु श्रावस्ती मे ही हुई।

प्रसेनजित् का पुत्र विडूडभ बौद्ध धर्म से चिढता था। उसकी माँ शाक्य-वशीय महानाम की दासी से उत्पन्न पुत्री थी। विडूडभ शाक्यो से बडा द्वेष मानता था। उसने मौका पाकर बहुसख्यक शाक्यो का वध कराकर अपने क्रोध को शात किया।

बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यो आनद, कुमार काश्यप आदि ने श्रावस्ती तथा कोसल के अन्य स्थानो मे बुद्ध की शिक्षा का प्रचार जारी रक्खा। सम्राट् अशोक के समय मे भी जेतवन की बडी प्रसिद्धि थी। अशोक अपनी धर्म-यात्रा मे जेतवन भी गया और उसने वहा उन चार स्तूपो की पूजा की जो सारिपुत्र, मोद्गल्यायन, महा-काश्यप तथा आनद की स्मृति मे बनाए गए थे।

बौद्ध ग्रथ महावश से ज्ञात होता है कि सिंहल के शासक दुट्ठगामनि के राज्य-काल मे जेतवन विहार से एक सहस्र भिक्षु महाथेर पियदस्सि की अध्यक्षता मे लका गए।

भारहुत तथा बोधगया के कई शिला-पट्टो पर भगवान् बुद्ध के समय की घटनाएँ प्रदर्शित हैं। जेतवन विहार के सुदत्त द्वारा क्रय किए जानेवाला दृश्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उपवन की भूमि पर सिक्के बिछाए जा रहे हैं। पास मे सिक्को से भरी हुई बैलगाडियाँ दिखाई गई हैं। भूमि-दानार्थ एक व्यक्ति जल का कमडलु लिए हुए खडा है। आश्चर्य-चकित दर्शक यह दृश्य देख रहे हैं। अन्य पाषाण-फलकों पर

महाराजा प्रसेनजित् के बुद्ध के सम्मानार्थ गमन,[1] बुद्ध के चिह्नों की पूजा आदि दृश्य अंकित हैं।

कुषाणकाल में भी श्रावस्ती उत्तर भारत का एक प्रमुख नगर था। बल नामक भिक्षु के द्वारा बनवाई गई एक विशालकाय बोधिसत्त्व-प्रतिमा श्रावस्ती में प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा मथुरा के कलाकारों द्वारा निर्मित हुई और वहाँ से श्रावस्ती भेजी गई। इस मूर्ति के लेख से पता चलता है कि ईसवी प्रथम शताब्दी में जेतवन विहार सर्वास्ति-वादी बौद्धों के अधिकार में था। भिक्षु बल की दो अन्य मूर्तियाँ सारनाथ तथा मथुरा में प्राप्त हुई हैं। इनके लेखों से विदित होता है कि सर्वास्तिवादी मत का प्रचार इस काल में सारनाथ तथा मथुरा में भी हो गया था।

कुषाणकाल के पश्चात् श्रावस्ती की अवनति आरंभ हुई। जब पाचवीं शती के आरंभ में फाहियान श्रावस्ती आया तब उसने देखा कि इस नगर में केवल २०० परिवार के लगभग रह गए थे। विहारों के स्थान पर नए मंदिर बन गए थे। समृद्ध नगरी अब उजाड़ हो गई थी। उसके दक्षिण में जेतवन विहार था, जिसका कुछ वर्णन इस यात्री ने किया है। उसने लिखा है कि विहार के समीप स्वच्छ जल के तालाब थे। उपवन में विविध रंग के फूलवाले लतावृक्ष थे। उसने जेतवन विहार को सात-मंजिली इमारत कहा है और लिखा है कि अकस्मात् आग लगने के कारण वह नष्ट हो गई। उसने बुद्ध की एक चंदन की मूर्ति का भी उल्लेख किया है, जो श्रावस्ती में विद्यमान थी। इस यात्री के समय में केवल जेतवन विहार में भिक्षुओं की काफी संख्या थी। इस विहार से कुछ दूर विशाखा द्वारा निर्मित पूर्वाराम विहार अब बिलकुल उजड़ गया था। हिंदुओं ने श्रावस्ती में अपने अनेक मंदिर बना लिए थे।

सातवीं शती में जब हुएन-सांग श्रावस्ती आया तब उसने इस नगर को बिलकुल उजड़ी अवस्था में पाया। नगर-दीवार लगभग २० ली (३ मील) के विस्तार में थी। नगर के निवासियों की संख्या बहुत घट गई थी। यद्यपि बौद्ध संघारामों की संख्या कई सौ थी, पर उनमें निवास करनेवाले बहुत थोड़े लोग थे। देवमंदिरों की संख्या १०० के आसपास थी, जिनमें बहुत से उपासक रहते थे। हुएन-सांग ने श्रावस्ती के प्राचीन भग्नावशेषों का जिक्र किया है। इनमें कई स्तूपों तथा विहारों के चिह्न एवं राजा

१. प्रसेनजित् की श्रद्धा वैदिक धर्म और कर्मकांडी पुरोहितों पर अधिक थी और बुद्ध के उपदेशों से वह बहुत कम प्रभावित हो सका। परंतु बुद्ध के प्रति वह बराबर सम्मान का भाव रखता था।

प्रसेनजित् के महल का अंश भी था। जेतवन विहार का उल्लेख करते हुए इस यात्री ने लिखा है कि वह नगरी से लगभग एक मील दक्षिण में था। उसके पूर्वी दरवाजे पर ७० फुट ऊँचे दो अशोक-स्तंभ थे। बाएँ खंभे के ऊपर एक चक्र था और दाएँ के ऊपर बैल की मूर्ति। जेतवन विहार के पास स्थित कई भग्नावशिष्ट स्तूपों का उल्लेख हुएन-सांग ने किया है। जेतवन से लगभग आधा मील पश्चिम-उत्तर अंधवन नामक वन था, जिसमें भक्त लोगों ने अनेक स्तूपों का निर्माण कराया था और अभिलेख लिखवाए थे।

आठवीं-नवीं शती के कुछ अभिलेख श्रावस्ती से मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि इस काल में भी जेतवन बौद्ध धर्म का केंद्र था। बारहवीं शती तक यहाँ पर बौद्ध भिक्षुओं के निवास का पता चलता है। इन भिक्षुओं को कनौज-शासन का संरक्षण प्राप्त था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध के समय से लेकर बारहवीं शती तक श्रावस्ती बौद्ध धर्म के एक महान् केंद्र के रूप में प्रसिद्ध रही। बारहवीं शती के बाद श्रावस्ती के संबंध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। संभवतः इसके बाद ही बौद्ध भिक्षु राजनैतिक परिस्थितियों के कारण जेतवन विहार छोड़कर चले गए और यह स्थान फिर पूर्णतः निर्जन हो गया।

गत शताब्दी में प्राचीन श्रावस्ती नगरी के अभिज्ञान की ओर यूरोपीय विद्वानों का ध्यान गया। १८६३ ई० में जनरल कनिंघम ने सहेत-महेत के कुछ टीलों की खुदाई कर अपना यह मंतव्य प्रकट किया कि यही प्राचीन श्रावस्ती थी। सहेत की खुदाई में उन्हें विशालकाय बोधिसत्त्व मूर्ति मिली, जिसे भिक्षु बल ने श्रावस्ती में स्थापित कराया था। जहाँ यह मूर्ति मिली, उसे कनिंघम ने कोसंब कुटी का स्थान अनुमान किया। १८७६ में कनिंघम ने फिर उत्खनन का कार्य किया, जिसमें उन्हें १६ स्तूपादि इमारतों के भग्नावशेष मिले। कोसंब कुटी के उत्तर में प्राप्त इमारत के खंडहर की पहचान उन्होंने गंध कुटी से की, जिसमें भगवान् बुद्ध स्वयं रहते थे।[1]

डा० हॉय द्वारा १८७५-७६ में सहेत में खुदाई का कार्य कराया गया। उन्हें यहाँ जैन तीर्थंकरों की कई प्रतिमाएँ मिलीं। जैन अनुश्रुति के अनुसार श्रावस्ती एक बड़े जैन तीर्थ के रूप में भी प्रसिद्ध था। इसका संबंध कई तीर्थंकरों के साथ रहा है।

१. आर्केओलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, जिल्द ११, पृ० ७८ तथा आगे; जिल्द १, पृ० ३३० तथा आगे।

डा० हॉय ने उत्खनन-कार्य १८८४-८५ में भी जारी रखा। उसके फलस्वरूप उन्हें ३४ प्राचीन इमारतों के अवशेष प्राप्त हुए।[1]

कनिंघम तथा हॉय द्वारा खुदाई में कई शिलालेख, मूर्तियाँ, मिट्टी की मुहरें तथा ताम्र-मुद्राएँ प्राप्त हुई। अधिकांश वस्तुएँ अब लखनऊ तथा कलकत्ता के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

१९०७-८ तथा १९१०-११ में भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग द्वारा फिर से श्रावस्ती में खुदाई का कार्य कराया गया।[2] महेत की खुदाई में ३०० से अधिक गुप्तकालीन मृन्मूर्तियाँ प्राप्त हुई। इनमें से कुछ पर रामायण तथा पुराणों के दृश्य हैं। अनेक मृत्फलक कला की दृष्टि से अत्यन्त सुंदर हैं। ये लखनऊ संग्रहालय में हैं।

भगवान् बुद्ध की २५०० जयंती के अवसर पर श्रावस्ती में आनेवाले बहुसंख्यक यात्रियों की सुविधा के लिए भारत सरकार तथा उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा आवश्यक प्रबंध किए गए हैं। बलरामपुर स्टेशन से महेत के आगे तक ११ मील की सड़क कोलतार की बना दी गई है। वहाँ से महेत तक पक्की सड़क बनाई गई है। आगत यात्रियों के लिए एक नलकूप का भी प्रबंध किया जा रहा है। बलरामपुर स्टेशन के विश्रामगृह को विस्तृत बनाया गया है। श्रावस्ती में एक जैन धर्मशाला है जिसमें यात्री ठहरते हैं। सरकार द्वारा भी यात्रियों के ठहरने की उचित व्यवस्था की जा रही है।

१. डब्ल्यू हॉय, 'सेत महेत', जर्नल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, जिल्द ६१, भाग १ (१८९२), पृ० १–६४।

२. आर्केअलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, एनुअल रिपोर्ट १९०७-०८, पृ० ८१ तथा आगे; १९१०-११, पृ० १ और आगे।

अध्याय १६

बौद्ध मूर्तिकला

बौद्ध मूर्तिकला का प्रारंभ सम्राट् अशोक के समय से मिलता है। उसके शासन-काल से बौद्ध मत भारत का एक लोकधर्म हो गया। अशोक ने उसके प्रसार में बहुमुखी योग दिया। मूर्ति एवं वास्तुकला का भी उपयोग इसके लिए किया गया।

अशोक के स्तंभ कला के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं। उत्तर प्रदेश में ये स्तंभ पूरे या खंडित रूप में सारनाथ, कौशांबी, प्रयाग और संकिसा में विद्यमान हैं। नेपाल राज्य की तराई में स्थित लुंबिनी तथा निगलीवा गाँवों में भी ये स्तंभ हैं। ये सभी चुनार के पत्थर के बने हैं। अशोक को यह पाषाण बहुत पसंद था। स्तंभों के दो भाग हैं—एक नीचे की लाट और दूसरा ऊपर का शीर्ष या परगहा। इन दोनों पर बहुत बढ़िया पालिश (ओप) मिलती है।[1]

स्तंभों के लाट गोलाकार तथा चढ़ाव-उतारदार हैं। ऊँचाई में ये ४०-५० फुट तक हैं। प्रत्येक का वजन लगभग ५० टन है। लाट के ऊपर के शीर्ष के पाँच भाग हैं—(१) इकहरी या दुहरी पतली मेखला जो लाट के ठीक ऊपर आती है, (२) उसके ऊपर कमल-पंखड़ियों का अलंकरण जो घंटाकृति-जैसा है, (३) उसके ऊपर कंठा, (४) गोल या चौखूँटी चौकी, तथा (५) उसके सिरे पर बैठे हुए एक या अधिक पशु। अन्य अलंकरणों में तो सुंदरता है ही, पर विशेष उल्लेखनीय पशुओं की आकृतियाँ हैं। इलाहाबाद और रामपुरवा के स्तंभों के ऊपर बैलों की आकृतियाँ बनी हैं। साथ में कमल आदि जो अलंकरण चुने गए हैं वे भी अत्यंत सजीव हो उठे हैं। शीर्ष के सिरे पर के जानवरों को चारों ओर से कोरकर गढ़ा गया है। ये जानवर सिंह, हाथी[2], बैल या घोड़ा हैं। इन चारों का संबंध भगवान् बुद्ध के साथ माना जाता है।

१. इस ओप के विधान के संबंध में कई मत हैं। कुछ लोगों का विचार है कि यह वज्रलेप या अन्य कोई मसाला है। दूसरे मतानुसार यह पत्थर की घुटाई के कारण उत्पन्न हुई है। दूसरा मत ही ठीक ज्ञात होता है। द्रष्ट० राय कृष्णदास, भारतीय मूर्तिकला (काशी, सं० १९९६), पृ० २४। यह विचार कि इस ओप को ईरान या यूनान से लिया गया, युक्तिसंगत नहीं है।

२. परगहों के अतिरिक्त उड़ीसा के धवली नामक स्थान में हाथी की एक प्रतिमा चट्टान में कोरकर बनाई गई है, जो अशोक के समय की है।

सारनाथ के शीर्ष या परगहे की चौकी सबसे सुदर है। उसपर उक्त चारो जानवर चार पहियो के बीच उभारकर बनाए गए है। चारो पहिए धर्मचक्र को सूचित करते है, जिसका प्रवर्तन सबसे पहले भगवान् बुद्ध द्वारा सारनाथ मे किया गया। सिरे की चार सिहाकृतियो के ऊपर भी एक धर्मचक्र था, जिसके टुकडे प्राप्त हुए है। इस धर्मचक्र का व्यास दो फुट नौ इच था। सिरे पर के सिहो का अकन अत्यन सजीव है। चारो को पीठ से पीठ मिलाए हुए दिखाया गया है। उनके अग-प्रत्यग गठीले है और बडी सफाई से गढकर बनाए गए है। लहरदार बालो की बारीकी भी दर्शनीय है। पहले इन सिहो की आँखो मे सभवत मणिया जडी हुई थी। यह परगहा निस्सदेह भारतीय मूर्तिकला का उत्कृष्ट उदाहरण है।[1] अशोक के समय की मूर्तिकला की यह विशेषता है कि उसमे सजीवता और निखारपन मिलता है और कही भी भद्दी या बेडौल रचना नही मिलती।

मौर्यकालीन और परवर्ती भारतीय कला मे अनेक ऐसे अभिप्राय या अलकरण मिलते है जो सुमेर, असीरिया, ईरान आदि की कलाओ मे भी उपलब्ध है। इनमे से कुछ ये है—सपक्ष सिह या बैल, नर-मकर, नर-अश्व, मेष-मकर, गज-मकर, वृष-मकर, सिह-नारी आदि। इनके सबध मे कुछ पाश्चात्य विद्वानो की यह मान्यता रही है कि भारतीय कलाकारो ने उन्हे ईरान या अन्य किसी पश्चिमी देश से लिया। डा० आनद कुमार स्वामी ने ऐसे अभिप्रायो की एक लबी सूची दी है और अपना यह विचार व्यक्त किया है कि भारत का पश्चिमी (लघु) एशिया से व्यापारिक सबध बहुत पुरातन रहा है, अत इसमे कोई आश्चर्य नही यदि अन्य क्षेत्रो की तरह कला के क्षेत्र मे भी बहुत सी बाते एक-दूसरे से साम्य रखती हुई पाई जायँ।[2] सभव है कि उक्त अलकरणो आदि का भारत तथा ईरान आदि देशो मे आयात एक ही स्थान से हुआ हो।

चिह्नो या प्रतीकों की पूजा

अशोक के समय से लेकर ई० पू० प्रथम शती के अत तक भगवान् बुद्ध की मूर्त-पूजा नही मिलती। बुद्ध तथा धर्म के प्रति निष्ठा व्यक्त करने के लिए कुछ सांकेतिक

१. इसके अनुकरण पर साँची, मथुरा आदि स्थानो मे भी सिह-शीर्षो का निर्माण किया गया, पर उनकी कला निम्न कोटि की है।

२. आनंद के० कुमार स्वामी—हिस्ट्री ऑव इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, प० ११–१४।

३. अशोक की कृतियो के अतिरिक्त मथुरा, पटना आदि से जो विशालकाय यक्ष-प्रतिमाएं मिली है वे विशुद्ध भारतीय शैली की है। उनमें विदेशीपन नहीं है।

चिह्नों की कल्पना कर ली गई थी। ये चिह्न धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, स्तूप, उष्णीष, भिक्षा-पात्र आदि थे। सारनाथ में बुद्ध द्वारा धर्म का जो प्रथम उपदेश दिया गया था उसे एक चक्र द्वारा व्यक्त किया जाता था। यह नया धर्म 'धम्मचक्कपब्बत्तनसुत्त' की संज्ञा द्वारा अभिहित हुआ। परवर्ती कला में इसकी अभिव्यक्ति इस रूप में मिलती है कि भगवान् बुद्ध बाएँ हाथ की उँगलियों के ऊपर दाएँ हाथ की उँगलियां इस प्रकार रखते हैं मानो वे चक्र घुमा रहे हों। बोधगया में जिस पीपल के पेड़ के नीचे उन्हें बुद्धत्व या सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हुई उसकी संज्ञा 'बोधिवृक्ष' प्रसिद्ध हुई। इस वृक्ष का चित्रण भी प्रारंभिक कला में मिलता है। प्राय वृक्ष को एक बाड़े के अंदर दिखाया जाता है, जिसे 'वेदिका' कहते हैं। तीसरा मुख्य चिह्न स्तूप था। बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यों के अवशेष स्तूपों के नीचे रखे जाते थे। अत स्तूप भी पूजा का एक प्रमुख चिह्न हो गया। इसी प्रकार बुद्ध की उष्णीष (पगड़ी), भिक्षापात्र आदि का पूजन भी सांकेतिक चिह्नों के अंतर्गत था।

साँची, भारहुत और बोधगया में जो प्रारंभिक कलाकृतियां मिली हैं उनमें उक्त चिह्नों का ही पूजन मिलता है। उसी प्रकार उत्तर प्रदेश के दो प्रमुख कला-केंद्रों, मथुरा तथा सारनाथ, में ई० पूर्व के जो बौद्ध कलावशेष मिले हैं उनपर भी ये चिह्न ही मिलते हैं, मूर्त रूप में भगवान् बुद्ध की प्रतिमा नहीं उपलब्ध होती। इसका एक मुख्य कारण यह है कि अशोक के समय में और उसके बाद उत्तर भारत में प्राय थेरवादी (हीनयानी) बौद्धों का जोर था। वे लोग प्रतीकों या स्मारकों की पूजा में ही विश्वास करते थे, मूर्ति-पूजा में नहीं। विभज्यवादिन्, सर्वास्तिवादिन् आदि इनकी अनेक शाखाएँ थीं। इनके मुकाबले में महासंघिक (महायान) मतवाले खड़े हुए। ये लोग मानुषी रूप में बुद्ध-प्रतिमा-निर्माण के पक्ष में थे। प्रारंभ में इनकी संख्या और शक्ति अधिक नहीं थी, अत प्रतिमा-पूजन का प्रचलन न हो सका। मथुरा में शक-शासक राजुवुल और उसके पुत्र शोडास के समय (ई० पूर्व प्रथम शती) का एक परगहा मिला है,[1] जिसपर खरोष्ठी लिपि में कई लेख उत्कीर्ण हैं। इन लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय मथुरा में थेरवाद मतवाले बौद्धों की सर्वास्तिवादिन् शाखा का जोर था। इनमें तथा महासंघिक लोगों में प्राय धार्मिक विवाद होते रहते थे। एक बार सर्वास्तिवादियों ने महासंघिकों से शास्त्रार्थ करने के लिए नगर नामक स्थान (अफगानिस्तान के जलालाबाद जिले में) से एक प्रसिद्ध विद्वान् को बुलाया था।

१. यह महत्त्वपूर्ण परगहा अब ब्रिटिश संग्रहालय, लंदन में है। इसकी एक प्रतिकृति मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है।

बुद्ध प्रतिमा का प्रारंभ

परन्तु मानुषी रूप में बुद्ध-प्रतिमा का निर्माण अधिक समय तक रोका न जा सका। उत्तर भारत में शुंग-काल में भक्ति की लहर प्रबल हो चली थी। विदेशी लोग तक विष्णु के भक्त होने लगे थे। यूनानी राजा अन्तलिकित के शासन-काल में हेलियोदोर नामक यवन ने बेसनगर में विष्णु के गरुड-स्तंभ की स्थापना की। हिंदू देवों[1] तथा जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का निर्माण शुंग-काल में होने लगा था। भक्ति की जो धारा इस युग में बही उससे बौद्ध धर्म अछूता न रह सका। अपने धर्म की ओर अधिक लोगों को उन्मुख करने के लिए बौद्धों ने यह आवश्यक समझा कि बुद्ध की मूर्ति का निर्माण किया जाय।

ई० सन् के आरंभ में उत्तर भारत में कुषाण राजाओं का शासन भी इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने में सहायक सिद्ध हुआ। कुषाण-सम्राट् कनिष्क (७८-१०१ ई०) बौद्ध मत का पोषक होने के साथ-साथ कला-प्रेमी था। उसके समय में मथुरा के शिल्पियों को बड़ा प्रोत्साहन मिला। मथुरा बौद्ध धर्म तथा मूर्ति कला का एक बड़ा केंद्र बन गया। विविध धर्मों से संबंधित सैकड़ों मूर्तियों का निर्माण कुषाण-काल में यहाँ हुआ।[2] मथुरा की बनी हुई मूर्तियों की मांग बाहर भी बढ़ी और वे सुदूर स्थानों तक भेजी जाने लगीं।[3]

बोधिसत्त्व तथा बुद्ध प्रतिमाएं

कनिष्क के शासन-काल के प्रारंभ में बोधिसत्त्व और बुद्ध की विशाल प्रतिमाओं

१. मथुरा से प्राप्त ई० पूर्व दूसरी शती की बलराम की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। यह इस समय राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में है। जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं का निर्माण भी ईसवी सन् के पहले प्रारंभ हो गया था, जिसके प्रमाण मथुरा कला में उपलब्ध हैं।

२. कनिष्क और उसके वंशजों के समय की निर्मित बहुसंख्यक बुद्ध-मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं। इनपर के लेखों से ज्ञात होता है कि इस काल में यहाँ अनेक बौद्ध स्तूपों, चैत्यों, विहारों के अतिरिक्त पुण्यशाला, पुष्करिणी, कूपादि का बड़ी संख्या में निर्माण किया गया। इन लेखों से तत्कालीन धार्मिक एवं आर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है।

३. मथुरा-कला में निर्मित बुद्ध और बोधिसत्त्व-प्रतिमाएं सारनाथ, कौशांबी, श्रावस्ती, साँची, तक्षशिला तक में मिली हैं, जिनसे इस बात की पुष्टि होती है।

का निर्माण होने लगा। ये मूर्तियाँ दो प्रकार की मिली है—एक खडी हुई और दूसरी पद्मासन पर स्थित। ज्ञान या सबोधि-प्राप्ति के पहले बुद्ध की सज्ञा 'बोधिसत्त्व' थी और उसके बाद 'बुद्ध' हुई। इन दोनो की प्रतिमाओ मे अतर यह है कि बोधिसत्त्व को मुकुट, ग्रैवेयक आदि विविध आभूषणो से अलकृत राजवेश मे दिखाया जाता है, पर बुद्ध को इनसे रहित केवल वस्त्र (चीवर) धारण किए हुए। बुद्ध के सिर पर बालो का जटाजट (उष्णीष) रहता है, जो उनके बुद्धत्व या ज्ञानसपन्नता का सूचक है। महायान सप्रदाय वालो की यह मान्यता है कि जीवो पर कृपा करके तथागत का पृथ्वी पर आगमन बोधिसत्त्व-रूप मे होता है और फिर वे बुद्धत्व या निर्वाण को प्राप्त होते है। भागवत मत के अवतारवाद मे यह विचार बहुत मिलता-जुलता है। गौतम बुद्ध से पहले अनेक बुद्धो के होने की कल्पना बौद्ध मत मे है। अशोक के समय मे और उसके बाद भी यह विश्वास मिलता है। अशोक ने कनकमुनि बुद्ध के स्तूप की मरम्मत कराई थी और नेपाल तराई के निगलीवा स्थान पर एक स्तभ भी उनके सम्मान मे बनवाया था। ये कनकमुनि गौतमबुद्ध के पहले बुद्ध हुए थे।

मथुरा-कला

गुप्त-काल मे मथुरा मे निर्मित बुद्ध और बोधिसत्त्व की जो प्रतिमाएं प्राप्त हुई है वे प्राय विशाल और हृष्ट-पुष्ट है।[1] उन्हे चारो ओर से कोर कर निर्मित किया गया है, जिससे उनका दर्शन चारो ओर से सुलभ हो।[2] उन्हे प्राय योगी रूप मे प्रदर्शित किया गया है। मुख पर मूछे नही मिलती। परतु पश्चिमोत्तर भारत की गाधार कला की मूर्तियो पर मूछे दिखाई जाती है।

अब प्रश्न यह है कि भारत मे सबसे पहले बुद्ध-मूर्ति का निर्माण कहा हुआ। इस विषय को लेकर विद्वानो मे काफी विवाद हुआ है। एक मत के अनुसार भारत के

१. मथुरा सग्रहालय मे कई ऐसी प्रतिमाएं है। मथुरा के बल भिक्षु द्वारा निर्मित जो विशालकाय प्रतिमाएं सारनाथ तथा श्रावस्ती में मिली है उनमे भी ये लक्षण स्पष्ट रूप से देखे जा सकते है।

२. गुप्तकालीन प्रतिमाओ मे प्राय: सामने का ही भाग दिखाया जाता था; मूर्तियों को कोर कर गढ़ने की प्रथा नहीं मिलती।

जिस पाषाण का प्रयोग मथुरा की मूर्तियों मे किया गया वह लाल बलुआ पत्थर है, जिसपर सफद चित्तियाँ होती है। यह पत्थर मथुरा के समीप रूपबास, तांतपुर, बयाना आदि में मिलता है।

पश्चिमोत्तर गंधार प्रदेश में प्रचलित कला में सर्वप्रथम बुद्ध-मूर्ति का निर्माण हुआ। दूसरा पक्ष इसका श्रेय मथुरा-कला को देता है। प्रथम मत के पोषक फूशे, विन्सेंट स्मिथ तथा जॉन मार्शल हैं। इनका कहना है कि गांधार शैली, जोकि पूर्णतया यूनानी कला की उपज है, बुद्ध-मूर्ति की जन्मदात्री है तथा मथुरा-कला का स्रोत भी वही है।

दूसरा मत इसके प्रतिकूल है। इसके समर्थक डा० कुमारस्वामी, हेवेल जायसवाल आदि हैं। इन लोगों की मान्यता है कि भारतीय कला के वस्तु-विषय तथा उपादान कुषाणों के समय गंधार पहुँचे। दूसरा दल यह मानता है कि पद्मासन में स्थित योगी-रूप में बुद्ध-मूर्ति का निर्माण बिलकुल भारतीय कल्पना है। इन विद्वानों ने इस बात की पुष्टि की है कि बुद्ध-मूर्ति का निर्माण मथुरा कला में आरंभ हुआ। मथुरा की कला-शैली मध्यभारत की भारहुत तथा साँची की शैली के साथ-साथ चल रही थी। शुंगकाल की तथा कुषाणकाल के आरंभ की जो मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं उनपर प्राचीन यक्ष-प्रतिमाओं[1] तथा साँची और भारहुत की कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह कलाशैली गांधार की वास्तविकता-प्रधान शैली से भिन्न है। पद्मासन में बैठी हुई बुद्ध और बोधिसत्त्व की प्रतिमाएँ उस परंपरा की हैं जिसे हम भारतीय साहित्य में तथा मोहेंजोदड़ो से लेकर प्राचीन जैन मूर्तियों में पाते हैं। इन बातों को देखते हुए यह माना नहीं जा सकता कि मथुरा की मूर्तिकला पर मूलतः गांधार कला की छाप है। मथुरा-शैली में थोड़ी-सी मूर्तियाँ ऐसी अवश्य मिली हैं जिनपर गांधार शैली का प्रभाव दिखाई पड़ता है, परन्तु वे अपवाद रूप हैं। ऐसी दो विचारधाराओं या कला-शैलियों के बीच आदान-प्रदान का होना स्वाभाविक ही है जो एक ही देश-काल में साथ-साथ विकसित हो रही हों।

मथुरा-कला की कुषाणकालीन बुद्ध-मूर्तियों में मस्तक प्रायः मुंडा हुआ रहता है। गुप्तकालीन प्रतिमाओं में सिर पर कुंचित या घुँघराले केश दिखाए जाते हैं। ललाट के बीच में गोल ऊर्णा मिलती है, जो कभी-कभी एक छोटे गड्ढे के रूप में प्रदर्शित की जाती है। इस गर्त में मूल्यवान् रत्न लगा रहता है। मथुरा कला की कुषाणकालीन उत्कृष्ट बुद्ध तथा बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ, जो स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं, संख्या ए० १, ए० २, ए० ४० तथा २७१८ हैं।[2]

१. प्राचीन यक्ष-मूर्तियाँ मथुरा जिले के परखम नामक गाँव से (मथुरा संग्रहालय, सं० सी० १) तथा अन्य कई स्थानों से प्राप्त हुई हैं।

२. लखनऊ, सारनाथ तथा कलकत्ता (इंडियन म्यूजियम) के संग्रहालयों में भी

मुद्राएँ

बोधिसत्त्व तथा बुद्ध-प्रतिमाएँ हाथों के द्वारा अनेक भावों को व्यक्त करती हैं। उन भाव-विशेषों को 'मुद्रा' कहते हैं। मथुरा-कला में निम्नलिखित चार मुद्राएँ मिलती हैं—

(१) **ध्यान मुद्रा**—इसमें बोधिसत्त्व या बुद्ध पद्मासन में बैठे हुए तथा बाएँ हाथ के ऊपर दायाँ रखे हुए ध्यानमग्न दिखाए जाते हैं।

(२) **अभय मुद्रा**—इसमें वे दाएँ हाथ को उठाकर उसे कंधे की ओर मोड़कर श्रोताओं या दर्शकों को अभय-प्रदान करते हुए दिखाए जाते हैं।

(३) **भूमि-स्पर्श मुद्रा**—इसमें ध्यानावस्थित बुद्ध दाएँ हाथ से भूमि को छूते हुए प्रदर्शित किए जाते हैं। जब बोधगया में उनके तप को नष्ट करने का प्रयत्न कामदेव द्वारा किया गया तब बुद्ध ने इस बात की साक्षी के लिए कि उनके मन में कोई भी काम-विकार नहीं, पृथिवी का स्पर्श कर उसका आह्वान किया था, जिसे उक्त मुद्रा द्वारा व्यक्त किया जाता है।

(४) **धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा**—इसमें भगवान् बाएँ हाथ की उँगलियों के ऊपर दाएँ हाथ की उँगलियों को इस प्रकार रखते हैं मानो वे चक्र घुमा रहे हों। यह दृश्य सारनाथ में उनके द्वारा धर्म के सर्वप्रथम उपदेश को सूचित करता है। यहीं से उन्होंने संसार में एक नए धर्म का प्रवर्तन किया।

इसके अतिरिक्त एक 'वरद मुद्रा' भी है, जो मथुरा में नहीं मिलती। इसमें भगवान् का दायाँ हाथ हथेली को इस प्रकार सामने किए नीचे लटकता है मानो वे वरदान दे रहे हों।

बुद्ध के जीवन की घटनाएँ

गौतम बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाओं को मथुरा-कला में प्रदर्शित किया गया

मथुरा की कुषाणकालीन बुद्ध एवं बोधिसत्त्व प्रतिमाओं के सुंदर उदाहरण हैं। हाल में अहिच्छत्रा (जि० बरेली) से मथुरा-कला की दो अत्यंत कलापूर्ण बुद्ध प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में हैं। इनमें से एक पर कुषाणकालीन ब्राह्मी लेख है।

है। इनमे लुबिनी मे बुद्ध का जन्म, बोधगया मे ज्ञानप्राप्ति (तथा मार का दमन), सारनाथ मे धर्म-चक्र-प्रवर्तन तथा कुशीनगर में परिनिर्वाण मुख्य है। इन चार प्रमुख घटनाओ के अतिरिक्त बालक बुद्ध का नागो द्वारा स्नान, इंद्रशैल गुफा मे स्थित बुद्ध के प्रति इद्र का सम्मान-प्रदर्शन, ब्रह्मा और इंद्र के साथ त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से बुद्ध का अवतरण, लोकपालो द्वारा बुद्ध को भिक्षा पात्र-समर्पण आदि अन्य कई घटनाओ का चित्रण भी मथुरा-कला मे मिलता है।

जातक कथाएँ

भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएँ 'जातक' कहलाती है।[1] इन कथाओ के अनुसार गौतम के रूप मे जन्म लेने के पूर्व बुद्ध अनेक योनियो में विचरे थे। मथुरा-कला मे कच्छप जातक, उलूक जातक, व्याघ्री जातक, वेस्सतर जातक, रोमक जातक, सुत-सोम जातक आदि की कहानियाँ बडे मनोरजक ढग से उत्कीर्ण मिलती है।

वेदिका स्तंभ

मथुरा की बौद्ध कला मे यहाँ के वेदिका-स्तभो का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वेदिका के खभो पर कुषाणकालीन लोक-जीवन का बहुमुखी चित्रण मिलता है। इनपर विविध आकर्षक मुद्राओं मे स्त्रियो को अकित किया गया है। वे अनेक प्रकार के आभूषण—यथा कर्णकुडल, एकावली, गुच्छक हार, केयूर, मेखला, नुपूर आदि धारण किए हुए दिखाई गई है। उनकी विविध ललित क्रीड़ाओं को भी इन स्तभो पर चित्रित किया गया है। कही कोई युवती उद्यान मे फूल चुन रही है, कोई कदुक क्रीडा मे लग्न है (जे० ६१)। कोई अशोक वृक्ष को पैर से ताडित कर उसे पुष्पित कर रही है (स० २३२५)। कोई निर्झर मे स्नान कर रही है अथवा स्नानोपरात तन ढँक रही है (जे० ४)। किसी के हाथ में वीणा (जे० ६२) और किसी के वंशी है तो कोई प्रमदा नृत्य मे तल्लीन है। कोई सुदरी स्नानागार मे निकलती हुई अपने बाल निचोड़ रही है और नीचे हस उन पानी की बूँदो को मोती समझकर अपनी चोच खोले खड़ा है (१५०९)। किसी स्तभ (जे० ५) पर वेणी-प्रसाधन का दृश्य है, किसी पर सगीतोत्सव का तो

१. बौद्ध ग्रंथो के अनुसार अधिकांश जातक कथाएँ भगवान् बुद्ध द्वारा उस समय कही गईं जब वे जेतवन विहार (श्रावस्ती) में निवास कर रहे थे।

किसी पर मधुपान का (१५१)। इस प्रकार लोकजीवन के कितने ही दृश्य इन स्तभो पर चित्रित मिलते है। कुछ पर भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मो से सबधित विभिन्न जातक कहानियाँ (सं० जे० ४ का पृष्ठ भाग) और कुछ पर महाभारत आदि के दृश्य (स० १५१) भी है। कुछ पर बुद्ध या बोधिसत्त्व की प्रतिमाएँ है, तो कही पूजक लोगों की। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशु-पक्षी, लता-फूल आदि भी इन स्तंभो पर बडे प्रभावपूर्ण ढग से उत्कीर्ण किए गए है। इन वेदिका-स्तभो को शृगार और सौंदर्य के जीते-जागते रूप कहना चाहिए, जिनपर कलाकारो ने प्रकृति तथा मानव जगत् की सौंदर्य-राशि उपस्थित कर दी है।

यक्ष, किन्नर, गंधर्व आदि

मथुरा-कला मे यक्ष, किन्नर, गधर्व, सुपर्ण तथा अप्सराओ की अनेक मूर्तियाँ मिलती है। ये सुख-समृद्धि तथा विलास के प्रतिनिधि है। सगीत, नृत्य और सुरापान इनके प्रिय विषय है। यक्षो की प्रतिमाएँ मथुरा-कला मे अधिक मिली है।[1] इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण परखम नामक गाँव से प्राप्त तृतीय श० ई० पू० की विशालकाय यक्ष मूर्ति (सी०१) है। यह सभवत माणिभद्र यक्ष की प्रतिमा है। ऐसी एक दूसरी बडी मूर्ति मथुरा के बडौदा गाँव से प्राप्त हुई है। ये मूर्तियाँ कोर कर बनाई गई है। कुषाणकाल मे ऐसी ही मूर्तियो के समान विशालकाय बोधिसत्त्व तथा बुद्ध की प्रतिमाएँ निर्मित की गई।

यक्षो मे कुबेर तथा उनकी स्त्री हारीती का स्थान प्रधान है। उनकी अनेक मूर्तियाँ मथुरा मे प्राप्त हुई है। कुबेर यक्षो के अधिपति तथा धन के देवता माने गए है। बौद्ध, जैन तथा हिंदू–इन तीनो धर्मों मे इनका पूजन मिलता है। बौद्ध धर्म में इनकी 'जंभाल' सज्ञा प्रसिद्ध है। कुबेर जीवन के आनदमय रूप के द्योतक है और इसी रूप मे इनकी अधिकाश मूर्तियाँ मिली है। सग्रहालय मे सख्या सी० २, सी० ५ तथा सी० ३१ कुबेर की उल्लेखनीय मूर्तियाँ है जिनमे वे सुरापान करते हुए चित्रित किए गए है।

१. भगवान् बुद्ध के समय मथुरा में यक्ष-पूजा का बड़ा जोर था। जब बुद्ध यहाँ आए तब एक नग्न यक्षिणी के द्वारा उनको अपमानित करने की चेष्टा की गई। बुद्ध ने मथुरा के गर्दभ आदि यक्षों का दमन किया। मथुरा-निवासियों द्वारा बुद्ध के सम्मान में ३,५००विहार बनवाने की बात बौद्ध ग्रंथों में मिलती है। द्रष्ट०नलिनाक्ष दत्त, गिलगिट मैनुस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३, भाग १।

इनके हाथो में सुरापात्र, बिजौरा-नीबू तथा रत्नों की थैली या नेवला रहता है। कुछ वर्ष पूर्व कुबेर की एक सुदर अभिलिखित मूर्ति (स० ३२३२) मथुरा से प्राप्त हुई है, जो ई० तीसरी शती की है। कुबेर के साथ उनकी स्त्री हारीती की भी मूर्ति मिलती है। यह प्रसव की अधिष्ठात्री देवी मानी गई है और मथुरा-कला मे उसका चित्रण प्राय बच्चो को गोद मे लिए हुए मिलता है।

मथुरा-कला मे अन्य यक्षियो का चित्रण भी मिलता है। इनके अतिरिक्त पूज्य प्रतिमाओं के साथ विविध अलकरणो के रूप मे किन्नर, गधर्व, अप्सरा, सुपर्ण, विद्याधर आदि भी मिलते है। किन्नर स्त्री-पुरुषों को आधा मानव और आधा अश्व के रूप मे दिखाया जाता है, जो सभवत स्फूर्ति और शक्ति का प्रतीक है। गधर्व गान-विद्या-विशारद माने जाते है और अप्सराएँ नृत्य-कुशला। सुपर्णों को सपक्ष पुरुष रूप मे आलेखित किया गया है। विद्याधर-मिथुन पुष्प-वृष्टि करते है। मथुरा, सारनाथ आदि की अनेक प्रतिमाओ के ऊपर पुष्पो की डलिया लिए हुए विद्याधरो को दिखाया गया है।

नाग-मूर्तियाँ

यक्षो के समान प्राचीन मथुरा मे नागो की पूजा भी मिलती है। इनका भी सबध विविध धर्मों से पाया जाता है। भगवान् कृष्ण के भाई बलराम को शेषनाग का अवतार माना जाता है। विष्णु की शय्या भी अनत नागो की बनी हुई कही गई है। जैन तीर्थकर पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्व के चिह्न नाग है। बौद्ध धर्म के अनुसार मुचुलिंद नामक नाग ने भगवान् बुद्ध के ऊपर छाया की थी तथा नंद और उपनद नागो ने उन्हे स्नान कराया था। रामग्राम स्तूप की रक्षा भी नागो द्वारा की गई थी।[1] इस प्रकार भारतीय धर्मो मे नागो का उच्च स्थान है।

नागो की मूर्तियाँ पुरुषाकार तथा सर्पाकार—दोनो रूपो मे मिलती है। शेषावतार रूप मे बलराम की जो मूर्तियाँ मिली है, उनके गले में वैजयती माला आदि आभूषण तथा हाथो मे मूसल और वारुणीपात्र दिखाए जाते है। मथुरा सग्रहालय मे इस प्रकार की कुषाण तथा गुप्तकालीन कई सुदर मूर्तियाँ (स० १३९९, ३२१०, सी० १९ तथा ४३५) है। नाग की सबसे विशाल मूर्ति सख्या सी० १३ है, जो पौने आठ फुट ऊँची है। यह छडगाँव, (जि० मथुरा) से प्राप्त हुई थी। इसमे नाग की कुडलियाँ बडे ओजपूर्ण तथा ऐडदार ढग से दिखाई गई है। इस मूर्ति की पीठ पर खुदे हुए लेख से

१. द्रष्टव्य मथुरा शिलापट्ट, सं० आइ० ९।

ज्ञात होता है कि यह महाराजाधिराज हुविष्क के समय चालीसवें वर्ष (सन् ११८ ई०) में सेनहस्ती तथा भोणुक नामक दो मित्रो के द्वारा बनवाकर प्रतिष्ठापित की गई। भूमिनाग (स० २११) तथा दधिकर्ण नाग[1] (स० १६१०) की भी मूर्तियाँ मथुरा सग्रहालय मे प्रदर्शित है। बलदेव मे दाऊजी की प्रसिद्ध विशालकाय मूर्ति भी कुषाणकाल की उल्लेखनीय कृतियो मे है।

शक-कुषाण राजाओं की प्रतिमाएँ

मथुरा से शक-कुषाण राजाओ तथा अभिजात्य वर्ग की कई अत्यत महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ मिली है, जैसी कि भारत मे अन्यत्र नही मिलती। मथुरा से लगभग ८ मील दूर माट नामक स्थान मे कुषाण राजाओ का एक देवकुल था, जहाँ से इन राजाओ की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। दूसरा देवकुल सभवत यमुना-तट पर गोकर्णेश्वर टीला पर था।

विम कैडफाइसिस की मूर्ति (स० २१५)—इस विशालकाय मूर्ति मे, जिसका सिर नही है, महाराज विम सिंहासनारूढ दिखाए गए है। वे लबा चोगा, गुलूबद, सल्वारनुमा पायजामा तथा चमडे के तसमो से कसे हुए मोटे जूते पहने है। मूर्ति पर राजा का नाम लिखा है।

कनिष्क की प्रतिमा (स० २१३)—कनिष्क कुषाण वश का सब से प्रतापी सम्राट् था। उसकी वेशभूषा विम से बहुत मिलती-जुलती है। उसके दाएँ हाथ मे राजदड तथा बाएँ में तलवार है। मोटे जूते, जिन्हे गिलगिटी जूते कहते है, दर्शनीय है। इस मूर्ति पर भी राजा का नाम उसकी उपाधियो सहित लिखा है।

चष्टन की मूर्ति (स० २१२)—चष्टन पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप-वश का जन्म-दाता था। इस मूर्ति की भी वेशभूषा उपर्युक्त मूर्तियो के समान है। इसका चोगा जरीदार है तथा कमरबद भी अलकृत है।

इन मूर्तियो के अतिरिक्त यथोक्त वेशभूषा धारण किए हुए अनेक शक राजकुमारो तथा सरदारो की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई है।

गांधार कला में शक महिषी की मूर्ति (स० एफ ४२)—यह मूर्ति यमुना-किनारे स्थित सप्तर्षि टीले से प्राप्त हुई है और नीले मिलेटी पत्थर की बनी है। यद्यपि यह गाधार कला की कृति है, जो मथुरा-कला से भिन्न है, तथापि मथुरा मे इसका पाया

१. इस दधिकर्ण नाग का मथुरा में एक मंदिर भी था।

जाना बडे महत्त्व की बात है। उसी स्थान से प्राप्त खरोष्ठी के एक शिलालेख से ज्ञात हुआ है कि शक-शासक राजुवल तथा उसकी पत्नी कमुइअ (कंबोजिका) ने मथुरा मे गुहा–विहार का तथा एक बौद्ध स्तूप का निर्माण कराया। इस मूर्ति को उसी कबोजिका की अनुमान किया जाता है।

गुप्तकालीन कला

गुप्त-काल (३००–६०० ई०) में मथुरा-कला चरमोत्कर्ष पर पहुँची। इस समय की बुद्ध की जो प्रतिमाएँ मिली है उनमें सुरुचिपूर्ण अंग-विन्यास के साथ करुणा, शाति और आनद का अद्‌भुत समन्वय मिलता है। भिक्षु यशदिन्न द्वारा प्रतिष्ठापित अभय-मुद्रा मे बुद्ध-मूर्ति (मथुरा सग्रहालय ए० ५) ऐसी ही है। उसे देखने से पता चलता है कि मथुरा के गुप्तकालीन शिल्पी शारीरिक सौंदर्य के साथ लोकोत्तर भाव की अभि-व्यक्ति किस सहज रूप मे करते थे। दूसरी ऐसी ही सर्वांग सुदर प्रतिमा राष्ट्रीय सग्रहालय, नई दिल्ली में है। इन दोनो मूर्तियो के सिर के पीछे कलापूर्ण प्रभामंडल है। पत्रावलियो आदि से अलकृत प्रभामडल गुप्तकाल की विशेषता है। कुषाणकालीन प्रभामडल सादे मिलते है।

श्रीकृष्ण के प्रसिद्ध जन्मस्थान के निकट कटरा केशवदेव मे एक बौद्ध विहार था, जिसका नाम 'यशाविहार' था। इसका पता वहाँ से प्राप्त बुद्ध की एक अभिलिखित मूर्ति से चला है, जिसे जयभट्टा नामक महिला ने दान में दिया था। यह मूर्ति सपूर्ण है और गुप्त-कला का एक अच्छा उदाहरण है।[1]

गुप्तकालीन बुद्ध एवं बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ मथुरा के जमालपुर, जयसिंहपुरा, कटरा, चौबारा आदि स्थानो से प्राप्त हुई है। इन स्थानो में इस काल के अंत तक कई बौद्ध विहार थे।[2] अनेक विशाल जैन तथा हिंदू इमारतें भी इस समय विद्यमान थी।

मध्य काल

छठी शती के प्रारभ मे हूणो के आक्रमण के कारण मथुरा को बडी क्षति पहुँची।

१. इस समय यह प्रतिमा राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में है।

२. फाहियान ने मथुरा में यमुना के दोनों तटों पर २० संघारामों का उल्लेख किया है, जिनमें लगभग ३,००० भिक्षु रहते थे। सातवीं शती में हुएन-सांग के समय में भी २० विहार थे, जिनमें रहनेवालों की संख्या घटकर २,००० रह गई थी।

कितनी ही इमारतो को ढहा दिया गया और मूर्तियों को नष्ट किया गया। मथुरा में बौद्ध धर्म को इस आक्रमण से गहरा धक्का पहुँचा। छठी शती बाद की बौद्ध मूर्तियाँ मथुरा मे नाममात्र को ही मिली है और उनकी कला में वह सजीवता तथा मौलिकता नही दिखाई देती जो कुषाण एव गुप्तकालीन कला में है। पौराणिक हिंदू धर्म का उत्थान भी मथुरा में बौद्ध धर्म और कला के ह्रास का कारण था। मध्य काल में जिन स्थानो में बौद्ध धर्म की अवनति आरंभ हुई उनमें एक मथुरा भी था। महमूद गजनवी के आक्रमण (१०१७ ई०) ने मथुरा में बौद्ध धर्म की रही-सही सत्ता को समाप्त कर दिया। उसके बाद यहाँ के बौद्ध विहार उजाड हो गए और भिक्षु लोग अन्यत्र चले गए।

सारनाथ

उत्तर प्रदेश का दूसरा बडा केंद्र, जो बौद्ध मूर्तिकला के लिए प्रसिद्ध है, सारनाथ है। यहाँ अशोक के समय से लेकर लगभग ई० बारहवी शती तक बौद्ध कला का विकास होता रहा। मथुरा के कलाकार मूर्ति-निर्माण के लिए रूपबास, बयाना आदि स्थानो मे उपलब्ध लाल बलुए पत्थर का प्रयोग करते थे। सारनाथ में हमे चुनार के लाल पत्थर का प्रयोग मिलता है, जो पहले की अपेक्षा कही अधिक स्थायी और मूर्ति-निर्माण के लिए उपयुक्त है। अशोक के समय मे सारनाथ मे चुनार के इसी पत्थर का प्रयोग किया गया। सारनाथ से प्राप्त मूर्तियाँ वहाँ के सग्रहालय मे प्रदर्शित है।

शुग तथा कुषाण काल मे सारनाथ में जो इमारतें बनी उनके अवशेष वेदिकास्तभ तथा अन्य शिलापट्टो के रूप मे मिले है। शुगकालीन अवशेषो पर चिह्नो के रूप में बुद्ध का पूजन मिलता है। उक्त स्तभो पर स्तूप, धर्मचक्र, त्रिरत्न, पूर्णघट, कमल आदि का चित्रण बडे प्रभावोत्पादक ढग से किया गया है। मत्स्य-पुरुष, किन्नर, पशु-पक्षी आदि का आलेखन भी सुदर है। शुगकालीन एक यक्ष-मूर्ति (डी०-एच० ५) यहाँ भी मिली है। कुछ मौर्यकालीन ओपयुक्त सिर भी प्राप्त हुए है। इनमें घुटे हुए सिर (बी० १), विदेशी का लबी ऐठदार मूछोवाला चेहरा (डबल्यू० ४) तथा स्त्रियो के दो शुगकालीन सिर (२२१ और २२९) दर्शनीय है। शोकमग्ना स्त्री की भी एक मूर्ति प्राप्त हुई है, जो वेदना की प्रतिमूर्ति-सी जान पडती है। उसके केशविन्यास तथा वस्त्रों को कलापूर्ण ढंग से दिखाया गया है। शुगकाल का एक परगहा भी मिला है, जिसपर सनाल कमलो के बीच भागते हुए एक घुडसवार दिखाया गया है। दूसरी ओर हाथी की पीठ पर बैठे हुए दो पुरुष अंकित है। इनमें से एक के हाथ मे झंडा है। सारनाथ की शुंग-

कालीन कला मे उसी प्रकार का चिपटापन और चेहरे की गोल आकृति मिलती है जैसी कि साँची, भारहुत, मथुरा आदि की तत्कालीन कला में। कुछ तोरण के टुकड़े भी इस काल के मिले हैं, जिनपर धर्म-चक्र, त्रिरत्न, गज आदि के अलकरण हैं।

कुषाणकालीन मूर्तियाँ

कुषाणकाल के आरभ की एक मूर्ति सारनाथ की खुदाई में मिली थी। यह मूर्ति उसपर लिखे हुए ब्राह्मी लेख के अनुसार कनिष्क के तीसरे राज्यवर्ष (८१ ई०) में मथुरा-निवासी त्रिपिटकाचार्य बल के द्वारा प्रतिष्ठापित की गई थी। इस मूर्ति के साथ एक छत्र भी था, जिसकी यष्टि पर मिश्रित सस्कृत और प्राकृत भाषा मे दस पक्तियो मे यह लेख खुदा है—

१. महाराजस्य काणिष्कस्य स ३ हे ३ दि २२
२. एतये पूर्वये भिक्षुस्य पुण्यबृद्धस्य सद्धयेवि—
३. हारिस्य भिक्षस्य बलस्य त्रेपिटकस्य
४. बोधिसत्वो छत्रयष्टि च प्रतिष्ठापितो
५. वाराणसीये भगवतो चकमे महा मात (रा)—
६. पितिहि सहा उपाध्याया चेरेहि सद्धयेविहारि—
७ हि अन्तेवासिकेहि च महा बुद्धमित्रये त्रेपिटिक—
८. ये महा क्षत्रपेन वनस्परेन खरपल्ला—
९. नेन च सहा च च (तु) हि परिशाहि सर्वसत्वानम्
१०. हितसुखारत्थ (र्त्थ) म्।

(अर्थात् महाराज कनिष्क के तीसरे राज्यवर्ष (८१ ई०), तृतीय शरद (मास) के बाईसवे दिन पुण्यबुद्धि के शिष्य त्रिपिटिकाचार्य भिक्षु बल ने बोधिसत्त्व की मूर्ति, छत्र और दड सहित, काशी मे भगवान् के घूमने के स्थान मे, अपने माता-पिता, उपाध्याय, अतेवासी (शिष्य), त्रिपिटिकाचार्य बुद्धमित्र, क्षत्रप वनस्पर और खरपल्लान तथा चतुर्वर्ग (भिक्ष, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका) के साथ सब जीवो के कल्याण और आनद के लिए प्रतिष्ठापित किया।)

यह प्रतिमा कई दृष्टियो से बडे महत्त्व की है। इसके सारनाथ मे मिलने से यह पता चला है कि मथुरा-कला में निर्मित विशाल बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ सुदूर स्थानों में भेजी जाती थी। इसपर जो तिथि सहित लेख है उससे यह ज्ञात होता है कि कनिष्क की ओर

से क्षत्रप वनस्पर और खरपल्लान बनारस के प्रशासक नियुक्त थे। उस समय के भिक्षु बौद्ध धर्म के प्रसार में किस प्रकार योग देते थे, इसका पता भी इस लेख से चलता है। जिस त्रिपिटिकाचार्य बल के द्वारा इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना की गई उसी ने मथुरा, श्रावस्ती आदि स्थानों में भी इस प्रकार की मूर्तियाँ स्थापित कराईं। लेख में मूर्ति को 'बोधिसत्त्व' कहा गया है, यद्यपि उसमें राजकीय वेश-भूषा का अभाव है। बल की अन्य मूर्तियों के लेखों में तथा मथुरा में प्राप्त कई अन्य बुद्ध-मूर्तियों को भी उनके लेखों में 'बोधिसत्त्व' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरंभ में बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं में शास्त्रीय संज्ञा-भेद को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था।

सारनाथ के शिल्पियों के समक्ष बल द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्ति का आदर्श उपस्थित हुआ। उन्होंने उसी के अनुरूप अनेक प्रतिमाओं का निर्माण किया, जिनमें से कई सारनाथ संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।[1]

कुषाण और गुप्त-काल के बीच [illegible] की भी एक उल्लेखनीय मूर्ति सारनाथ संग्रहालय में है (संख्या बी- (बी) १)। इसमें भगवान् बुद्ध को अभय मुद्रा में दिखाया गया है। सिर पर कुंचित केश और उष्णीष है और पीछे गोल प्रभामंडल दिखाया गया है।

गुप्तकालीन प्रतिमाएँ

गुप्त-काल में सारनाथ की मूर्तिकला बहुत उन्नत हुई। मूर्तियों में अब विभिन्न अवयवों के कलापूर्ण अंकन के साथ-साथ आध्यात्मिक भाव का चित्रण मिलता है। इस काल की जो अनेक मूर्तियाँ सारनाथ में मिली हैं उनमें कलाकारों की वही विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं जो मथुरा-कला में हैं। पद्मासन में बैठे हुए धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा में भगवान् बुद्ध की जो मूर्ति सारनाथ में मिली है (संख्या बी-(बी) १८१), वह भारतीय कला की इनी-गिनी उत्कृष्ट प्रतिमाओं में है। अर्धोन्मीलित-नेत्रयुक्त भगवान् बुद्ध की इस मूर्ति को देखकर कलाकार की शतमुख से सराहना करनी पड़ती है! मूर्ति के पीछे कलापूर्ण प्रभामंडल है। चौकी पर वे भिक्षु बने हैं जिन्हें सारनाथ में बुद्ध ने सर्वप्रथम उपदेश दिया था। दाहिनी ओर शिशु सहित एक स्त्री की भी मूर्ति है।

१. सारनाथ संग्रहालय की बी-(ए) २ और ३ संख्यक मूर्तियाँ इसी प्रकार की हैं और कुषाणकालीन कृतियों में विशेष उल्लेखनीय हैं।

सभवत: उसी स्त्री के द्वारा यह मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई थी। चौकी के बीच में धर्म-चक्र की पूजा है।

गुप्त-काल की अन्य अनेक मूर्तियाँ सारनाथ मे मिली है, जिनमे बुद्ध को विभिन्न मुद्राओ मे दिखाया गया है। उत्तर गुप्तकाल तथा मध्यकाल के प्रारभ मे सारनाथ में अनेक देवी-देवताओ की प्रतिमाओ का निर्माण हुआ, इनमे मैत्रेय (बी–डी–२), लोकनाथ (बी–डी–१), सिद्धैकवीर (बी–डी–६), नीलकंठ (बी–डी–३), तारा (बी–एफ–१), मारीची (बी–एफ–२३) आदि की मूर्तियाँ उल्लेखनीय है। कई प्रतिमाओ की चौकी पर लेख भी मिले है।

बुद्ध के जीवन की घटनाएँ तथा जातक कहानियाँ

सारनाथ मे अनेक शिलापट्ट ऐसे मिले है जिनपर बुद्धजन्म, तपस्या, धर्म-चक्र-प्रवर्तन तथा परिनिर्वाण––ये मुख्य चार घटनाएँ दिखाई गई है। इनके अतिरिक्त कुछ गौण घटनाएँ भी चित्रित है। इनमे स्वर्गावतरण, श्रावस्ती का चमत्कार, नालागिरि हस्ती का दमन तथा वानरेंद्र का मधुदान उल्लेखनीय है।

अनेक जातक कथाएँ भी सारनाथ के शिलापट्टो पर उत्कीर्ण है। एक बड़ी सुहावटी (डी–डी–१) पर क्षातिवादी जातक की कथा है। इसके अनुसार बुद्ध अपने एक पूर्व जन्म मे क्षातिवादी नामक तपस्वी हुए। उन्होने बनारस के राजा की स्त्रियो को उपदेश देकर उन्हे भिक्षुणी बनाया और इसके बदले में दडस्वरूप राजा के द्वारा अपना दाहिना हाथ कटवाया। इसी प्रकार व्याघ्री जातक आदि की कथाएँ भी सारनाथ कला मे मिलती है।

उत्तर मध्यकाल

उत्तर मध्यकाल मे वज्रयान सप्रदाय के उत्थान के फलस्वरूप सारनाथ की कला भी प्रभावित हुई। यहाँ वज्रयान मत की अनेक मूर्तियाँ मिली है, जिनमे मजुवर, हेरुक, वज्रघट, मारीची, सरस्वती, वसुधारा, चुडा आदि की प्रतिमाएँ है। लगभग बारहवी शती के अत तक बौद्ध कला का सारनाथ मे विकास होता रहा। उत्तर मध्यकाल की जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई है उनमे पाल-कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।

अन्य स्थानों से प्राप्त बौद्ध मूर्तियाँ

उत्तर प्रदेश मे अन्य जिन स्थानो से बौद्ध मूर्तियाँ प्राप्त हुई है उनमे मुख्य श्रावस्ती

सकिसा, कौशांबी, कसिया, अहिच्छत्रा और महोबा है। श्रावस्ती से भिक्षु बल वाली प्रतिमा के अतिरिक्त अन्य अनेक सुंदर मूर्तियाँ मिली हैं, जो कलकत्ता और लखनऊ के संग्रहालयों में हैं। इनमें से कुछ अभिलिखित है।

सकिसा (प्राचीन साकाश्य) से भी विविध बौद्ध कलाकृतियाँ प्राप्त हुई है। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अशोक-स्तंभ का शीर्ष है, जिसपर चमकीली ओप है। कमल-पुष्प तथा पीपल के पत्तों का आलेखन इस शीर्ष पर अत्यंत सुदर है। ऊपर सूँड़रहित हाथी की मूर्ति है। इस शीर्ष के पास ३ फुट ७ इंच ऊँची एक पुरुष-प्रतिमा है, जो शुगकालीन यक्ष-प्रतिमाओं से मिलती-जुलती है। एक वेदिका-स्तंभ तथा बुद्ध की अनेक खंडित प्रतिमाएँ संकिसा से प्राप्त हो चुकी है। हाल मे यहाँ से बुद्ध का एक सुंदर सिर मिला है। अनेक प्रकार की मृन्मूर्तियाँ, मिट्टी की मुहरें तथा सिक्के भी यहाँ प्राप्त हुए है।

बौद्ध कला के केंद्र के रूप में कौशांबी का नाम बहुत प्रसिद्ध है।[1] कनिष्क के राज्य-वर्ष २ (८० ई०) की बुद्ध की अभिलिखित मूर्ति यहीं से मिली थी। यह तथा अन्य अनेक बौद्ध मूर्तियाँ प्रयाग संग्रहालय में है। हाल मे प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा कौशांबी में खुदाई का जो कार्य कराया गया है उसमें घोषिताराम-विहार के नाम सहित एक शिलापट्ट मिला है। दूसरी-तीसरी शती के कई अन्य बौद्ध अभिलेख इस खुदाई में मिले है, जो बड़े महत्त्व के है। उत्तर-गुप्तकाल में निर्मित बुद्ध और बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से उच्च कोटि की है। कुछ प्रतिमाएँ चुनार-पत्थर की और शेष लाल बलुए पत्थर की बनी हैं।

कसिया (कुशीनगर) के शालवन तथा मकुटबधन चैत्य से कई बुद्ध-मूर्तियाँ तथा अन्य अवशेष मिले है। परिनिर्वाण-मंदिर के भीतर बुद्ध की २० फुट लंबी लेटी हुई प्रतिमा अप्रतिम कही जा सकती है। भगवान् दाहिनी करवट लेटे है और दक्षिण भुजा के ऊपर उनका सिर रखा हुआ है। लंबी चौकी के अगले भाग मे तीन शोकमग्न मूर्तियाँ बनी हैं, जो संभवत आनंद, सुभद्र तथा मल्लिका की प्रतिमाएँ हैं। चौकी पर गुप्त-कालीन लिपि में जो लेख खुदा है उससे ज्ञात होता है कि महाविहार मे इस मूर्ति की प्रति-ष्ठापना स्वामी हरिबल ने की थी और उसका निर्माण मथुरा के शिल्पी दिन्न ने किया

१. भगवान् बुद्ध के समय में कौशांबी में घोषिताराम, कुक्कुटाराम तथा पावारिक अंबवन—इन तीन प्रमुख विहारों के निर्माण का पता चलता है। अशोक ने अपना अभिलिखित स्तंभ यहाँ लगवाया। कुषाण तथा गुप्त काल में कौशांबी में बौद्धकला की उन्नति हुई।

था।[1] इस प्रसिद्ध मूर्ति के अतिरिक्त कुशीनगर से अन्य कई मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। इनमे 'माथाकुँवर' नाम से विख्यात मूर्ति उल्लेखनीय है। यह काले पाषाण की बनी हुई खडित प्रतिमा है। इसकी स्थापना कलचुरि-कालीन विहार मे हुई थी। मूर्ति की चौकी पर ११ वी शती का ब्राह्मी लेख था, जिसके अक्षर अब बहुत मिट गए है। मथुरा के लाल बलुए पत्थर की कई मूर्तियाँ भी कुशीनगर मे मिली है, जिनमे मथुरा-शैली की छाप स्पष्ट है। ये मूर्तियाँ मथुरा से यहाँ लाई गई होगी।

अहिच्छत्रा नगर उत्तर पचाल की राजधानी था।[2] यहाँ से बोधिसत्त्व मैत्रेय की एक कलापूर्ण अभिलिखित मूर्ति मिली है, जो ई० ३०० के लगभग की है।[3] कुछ वर्ष पूर्व एक यक्ष-प्रतिमा भी यहाँ मिली थी, जिसपर उत्कीर्ण ब्राह्मी लेख से अहिच्छत्रा में 'फरगुल' नामक बौद्ध विहार का पता चला है, जो यहाँ कुषाण-काल मे था।[4] हाल मे बुद्ध की दो सुदर मूर्तियाँ अहिच्छत्रा से मिली है। इनमे से एक पर ई० दूसरी शती का लेख है। दोनो मूर्तियाँ मथुरा शैली की है और लाल बलुए पत्थर की बनी है।[5] अहिच्छत्रा से प्राप्त प्रारभिक गुप्तकाल के एक शिलापट्ट पर बुद्ध के जीवन की चार प्रमुख घटनाओं को बडे प्रभावोत्पादक ढग से दिखाया गया है।[6] गुप्त-काल की बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की कुछ अन्य प्रतिमाएँ भी अहिच्छत्रा से मिली है।

बुदेलखड के महोबा नगर (जि० हमीरपुर) से मध्यकालीन बौद्ध मूर्तियाँ मिली हैं। इनमे सिंहनाद अवलोकितेश्वर की प्रतिमा बेजोड़ है। यह हलके भूरे बलुए पत्थर की बनी है और चरण-चौकी पर अकित लेख के अनुसार ई० ११ वी शती की कृति है। सिंह के ऊपर शात भाव से बैठे हुए अवलोकितेश्वर दिखाए गए हैं, मानो करुण और शात रस मूर्तिमान कर दिए गए हो। महोबा तथा बुदेलखड के अन्य कई

१. लेख इस प्रकार है—"देयधर्म्मोयं महाविहारस्वामिनो हरिबलस्य प्रतिमा चेयं घटिता विष्णेन माथुरेण।"

२. यह वर्तमान बरेली जिले की आँवला तहसील में आँवला से लगभग १० मील उत्तर है।

३. यह प्रतिमा अब राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है।

४. वाजपेयी, ए न्यू इंस्क्राइब्ड इमेज फ्राम अहिच्छत्रा,जर्नल ऑव दि यू० पी० हिस्टॉरिकेल सोसायटी, १९५०, पृ० ११२।

५. ये दोनों मूर्तियाँ राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में हैं।

६. यह शिलापट्ट अब राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में है।

स्थानों से ग्रेनाइट पाषाण की भी कुछ बौद्ध मूर्तियाँ मिली है, जिनपर काली पालिश है। ये मूर्तियाँ प्राय ध्यानमुद्रा मे है और उनकी कला साधारण कोटि की है।

उत्तर प्रदेश के अन्य अनेक स्थानों, यथा हस्तिनापुर, वाजिदपुर (जि० कानपुर), मानकुवार, भीटा (जि० इलाहाबाद) पखना विहार (जि० फर्रुखाबाद) आदि मे भी कुछ बौद्ध मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। कुशीनगर मे प्राप्त मिट्टी की अभिलिखित मुद्राओ का वर्णन किया जा चुका है। इन मुद्राओ पर सघारामों, भिक्षुसघो[1] शासकीय अधिकारियो तथा विशिष्ट व्यक्तियो के नाम खुदे हुए है। सारनाथ, सकिसा, मथुरा, पखना विहार आदि मे भी इस प्रकार की लेखयुक्त मिट्टी की मुद्राएँ प्राप्त हुई है।

---

१. भिक्षु-संघों की मुद्राओं पर एक रोचक लेख डा० फोगल ने लिखा है। द्रष्टव्य जर्नल ऑव दि सीलोनीज ब्रांच ऑव दि रायल एशियाटिक सोसायटी; (न्यू सीरीज), जिल्द १, पृ० २७–३२।

अध्याय १७

बौद्ध वास्तुकला

उत्तर प्रदेश विविध ललित कलाओ के विकास का क्षेत्र रहा है। मौर्यकाल से लेकर अर्वाचीन युग तक यहाँ स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य और संगीत प्रस्फुटित एव पल्लवित होते रहे। बौद्ध धर्म की प्रधान रंगस्थली होने के कारण इस भूमि पर कितने ही बौद्ध स्तूपों, चैत्यों और विहारों का निर्माण हुआ। परंतु आक्राताओ के आक्रमण भी इस प्रदेश पर बहुत हुए, जिनके कारण वास्तु एवं मूर्तिकला को विशेष रूप से क्षति उठानी पडी। यहाँ के भग्नावशिष्ट स्मारक उन प्रहारो की कितनी ही रोमांचक गाथाएँ अपने अंतस्तल मे छिपाए हुए है।

बौद्ध वास्तुकला के नमूने मुख्यतया तीन प्रकार के है—१. स्तूप, २ चैत्यगृह और ३. गुफाएँ। उत्तर प्रदेश मे प्रथम के कुछ भग्नावशेष मिलते है। ये स्तूप दो प्रकार के होते थे—एक विशाल इमारतों के रूप मे स्मारक[1] या धातु-चैत्य तथा दूसरे दानार्थ निर्मित लघु (वोटिव) स्तूप। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल मे शव को धरती मे गाड़कर उसपर तूदा बनाने की जो प्रथा थी उसी का कुछ विकसित रूप स्तूप है। यह तूदा उलटे कटोरे के आकार का होता था और इसकी रक्षा के लिए कभी-कभी एक कटघरे की भी व्यवस्था रहती थी। साँची आदि स्थानो मे जो प्राचीन स्तूप मिले है उनका आकार-प्रकार ऐसा ही है। अशोककालीन जो बौद्ध स्तूप साँची मे है उसके तले का व्यास १२० फुट तथा उँचाई ५४ फुट है। इसके चारो ओर दो प्रदक्षिणा-पथ है। उत्तर-पश्चिम भारत मे अशोक के द्वारा अनेक बडे स्तूपो का निर्माण कराया गया। काबुल-पेशावर के बीच नगरहार मे उसके द्वारा निर्मित ३०० फुट ऊँचा एक स्तूप था। अनुश्रुति के अनुसार तक्षशिला का धर्मराजिका स्तूप भी अशोक द्वारा बनवाया गया। ये स्तूप स्मारक रूप मे थे और उनमे बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यो के अवशेष सुरक्षित थे।[2]

१. इस रूप म जैन स्तूप भी मिलते है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन स्तूपो का निर्माण बौद्ध स्तूपों के पहले प्रारंभ हो गया था। द्रष्टव्य वी०ए०स्मिथ, दि जैन स्तूप (इलाहाबाद, १९०१), पृ० १–११, फलक १–५।

२. अनुश्रुति के अनुसार अशोक द्वारा ८४, ००० स्तूपों का निर्माण कराया गया। बुद्ध के अवशेष पहले केवल आठ स्तूपों म सुरक्षित थ, पर बाद म उन्हें इन बहुसंख्यक स्तूपों में ले जाया गया।

चीनी यात्रियों ने उत्तर प्रदेश के अनेक प्राचीन स्थानो में अशोक द्वारा निर्मित जो स्तूप देखे, खेद है कि, उनमे से कोई समूचा स्तूप अब नही बचा। केवल सारनाथ में अशोक के धर्मराजिका स्तूप का कुछ भाग अवशिष्ट है। यह ६० फुट व्याम का, ईंटों का बना हुआ गोलाकार रहा होगा। इस स्तूप के दक्षिण में एक ही पत्थर मे काट-कर बनाई गई वेदिका मिली है, जिसपर मौर्यकालीन पालिश तथा ब्राह्मी लेख है। यह वेदिका प्रारभ में धर्मराजिका स्तूप की हर्मिका के रूप मे रही होगी। किसी दुर्घ-टना वश उसके गिर जाने पर उसे अन्यत्र रख दिया गया। धर्मराजिका स्तूप का पुन-र्निर्माण एक लबे समय तक जारी रहा और उसका आकार भी बढता रहा। कुषाण-काल से लेकर ई० १२ वी शती तक उसमे परिवर्तन-परिवर्धन होते रहे। बनारस के राजा जगतसिंह द्वारा अज्ञानवश वह नष्ट कर दिया गया, जिसमे अब प्राचीन स्तूप का केवल तल-भाग अवशिष्ट है।

सारनाथ का दूसरा स्तूप 'धमेख' (धर्मेक्षा) है। इसकी ऊँचाई १४३ फुट है। इसकी नीव से ३७ फुट की ऊँचाई तक पाषाण के नक्काशीदार शिलापट्ट लगे हैं, जो गुप्तकालीन हैं। इनपर अनेक प्रकार के पशु-पक्षी तथा पत्रावली आदि विविध अलकरण सुदरता से उकेरे गए हैं। धमेख के नीचे एक प्राचीन लघु स्तूप दबा पडा है। सभवत: धमेख स्तूप स्मारक स्तूप था। इससे कोई धातु-खड अभी तक नही मिले।

'चौखडी' पर भी धमेख की तरह का स्तूप था, जो अष्टकोण मेधि पर बना रहा होगा। उसका ऊपरी भाग नष्ट हो गया है। यह वही स्थान है जहाँ कौडिन्य आदि पंचभद्रवर्गीय भिक्षुओ ने सर्वप्रथम बुद्ध का स्वागत किया था।

वर्तमान 'चौखडी' मुगलकालीन इमारत है। यह ईंटो की बनी हुई अठपहलू है। इसका निर्माण मुगल सम्राट् अकबर ने अपने पिता हुमायूँ की यात्रा के स्मारक-रूप में कराया था।[1]

चीनी यात्री हुएन-साग ने प्राचीन मूलगध कुटी का जो वर्णन किया है उससे गुप्तकालीन बौद्ध मदिरो की निर्माण-शैली पर कुछ प्रकाश पडता है। यह ६० फुट की चौकोर इमारत थी। इसके तीन ओर आयताकार कोठरियाँ थी और चौथी ओर ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ थी।

पिप्रावा स्तूप—उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के पिप्रावा नामक स्थान मे एक प्राचीन

१. शेरशाह से पराजित होने पर हुमायूं ने संभवतः सारनाथ के खंडहरों मे शरण ली थी।

स्तूप का पता श्री पेप्पी ने लगाया था।[1] यही एक ऐसा स्तूप है जिसे प्राक्-अशोक-कालीन कहा जा सकता है। यहाँ अन्वेषक को एक अभिलिखित पात्र मिला था। इस पात्र पर जो ब्राह्मी लेख है उसके अक्षर लगभग ई० पू० ४०० के हैं। इस स्तूप में स्वर्ण के पत्तर पर एक स्त्री-प्रतिमा भी मिली, जिसकी बनावट नदनगढ़ में प्राप्त प्राचीन मातृदेवी-प्रतिमा[2] से बहुत मिलती-जुलती है।

अन्य बौद्ध केंद्रों में भी विभिन्न युगों में अनेक बड़े स्तूपों के निर्माण की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अति प्राचीन स्तूपों की बनावट साँची तथा सारनाथ के स्तूपों में बहुत-कुछ साम्य रखती रही होगी। मथुरा के ककाली टीला से प्राप्त एक जैन-मूर्ति की चौकी पर ई० दूसरी शती का एक लेख खुदा है, जिसमें 'वोद्व स्तूप' नामक एक बड़े जैन स्तूप के निर्माण की चर्चा है। मथुरा से प्राप्त एक जैन आयागपट्ट (क्यू० २) पर तथा कई वेदिका-स्तभों पर स्तूपों की जो आकृतियाँ बनी हैं उनमें कुषाण-कालीन स्तूपों की निर्माण-शैली पर प्रकाश पड़ता है। नीचे चौकोर या आयताकार आधार, फिर अंड और ऊपर यष्टि सहित छत्र—ये इन स्तूपों के मुख्य भाग रहते थे। स्तूप के चारों ओर एक या अनेक वेदिकाएँ होती थीं। पाषाण के कुछ लघु स्तूप भी मथुरा में मिले हैं, जिनमें दानार्थ (वोटिव) स्तूपों के प्रकार का पता चलता है। ये लघु स्तूप भी सिद्धांत-रूप में बड़े स्तूपों की निर्माण-शैली के आधार पर ही बनाए जाते थे।

बौद्ध विहार

उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थानों में बौद्ध विहारों की सख्या काफी बड़ी थी। इसका पता साहित्यिक ग्रथों, विदेशी परिव्राजकों के यात्रा-विवरणों तथा प्राचीन पुरातत्त्वीय अवशेषों से चलता है। इन विहारों का निर्माण प्राय इस प्रकार होता था—मध्य में आगन और उसके चारों ओर स्वभाश्रित बरामदे होते थे। पीछे भिक्षुओं के निवास के लिए कोठरियाँ होती थीं। ये कोठरियाँ स्थान के अनुसार बड़ी-छोटी बनाई जाती थीं। एक ओर बीच में प्रवेश-द्वार होता था और उसके ठीक सामने मदिर रहता था। सारनाथ के प्राचीन मूलगधकुटी मदिर का मुख्य द्वार पूर्वाभिमुख था। अन्य दिशाओं में लघु पार्श्व मदिर बने थे। इस मदिर की दीवारें मजबूत और सुदर भित्तिचित्रों से अलकृत थीं। विस्तृत आँगन में कई चैत्य तथा स्तूप बने हुए थे। गाहड़वाल रानी

१. द्रष्टव्य डब्ल्यू० सी० पेप्पी तथा वी० ए० स्मिथ, 'दि प्रिपावा स्तूप, जर्नल ऑव दि रायल एशियाटिक सोसायटी १८९८, पृ० ५७३ तथा आगे।

२. आ० स्वें० इं०, एनु० रि०, १९०६–०७, पृ० १२२, चित्र ४।

कुमारदेवी द्वारा निर्मित 'धर्म-चक्र जिन विहार' की बनावट प्राय दक्षिण के गोपुरो-जैसी है। इसके अंदर खुले आँगन के तीन ओर कोठरियाँ बनी हैं। बाहर दो विशाल परकोटे तथा सहन हैं। इसके अंदर एक छोटी सुरंग भी है, जो एक छोटी कोठरी तक जाती है। हो सकता है कि वह भिक्षुओं की एकांत साधना का स्थान रहा हो।

श्रावस्ती के जेतवन तथा पुब्बाराम विहार, कौशाबी के घोषिताराम, कुक्कुटाराम आदि विहार तथा कुशीनगर, मथुरा[1] आदि स्थानो के बड़े विहार विशाल रहे होंगे, जैसा कि उनके सबध मे प्राप्त वर्णनो तथा कतिपय उपलब्ध भग्नावशेषो से ज्ञात होता है। खेद है कि इन प्राचीन विहारों का कोई समूचा उदाहरण अब सुरक्षित नही है।

---

१. मथुरा के अभिलेखों मे निम्नलिखित बौद्ध विहारों के नाम मिले हैं--हुविष्क विहार, स्वर्णकार विहार, श्री विहार, चेतीय विहार, चुतक विहार, अपानक विहार, मिहिर विहार, गुहा विहार, कौष्टकीय विहार, रोषिक विहार, ककाटिका विहार, प्रावारिक विहार, यशा विहार तथा खंड विहार।

अध्याय १८

अशोक और उसके अभिलेख

बौद्ध धर्म के प्रसार में सम्राट् अशोक का योग अत्यत महत्त्वपूर्ण है। अशोक का शासनकाल ई० पू० २७३ से २३२ तक माना जाता है। अपने राज्याभिषेक के नवे वर्ष मे अशोक को कलिग देश का भयकर युद्ध करना पडा। इस युद्ध मे लगभग एक लाख व्यक्ति मारे गए और इससे कही अधिक आहत हुए। डेढ लाख व्यक्ति बदी बनाए गए। इसका अशोक पर बडा प्रभाव पड़ा और उसने इस प्रकार के युद्धो को सर्वदा के लिए त्याग दिया। उपगुप्त नामक बौद्ध भिक्षु से अशोक ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की और वह अब 'चडाशोक' से 'धर्माशोक' बन गया।

अपने तेरहवें शिलालेख मे अशोक ने लिखा है कि कलिंग-युद्ध के भीषण नर-सहार से वह किस प्रकार प्रभावित हुआ—

"अठवषाभिसितषा देवानपियष पियदषिने लाजिने कलिगा विजिता। दियढमिते पानषतषहशे ये तफा अपवुढे शतपहषमिते ततहते बहुतावतवे वामटे। ततो पछा अधुनालधषु कलिगेषु तिवे धमवाये।"[1]

(अर्थात् आठ वर्ष से अभिषिक्त देवताओ के प्यारे और दयावान् राजा ने कलिग विजय किया। इसमे डेढ लाख मनुष्य पकडे गए, एक लाख मारे गए और इससे भी अधिक आहत हो गए। उसके बाद अब जीते हुए कलिग देश मे धर्म का बहुत पालन किया जाता है।)

अशोक के साम्राज्य मे धुर दक्षिण को छोडकर प्राय सारा भारत, अफगानिस्तान तथा बलोचिस्तान सम्मिलित थे।[2] उसने अपने साम्राज्य मे तथा उसके बाहर बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए विविध उपाय किए। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने भारत के विभिन्न स्थानो मे कुल ८४,००० स्तूपो का निर्माण कराया। चीनी यात्री

१. कालसी (जि० देहरादून) की शिला में उत्कीर्ण तेरहवाँ लेख। ई० हुल्श, इंस्क्रिप्शंस ऑव अशोक (आक्सफोर्ड, १९२५), पृ० ४३।

२. उत्तर-पश्चिम में हिंदुकुश से लेकर पूर्व में बंगाल तक तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में चितलदुग जिले तक अशोक का साम्राज्य फैला था। द्रष्ट० रमाशंकर त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑव ऐंश्यंट इंडिया (बनारस, १९४२), पृ० १७०–७२।

फाह्यिान ने अशोक द्वारा निर्मित कलापूर्ण कृतियों के लिए लिखा है कि उनकी सुदरता को देखकर मालूम होता था कि वे असुरों द्वारा निर्मित थीं। हुएन-सांग तथा सुगयुन ने भी अशोक की इमारतों का उल्लेख अपने यात्रा-विवरणों मे किया है।

स्तूपो के अतिरिक्त अशोक के द्वारा अनेक स्तभ भारत के विभिन्न स्थानों में लगवाए गए। इन स्तंभो पर तथा अनेक शिलाओ पर राजाज्ञाएँ उत्कीर्ण कराई गईं। इनके द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार मे बड़ी सहायता मिली।[1]

अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए कुछ विशेष अधिकारी नियुक्त किए गए, जो 'धर्ममहामात्र' कहलाते थे। इनका मुख्य कार्य जन-साधारण मे धर्म का प्रचार था। वे अपने-अपने क्षेत्रो में दौरा करके लोगों को वास्तविक धर्म का मर्म बताते थे। कलिंग प्रदेश मे धवली के लेख में अधिकारियो के नाम इस प्रकार की आज्ञा है—

"तुम लोग सहस्रों प्राणियों के अधिकारी हो। हमारा कर्तव्य है कि भले आदमियों के हम प्रीतिपात्र बनें। मैं अपने पुत्रो के समान ही अपनी प्रजा का भी ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण चाहता हूँ। अत. तुम लोगो को ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे प्रजा का एक भी आदमी दुखी न हो।"

इस लेख से पता चलता है कि अशोक अपनी प्रजा के प्रति कैसा स्नेहभाव रखता था और उसके कल्याण के लिए कितना दत्तचित्त रहता था। अपने इस भाव को बड़े सीधे-सादे रूप मे अशोक ने अधिकारियो पर व्यक्त किया है और प्रजा के प्रति उन्हे सच्चे कर्तव्य की याद दिलाई है।

कलिंग में जौगढ नामक स्थान पर अशोक का दूसरा लेख मिला है। इस लेख मे भी महामात्र नामक अधिकारियो के नाम इस प्रकार का सदेश है—

"तुम लोग प्रजा के साथ अच्छा बर्ताव करो, जिससे मेरे राज्य के बाहरवाले लोग भी मेरा विश्वास प्राप्त करें और वे यह समझने लगें कि यदि क्षमा के योग्य अपराध होगा तो अवश्य क्षमा किया जायगा। तुम लोगो को मेरी इस आज्ञा का पालन अपना कर्तव्य समझकर करना चाहिए जिससे सभी लोग मुझे पिता के समान समझने लगें।"

१. अब तक कुल मिलाकर अशोक के २०० से ऊपर अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं। इनमें से केवल दो पर अशोक का नाम मिला है—एक मास्की (हैदराबाद) के छठें अभिलेख में तथा दूसरे हाल में गुजर्रा (विंध्य प्रदेश में दतिया से ११ मील दूर) नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख में।

अशोक की इन आज्ञाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा। अधिकारियों और प्रजा के बीच सीधा-सच्चा सबंध स्थापित हो गया। अशोक के शासन के बाहर के लोग भी उसे एक आदर्श सम्राट् मानने लगे।

अपने राज्याभिषेक के ग्यारहवें वर्ष सम्राट् ने देश के पवित्र स्थलों की यात्रा की। यह 'धर्मयात्रा' के नाम से प्रसिद्ध है। जिन स्थानों में अशोक जाता वहाँ लोगों से धार्मिक विचार-विनिमय करता था। अशोक ने लुंबिनी, कपिलवस्तु, बोधगया, सारनाथ, कुशीनगर, श्रावस्ती आदि अनेक धार्मिक स्थानों की यात्रा की।

भारत के बाहर अशोक ने धर्म-प्रचारार्थ कई मंडलियों को भेजा। ये मंडलियाँ लंका, तिब्बत, पश्चिमी एशिया, मिस्र आदि देशों में गईं। बौद्ध साहित्य में कई मंडलियों के नेताओं के नाम दिए हुए हैं। अशोक ने अपने पुत्र महेंद्र तथा पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए लंका भेजा। अशोक के समय में पाटलिपुत्र में बौद्ध धर्म की तीसरी महासंगति हुई थी।[1] इसकी समाप्ति के बाद ही उक्त धर्म-मंडलियाँ बाहर गईं। इस प्रकार सम्राट् अशोक के प्रयत्नों से तथा इन धर्म-मंडलियों की अटूट लगन से बौद्ध धर्म का प्रचार न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों में हुआ, बल्कि बाहर के अनेक देश भी तथागत के मत को माननेवाले हो गए। इस बात का श्रेय मुख्यतया अशोक और उसके प्रचारकों को दिया जा सकता है कि उनकी मृत्यु के लगभग २,२०० वर्ष बाद संसार के लगभग एक तिहाई व्यक्ति बौद्ध मत के अनुयायी हैं।

अभिलेख

अशोक के लेख पहाड़ की चट्टानों, पत्थर के खंभों और गुफाओं पर खुदे हुए मिले हैं। इन लेखों को मौर्य सम्राट् ने भारत के विभिन्न स्थानों पर लगवाया था। कुछ लेखों का अब पता नहीं चलता। अपनी प्रजा के प्रति अशोक का जो भाव था और धर्म के जिस रूप को वह प्रचलित करना चाहता था उसकी जानकारी इन लेखों में मिलती है। धर्म के मुख्य सिद्धांतों की व्याख्या इन लेखों में बड़ी सरल शैली में की गई है। ये लेख तीन प्रकार के हैं—१ शिलालेख, २ स्तंभलेख, और ३. गुफालेख।

१. प्रथम महासंगति या सभा महाकश्यप के नेतृत्व में राजगृह में तथा दूसरी वैशाली में हुई थी। तीसरी का आयोजन अशोक के राज्यारोहण के १७ वें वर्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में हुआ।

शिलालेख--मुख्य शिलालेख[1] १४ हैं, जो निम्नलिखित स्थानों में मिले हैं—

१. शाहबाज गढ़ी (पेशावर से ४० मील उत्तर-पूर्व, यूसुफजाई तहसील में);
२. मानसेहरा (पश्चिमी पाकिस्तान के हजारा जिले में, अबटाबाद से १५ मील उत्तर),
३. कालसी (जिला देहरादून, उत्तर प्रदेश),
४ गिरनार (सौराष्ट्र), ५–६ धवली तथा जौगढ़ (उड़ीसा), ७ सोपारा (जिला-थाना, बंबई); ८ येर्रगुडि (जि० कर्नूल, आंध्र)।

उपर्युक्त कई स्थानों में १४ या १३ लेख एक साथ उत्कीर्ण हैं। धवली और जौगढ़ में प्रत्येक स्थान पर उक्त लेखों में से १० लेख और एक-एक प्रादेशिक लेख है।

सिद्धपुर (मैसूर), ब्रह्मगिरि तथा जटिंग रामेश्वर (मैसूर), सहसराम (बिहार), रूपनाथ (मध्यप्रदेश), येर्रगुडि (आंध्र), मदगिरि (आंध्र), मास्की (हैदराबाद), बैराट (राजस्थान), गुर्जरा (विंध्य प्रदेश)--इन दस स्थानों से तथा दक्षिण के कुछ अन्य स्थानों में फुटकर शिलालेख प्राप्त हुए हैं।

स्तंभलेख—स्तंभलेख मुख्य सात हैं। जिन स्थानों में अशोक के ये स्तंभलेख प्राप्त हुए हैं वे दिल्ली, प्रयाग, लौरिया, मठिया और रामपुरवा हैं। पिछले तीनों स्थान बिहार के चंपारन जिले में हैं। दिल्ली में प्राप्त दोनों स्तंभ लेख फीरोजशाह तुगलक के द्वारा वहाँ मँगवाए गए थे। इनमें से एक स्तंभ अंबाला के समीप तोपरा नामक स्थान से दिल्ली पहुँचाया गया था। इसपर सातों लेख हैं। दूसरी मेरठ वाली लाट पर लेख अस्पष्ट हैं। फर्रुखसियर के समय (१७१३–१९ ईस्वी) में बारूदखाने के फटने से इस खंभे को बड़ा नुकसान पहुँचा और उसके कई टुकड़े हो गए। १८६७ ईस्वी में इसे वर्तमान रूप में खड़ा किया गया। लौरिया, मठिया और रामपुरवा के स्तंभों में ६-६ लेख हैं।

प्रयागवाला स्तंभ पहले कौशांबी में था। वहाँ से संभवतः फीरोजशाह के द्वारा वह प्रयाग पहुँचाया गया। इसपर अशोक के ६ लेख उत्कीर्ण हैं। इस स्तंभ पर गुप्त-वंशी सम्राट् समुद्रगुप्त का प्रसिद्ध लेख भी खुदा हुआ है। अशोक की रानी चारुवाकी का भी एक लेख इसी पर उत्कीर्ण है।

१. मुख्य तथा फुटकर शिलालेखों के संबंध में देखिए--हुल्श, दि इंस्क्रिप्शंस ऑव अशोक, भूमिका, पृष्ठ ९–१५, २३–२८; राधाकुमुद मुकर्जी, अशोक (द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९५५), पृ० १३-१४ तथा २५८-६३; डी० आर० भंडारकर, अशोक (तृतीय संस्करण, कलकत्ता, १९५५), पृ० २३१-२४०।

फुटकर स्तभलेखों मे सारनाथ, लुंबिनी तथा निगलीवा के लेख उल्लेखनीय हैं।[1] कौशाबी तथा साँची मे भी फुटकर लेख मिले है। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के समय मे भिक्षु तथा भिक्षुणियों के संघों में फूट डालनेवाली प्रवृत्तियाँ पैदा हो गई थी और सारनाथ तथा कौशाबी मे वे विशेष रूप से थी। उक्त दोनो स्थानों में जो लेख मिले हैं उनमे इस बात की पुष्टि होती है। अशोक ने संघ के नियम तोड़नेवालो के लिए दड का विधान किया, जिसका उल्लेख सारनाथ, कौशांबी तथा साँची के स्तभ-लेखों मे मिलता है। यहाँ सारनाथ-स्तभ का मूल लेख तथा उसका हिंदी अनुवाद दिया जाता है—

सारनाथ का मूल स्तंभलेख[2]

"देवा ..एल ..पाट (लिपुत्र?) (न सकि?) ये केनपि सघे भेतवे ए चु खो (भिखू वा भिख) नि वा सघ भ (खति)। से ओदातानि दुसानि सनधापयिया आनावाससि आवासयिये। हेव इय सासने भिखु सघमि च भिखुनि सघसि च विनपयितवे। हेव देवान पिये आहा। हेदिसा च इका लिपी तुफाक निक हुवानि संमलनसि निखिता। इक च लिपि हेदिसमेव उपासकानतिक निखिपाथ। तेपि च उपासका अनुपोसथ यावु। एतमेव सासन विस्वसयितवे अनुपोसथं च धुवाये इकिके महामाते पोसथाये याति। एतमेव सासन विस्वसयितवे आजानितवे च आवते च तुफाक आहाले सवत विवासयाथ। तुफे एतेन वियजनेन हेमेव सवेसु कोट विषवेसु एतेन वियंजनेन विवा सापयाथा।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा बोला—पाटलिपुत्र मे और बाहर के नगरों मे किसी को भी भिक्षु-सघ के नियम नही तोडने चाहिए। जो कोई भी भिक्षु या भिक्षुणी-सघ को तोडे, उसको सफेद दूषित कपडे पहनाकर सघाराम से अतिरिक्त स्थान पर रखना चाहिए। इस प्रकार यह आज्ञा भिक्षु-संघ मे और भिक्षुणी-सघ मे प्रकट कर देनी चाहिए। इस प्रकार देवताओं का प्यारा बोला—"इस प्रकार की एक लिखित आज्ञा तुम्हारे पास कार्यालय मे सुरक्षित रहनी चाहिए। ऐसी ही एक लिखित आज्ञा को

१. हुल्श, वही, भूमिका, पृ० १५-२३। मुकर्जी, वही, पृ० १४, १६९-२००; भडारकर, वही, पृ० २४०-४४; २९८-३२२।

२. हुल्श, दि इंस्क्रिप्शंस ऑव अशोक, पृ० १६१-६४। इसी स्तंभ पर दो अन्य अभिलेख उत्कीर्ण हैं—एक अश्वघोष नामक किसी अज्ञात राजा का और दूसरा सम्मितीय शाखा के आचार्यों का।

उपासको (गृहस्थों) के पास रक्खो; ताकि वे उपासक भी प्रत्येक व्रत के दिन इस आज्ञा से अवगत होने के लिए आएँ। प्रत्येक उपवास के दिन नियमपूर्वक एक महामात्र व्रत-कर्म के लिए इस आज्ञा के विषय मे विश्वास दिलाने और स्वय समझने के लिए जाय। जहाँ तक तुम्हारा अधिकार हो वहाँ तक सब जगह इसी प्रकार की आज्ञा फैलाओ। इसी तरह से इनको सब सुरक्षित नगरो मे और जिलो में फैलाओ।)

लुबिनी का स्तभ उस स्थान पर लगा है जिसे भगवान् बुद्ध का उत्पत्ति-स्थान माना जाता है।[1] अपनी तीर्थ-यात्रा मे सम्राट् अशोक सर्वप्रथम लुबिनी गए। वहाँ आचार्य उपगुप्त ने भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान की ओर सकेत करते हुए बताया कि हे महाराज यही भगवान् उत्पन्न हुए थे—

"अस्मिन् महाराज प्रदेशे भगवान् जात.।"

उपगुप्त ने प्लक्ष का वह पेड भी दिखाया जिसके नीचे बुद्ध उत्पन्न हुए थे। अशोक ने उस पवित्र स्थान पर एक लाख मुद्राओ का दान किया और एक चैत्य तथा पाषाण-स्तभ का निर्माण कराया। स्तभ के ऊपर जो लेख खुदवाया गया वह इस प्रकार है—

लुंबिनी का स्तंभलेख

"देवानपियेन पियदसिन लाजिन वीसति [illegible] अतन आगाच महीयिते। हिद बुधे जाते सक्य मुनीति। सिला विगडभी चा कालापित सिला थभे च उसापिते। हिद भगव जातेति। लुमिनिगामे उबलिके कटे अठभागिये च।"[2]

(देवताओं के प्यारे बीस वर्ष से अभिषिक्त प्रियदर्शी राजा ने स्वय इस स्थान पर आकर उसका पूजन किया, क्योकि यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे। पत्थर की एक कृति (मूर्ति ?) बनवाई गई तथा एक पाषाण-स्तभ यहाँ खडा किया गया, इस बात को सूचित करने के लिए कि यहाँ बुद्ध पैदा हुए थे। लुबिनी ग्राम का धार्मिक कर माफ किया गया और भूमिकर के रूप मे आय का केवल आठवाँ भाग उसमे लिया जायगा।)

यह लेख बडे महत्त्व का है। लुबिनी मे भगवान् बुद्ध के जन्म की जो अनुश्रुति

१. इस स्तंभ का पता डा० फुहरर ने १८९६ ई० में लगाया था। इसके एक वर्ष पूर्व फुहरर ने ही निगलीवावाले स्तंभ की खोज की।

२. हुल्श, वही, पृ० १६४-६५।

प्रचलित है उसकी पुष्टि इस स्तंभ-लेख से होती है। इस लेख के अक्षर बड़े सुंदर और कलापूर्ण हैं।

गुफा-लेख—अशोक ने बिहार में गया से सोलह मील उत्तर बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों की गुफाओं में भी लेख खुदवाए और उन्हें आजीवकों को प्रदान किया। कुछ लेख अशोक के पौत्र दशरथ के भी हैं।

अशोक के उपर्युक्त लेखों की भाषा पाली है। विभिन्न स्थानों में जो लेख मिले हैं उनकी भाषा में प्रांतभेद के कारण थोड़ा-बहुत अंतर है। लेखों की भाषा सीधी-सादी है, जो सर्वसाधारण के समझने के लिए उपयुक्त है।[1] ये लेख दो प्रकार की लिपियों में हैं। शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा के लेख खरोष्ठी में हैं। यह लिपि उस समय उत्तर-पश्चिम भारत में प्रचलित थी। शेष लेखों की लिपि ब्राह्मी है, जो उस समय पश्चिमोत्तर भाग को छोड़कर प्राय सारे देश में प्रचलित थी। सिद्धपुर का लेख ब्राह्मी में होने पर भी उसके अंत के कुछ अक्षर खरोष्ठी में लिखे गए हैं।

इन लेखों के द्वारा तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। अशोक के राज्य-प्रबंध, धर्मप्रचार तथा राजा और प्रजा के बीच संबंधों की जानकारी के लिए ये अभिलेख स्वच्छ दर्पण की तरह हैं। भारत में ये सबसे प्राचीन लेख हैं जिन्हें एक शासक के द्वारा इतनी बड़ी मात्रा में देश के विभिन्न स्थानों में पाषाण पर उत्कीर्ण कराया गया।

यहाँ कालसी[2] की शिला पर लिखे हुए अशोक के लेखों का मूल पाली रूप हिंदी अनुवाद सहित दिया जाता है। यह लघु शिला यमुना के दाएँ कूल पर स्थित है। सबसे पहले इसका पता १८६० ई० में श्री फारेस्ट ने लगाया। उस समय शिला पर शताब्दियों की काली काई जमी हुई थी और अक्षर स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ते थे। उसे साफ करने पर सारी चट्टान सफेद संगमरमर की तरह निकल आई।

इस शिला की विशेषता यह है कि इसपर अशोक के पूरे चौदह शिला-लेख खुदे

१. इन लेखों की रचना संभवतः स्वयं अशोक के द्वारा की गई थी।

२. यह स्थान उत्तर प्रदेश में देहरादून जिले की चकराता तहसील में है। मसूरी से यह स्थान लगभग १५ मील पश्चिम है। जिस शिला पर लेख खुदा है वह १० फुट लंबी तथा १० फुट ऊँची है। नीचे के भाग की मोटाई ८ फुट है। लेख उत्कीर्ण करने के लिए शिला को चिकना किया गया है। अभिलिखित शिलाभाग की ऊँचाई ५ फुट तथा ऊपर उसकी चौड़ाई ५॥ फुट है। निचले भाग की चौड़ाई ७ फुट १०॥ इंच हो गई है।

है। वे बहुत अच्छी दशा मे आज तक विद्यमान है। शिला के दाई ओर एक हाथी का रेखाचित्र बना है, जिसके नीचे 'गजतमे' (सर्वश्रेष्ठ हाथी) लिखा है। शिला के दरार-वाले तथा खुरदरे भाग को अलिखित छोड दिया गया है। नवे लेख तक के अक्षर छोटे है। दसवे से लेकर अगले लेखो के अक्षर बडे बनाए गए है। कही-कही वे प्रारभिक अक्षरो के आकार से तिगुने बडे हो गए है। लेखो का पिछला अश एक ही ओर न आ सकने के कारण चट्टान की दाईं ओर खोद दिया गया है।

पहला शिलालेख

"इय धमलिपि देवानपियेना पियदसिना लेखिता। हिदा नो किछि जिवे आलभितु पजोहिताविये नो पि चा समाजे कटविये। बहुका हि दोसा समाजमा देवानपिये पिय-दसी लाजा दखति। अथि पि चा एकतिया समाजा साधुमता देवानपियमा पियदसिमा लाजिने पुले महानसमि देवानपियमा पियदसिमा लाजिने अनुदिवस बहुनि पातसह-सानि अलभियिसु सुपठाये। से इदानि यदा इय धमलिपि लेखिता तदा तिनि येवा पानानि अलभियति दुवे मजूला एके मिगे। से पि चु मिगे नो ध्रुवे। एतानि पि चु तिनि पानानि नो अलाभियिसति।

(यह अभिलेख देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी[1] ने खुदवाया है। इस ससार मे न तो कोई प्राणी मारा जाय, न बलि दी जाय और न समाज[2] किया जाय, क्योकि प्रिय-दर्शी (सबका भला चाहनेवाला) राजा ऐसे समाज मे बहुत सी बुराइयाँ देखता है। लेकिन कुछ समाज ऐसे भी है जिनको देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा अच्छा समझता है। पहले देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा के रसोईघर मे नित्य हजारो प्राणी मारे जाते थे। परन्तु अब जब से यह धर्मलेख लिखवाया गया है तब से तीन ही प्राणी मारे

१. अशोक के द्वारा इन लेखों में अपने लिए प्रायः 'देवानं पिय पियदसि (खरोष्ठी—प्रियद्रशि) लाजा (राजा)' (संस्कृत-'देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा') शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य 'देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी (भला चाहने-वाला)' है। हाल में विंध्यप्रदेश के गुजर्रा नामक स्थान से प्राप्त अशोक के नए लघु-शिलालेख में 'देवानंपियस पियदसिनो असोकराजस' शब्द आए हैं।

२. समाज ('समज्जा') से तात्पर्य ऐसे समारोहों से प्रतीत होता है जिनमें खान-पान, नाच-गाना, रास-रंग आदि हुआ करते थे। उदाहरणार्थ वात्स्यायन-रचित 'कामसूत्र' में ऐसी गोष्ठियों तथा समारोहों के उल्लेख मिलते हैं।

जाते हैं—दो मोर[1] और एक हरिण। यह हरिण भी हमेशा के लिए नही है। आगे ये तीनो प्राणी भी नही मारे जायेंगे।)

दूसरा शिलालेख

"सवता विजितसि देवानपियसा पियदसिसा लाजिने ये च अता अथा चोडा पडिया सातियपुतो केलल्पुतो तंबपनि अतियोगे नाम योनलाजा ये चा अने तसा अतियोगसा सामता लाजानो सवता देवानपियसा पियदसिसा लाजिने दुवे चिकिसका कटा मनुसचिकिसा चा पसुचिकिसा चा। ओसधीनि मनुसोपगानि चा पसोपगानि चा अतता नथि सवता हालापिता चा लोपापिता चा। एवमेवा मुलानि चा फलानि चा अतता नथि सवता हालापिता चा लोपापिता चा। मगेसु लुखानि लोपितानि उदुपानानि चा खानापितानि पटिभोगाये पसुमुनिसान।"

(देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा के जीते हुए राज्य मे सब जगह और सीमाप्रदेश की जातियो—जैसे चोल, पाडय, सातियपुत्र और केरलपुत्र[2]—के राज्यो मे, ताम्रपर्णी[3] (लका) तक और यवनराज (ग्रीक) अतियोक[4] तथा उसके जो निकटवर्ती राजा है उनके देशो मे सब जगह देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्साओ का प्रबध किया है—मनुष्यो की और पशुओ की। जहाँ-जहाँ मनुष्यो के और पशुओ के उपयोग मे आनेवाली औषधियाँ नही मिलती थी वहाँ-वहाँ सब जगह वे भिजवाई और लगवाई गई है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ मूल और फल नही थे वहाँ-वहाँ सब स्थानो पर मँगाए और लगवाए गए

तीसरा शिलालेख

"देवानं पिये पियदमि लाजा हेवं आहा। दुवाडसवमाभिसितेन मे इयं

१. मयूर-मांस को आयुर्वेद में बड़ा पौष्टिक बताया गया है। वाल्मीकि रामायण (२,९१,७०) के अनुसार वह राजाओं का प्रिय भोजन था।

२. ये चारों राज्य अशोक के साम्राज्य के बाहर धुर दक्षिण में थे।

३. पाली साहित्य में 'तंबपंनि' नाम लंका या सिंहल (सीलोन) के लिए मिलता है। लंका की अनुश्रुतियों में अशोक तथा सिंहल के तत्कालीन शासक देवानंपिय तिस्स के बीच घनिष्ठ संबंध होने का उल्लेख मिलता है।

४. यह सिल्यूकस का पौत्र तथा सीरिया का शासक था। इसका उल्लेख तेरहवें शिलालेख में भी हुआ है।

हैं। मनुष्यो और पशुओ के उपयोग के लिए रास्तों पर वृक्ष लगवाए और कुएँ खुदवाए गए है।)

आनपयिते। सवता विजितसि मम युता लजूके पादेसिके पंचसु पचसु वसेसु अनुसयान निखमतु एताये वा अठाये इमाय धमनुसथिया यथा अनाये पि कंमाये। साधु मातपितिसु सुसुसा मितसंथुतनातिकयान चा बभनसमनान चा साधु दाने पानानं अनालंभे साधु अपवियाता अपभडता साधु। पलिसा पि च युतानि गननसि अनपयिसति हेतुवता चा वियजनते चा।"

(देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने इस तरह कहा—बारह वर्ष से अभिषिक्त हुए मैंने यह आज्ञा दी। मेरे सारे राज्य मे युक्त, राजुक तथा प्रादेशिक[1] कर्मचारी हर पाँचवें वर्ष इस धर्म-शिक्षा के लिए और दूसरे कामो के लिए भी दौरे मे जायँ—माता-पिता की सेवा करना अच्छा है, मित्रो, जान-पहचानवालो, नातेदारो, ब्राह्मणो और श्रमणो (भिक्षुओ) को दान देना अच्छा है। जीवहिंसा न करना अच्छा है। कमखर्ची और कम सामान जोडना अच्छा है। (महामात्रो की) परिषद् भी इसी प्रकार का आदेश युक्तो को देगी कि वे नियमानुसार युक्तिसगत रूप मे अपने कर्तव्य का पालन करे।)

चौथा शिलालेख

"अतिकत अतल बहुनि वससतानि वधिते वा पानालभे विहिंसा चा भुतान नातिना असंपटिपति समनबभनान असपटिपति। से अजा देवानपियसा पियदसिने लाजिने धमचलेनना भेलिघोसे अहो धमघोसे विमनदसना हथिनि अगिकधानि अनानि चा दिव्यानि लुपानि दसयितु जनस। आदिसा बहुहि वससतेहि ना हुतपुलुवे तादिसे अजा वढिते देवानपियसा पियदसिने लाजिने धमनुसथिये अनालभे पानान अविहिंसा भुतानं नातिनं सपटिपति बभनसमनान सपटिपति माता-पितिसु सुसुसा। एसे चा अने चा बहुविधे धमचलने वधिते। वधियिसति चेवा देवानपिये पियदसि लाज इमं धमचलन। पुता च क नताले चा पनातिक्या चा देवानपियसा पियदसिने लाजिने पवढयिसति चेव धमचलन इम अवाकप धमसि सीलसि चा चिठितु धम अनुसासिसति। एसे हि सेठे कम अ धमानुसासनं। धमचलने पि चा नो होति असिलसा। से इमसा अथसा वधि अहिनि चा साधु। एताये अथाये इय लिखिते इमसा अथसा वधि युजनु हिनि

१. 'युक्त', 'राजुक' तथा 'प्रादेशिक'—ये तीनों उच्च सरकारी कर्मचारियों की संज्ञाएँ थीं।

च मा अलोचयिसु। दुवाडमवशाभिसितेना देवानपियेना पियदशिना लाजिना लेखिता।'

(बहुत समय बीत गया कि सैकडो वर्षों तक प्राणियो की बलि, जीवो की हिसा, नातेदारो के साथ बुरा बर्ताव तथा ब्राह्मण और श्रमणो के आदर का अभाव बढता ही गया। परंतु आज देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरी का शब्द, (युद्ध के बदले) धर्म की घोषणा बन गया है। इससे लोगो को दिव्य रथो और हाथियो, अग्निस्कध (रोशनी) आदि और कई अन्य प्रकार के दिव्य रूपो के दर्शन होने लगे है। जैसा कि सैकडो वर्षों से पहले कभी नही हुआ था, वैसा, आज देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा की धर्मशिक्षा से, पशु-हत्या का बद होना, जीव-अहिसा, सबधियो, ब्राह्मणो और श्रमणो का सत्कार, मातापिता की सेवा तथा अन्य कई तरह के धर्माचरणो का प्रचार बढा है। देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा इसको इसी तरह बढ़ाता रहेगा। देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र भी इस धर्माचरण को सृष्टि के अत तक बढाते रहेगे तथा धर्म और शील का पालन करते हुए धर्म का उपदेश करेगे। यह धर्म का प्रचार सर्वोत्तम कार्य है। शील से वर्जित पुरुष के लिए धर्माचरण असभव है। इसकी रक्षा और वृद्धि करना अच्छा है। इसीलिए यह लिखा गया है कि (मेरे उत्तराधिकारी) इसकी वृद्धि मे लगे रहे और इसकी अवनति को न देखे। बारह वर्ष से अभिषिक्त हुए देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने इसे लिखवाया।)

पाँचवाँ शिलालेख

"देवानपिये पियदसि लाजा अहा। कयाने दुकले। ए आदिकले कयानमा मे दुकल कलेति। से ममया बहु कयाने कटे। ता ममा पुना चा नताले चा पल चा तेहि ये अपतिये मे अवाकप तथा अनुवटिपति मे सुकट कछति। ए चु हेना देस पि हापमियति मे दुकट कछति। पापे हि नामा सुपदालये। से अतिकत अतल नो हुतपुलुव धममहामता नामा। ते दमवसाभिसितेना ममया धममहामाता कटा। ते सवपासडेसु वियापटा धंमाधिथानाये चा धमवढिया हिदसुखाये वा धंमयुतसा येनकबोजगधालान ए वा पि अने अपलना। भटमयेसु बभनिभेसु अनथेसु वुधेसु हिदसुखाये धमयुताये अपलिबोधाये वियपटा ते। बंधनबधमा पटिविधानाये अपलिबोधाये मोखाये चा एय अनुबधा पजाव ति वा कटाभिकाले ति वा महालके ति वा वियापटाते। हिदा बाहिलेसु चा नगलेसु सवेसु ओलोधनेसु भातिनं च ने भगिनिना ए वा पि अने नातिक्ये सवता वियापटा। ए इय

धमनिसिते ति वा दानमुयुते ति वा सवता विजितसि मम धमयुतसि वियपटाते धममहामता। एताये अठाये इय धमलिपि लेखिता चिलथितिक्या होतु तथा च मे पजा अनुवततु।"

(देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा बोला—भलाई कठिनता से होती है। जो मनुष्य भलाई प्रारभ करता है वह बडा कठिन काम करता है। मैंने बहुत भलाई की है। इसलिए यदि मेरे पुत्र, पौत्र और उनके वाद के मेरे वशज कल्प के अत तक उसका अनुकरण करेंगे तो वे पुण्य करेंगे। जो इसके थोडे से अश की भी हानि करेंगे वे पाप करेंगे। पाप को निश्चय ही नष्ट कर देना चाहिए। विगत समय में धर्म महामात्र[1] नही होते थे। तेरह वर्ष से अभिषिक्त मेरे द्वारा धर्ममहामात्र नियुक्त किए गए है। वे धर्म की रक्षा और वृद्धि के लिए तथा धार्मिक मनुष्यो की भलाई एवं सुख के लिए सभी मतानुयायिओ के बीच नियुक्त किए गए है। वे यवनो, कबोजो, [illegible] नियुक्त किए गए [illegible] सिपाहियो, उनके सरदारो, ब्राह्मण सन्यासियो एव गृहस्थो, अनाथो और वृद्धों के हित-सुख के लिए तथा धर्मवालो की रक्षा के हेतु उनकी नियुक्ति की गई है। (धर्ममहामात्रो का) कर्तव्य राजकीय अनुदानो को देखना तथा अकारण बधन मे पडे हुए भाग्यग्रस्त, दुखी वा वृद्धो को छुटकारा देना है। इसीलिए वे सभी जगह नियुक्त है—मेरे अत पुरो मे, मेरे भाइयो, बहनो तथा अन्य सबधियो के यहाँ, चाहे वे पाटलिपुत्र मे रहते हो या बाहर के नगरो मे। मेरे राज्य मे प्रत्येक स्थान पर ये (धर्ममहामात्र) उन लोगो के सपर्क मे है जो धर्मवान् है, धर्म की प्रतिष्ठा करते है और दानदाता है। इसीलिए यह धर्मलिपि लिखा दी गई कि यह चिरस्थायी हो और मेरी प्रजा इस मार्ग का अनुवर्तन करे।)

छठा शिलालेख

"देवानपिये पियदसि लाजा हेव आहा। अतिकत अतलं नो हुतपुलुवे सव काल अठकमे वा पटिवेदना वा। मे ममया हेव कटे। सव काल अदमानसा मे ओलोधनमि गभागालसि वचसि विनितसि उयानसि सवता पटिवेदका अठ जनसा वेदेतु मे। सवता चा जनसा अठ कछामि हक। यपि चा किछि मुखते आनपयामि हक दापक वा

१. धर्म का प्रचार करनेवाले उच्च राज्याधिकारी।
२. अपरांत से तात्पर्य संभवतः भारत के पश्चिमी तट से है।

सावक वा ये वा पुना महामतेहि अतियायिके आलोपिते होति तायेठाये विवादे निरुति वा सत पलिसाये अनतलियेनापटि· · विये मे सवता सव काल। हेवं आनपयिते ममया। नथि हि मे दोसे उठानमा अठसतिलनाये चा। कटवियमुते हि मे सवलोकहिते। तमा चा पुना एसे मुले उठाने अठसतिलनाये चा। कटवियमुते हि मे सवलोकहितेना य च किछि पलकमामि हकं किति भुतानं अननिय येह हिद च कानि सुखायामि पलत चा स्वग आलाघयितु। मे एतायेठाये इय धंमलिपि लेखिता चिलठितिक्या होतु तथाच मे पुतदाले पलकमातु सवलोकहिताये। दुकूले चु इय अनना अगेना पलकमेना।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा इस प्रकार बोला—बहुत समय बीत गया, पर पहले हर समय कार्य करने और विवरण (रिपोर्ट) देने का रिवाज नही था। अत. मैंने ऐसा किया कि प्रत्येक समय और स्थान पर—चाहे मै भोजन करता होऊँ, या अत पुर मे, एकांतगृह मे, गोचर भमि मे,[1] घोडे की पीठ पर या क्रीडोद्यान मे होऊँ—सूचना-वाहक प्रजा-सबधी खबरे मुझसे निवेदन कर सकते है, क्योकि मै हर समय प्रजा का ही कार्य करता हूँ। और जो कुछ मौखिक दान की या घोषणा करने की आज्ञा मै देता हूँ तथा विशेष आवश्यकता पडने पर महामात्र लोग जो घोषित करते है, यदि उसके संबध मे परिषद् मे कोई विरोध या विवाद उपस्थित हो तो उसकी सूचना मुझे शीघ्र हर समय और हर स्थान पर दी जाय, ऐसी मेरी आज्ञा है। मुझे अपने प्रयत्नो और कार्यों मे सतोष नही होता। सभी का हित करना ही मेरा सर्वोच्च कर्तव्य है। उसका मूल यह है कि जुटकर प्रयत्न किया जाय और कार्य की पूर्ति की जाय। सबकी भलाई से बढकर दूसरा काम नही है। जो भी थोडा उद्योग मै करता हूँ वह प्राणियो से उऋण होने के लिए और कुछ को इस लोक मे सुखी करने तथा परलोक मे स्वर्ग प्राप्ति के लिए ही करता हूँ।

इसी हेतु यह धर्मलेख लिखवाया है कि यह बहुत समय तक रहे और मेरे पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र इसका पालन कर सब लोगो के हित के लिए उद्योग करे। ऐसा बिना पूर्ण प्रयत्न के सफल नही हो सकता।)

१. इस लेख में 'वच' शब्द 'व्रज' के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। 'व्रज' का प्रयोग प्राचीन साहित्य में प्रायः गोचर-भूमि तथा पशुओं के गोष्ठ (बंधने के स्थान) के लिए मिलता है। यहाँ 'गोचरभूमि' अर्थ अधिक संगत है।

सातवाँ लेख

"देवानपिये पियदसि लाजा सवता इछति सबपामड वसेवु। सवे हि ते सयमं भावसुधि चा इछंति। जने चु उचावुचाछदे उचावुचलागे। ते सवं एकदेस पि कछति। विपुले पि चु दाने असा नथि सयमे भावसुधि किटनाता दिढभतिता चा निचे बाढ।"

(देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब जगह सब धर्मावलंबी रहें, क्योकि वे सब ही इद्रियनिग्रह और भाव की शुद्धि चाहते है। मनुष्य भिन्न-भिन्न रुचि और आकाक्षा के होते हैं। उनमे से कुछ (अपने कर्तव्य का) पूरा और कुछ एक भाग करेगे। जिनके पास दान के लिए बहुत धन नही है वे भी यदि सदा सयम, भाव-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढभक्ति रखे तो अच्छा हो।)

आठवाँ लेख

"अतिकत अतलं देवानपिया विहालयात नाम निखमिसु। हिदा मिगविया अनानि चा हेडिसाना अभिलामानि हुसु। देवान पिये पियदसि लाजा दसवसाभिसिते संतं निखमिथा सबोधि। तेनता धंमयाता। हेता इय होति समनबभनान दसने चा दाने च वुधान दसने च हिलंन पटिविधाने चा जानपदसा दसने धमनुसथि चा धमपलिपुछा चा ततोपया। एसे भुये लाति होति देवानपियसा पियदसिसा लाजिने भागे अने।"

(समय बीत गया जब कि देवताओं के प्यारे (राजा लोग) विहार के लिए यात्रा मे जाते थे। उसमे शिकार और इसी प्रकार के दूसरे आमोद-प्रमोद होते थे। दश वर्ष मे अभिषिक्त देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा संबोधि (यात्रा) के लिए निकला। इसीलिए यह धर्मयात्रा की गई। इसमे ब्राह्मणो और भिक्षुओ के दर्शन होते है, उनको दान दिया जाता है, वृद्धो के दर्शन होते है, उनको सुवर्ण दान दिया जाता है। जनपद-वासियो से मिलने, उनको धर्मोपदेश देने तथा धर्मसबधी पूछताछ करने का समय मिलता है। देवताओ का प्यारा प्रियदर्शी राजा इन आनंदप्रद धर्मयात्राओ को अपना अहोभाग्य समझता है।)

नवाँ लेख

"देवानंपिये पियदसि लाजा आहा। जने उचावुच मगलं कलेति आबाधसि अवाहसि विवाहसि पजोपदाने पवासमि एताये अनाये चा एदिसाये जने बहु मगल कलेति। हेतु

च अबकजनियो बहु चा बहुविध चा खुदा चा निलथिया चा मगल कलनि। मे कटवि चेव खो मगले। अपफले चु खो एमे। इय चु खो महाफले चे धममगले। हेता इय दासभटकसि सम्यापटिपति गुलुना अपचिति पानानं सयमे समनबभनान दाने एमे अने चा हेडिसे। धममगले नामा। मे वतविये पितिना पि पुतेन पि भातिनापि सुवामिकेन पि मितसथुतेना अव पटिवेमियेना पि इय साधु इय कटविये मगले आव तसा अथसा निवुतिया इम कछामि ति। ए हि इतले मगले समयिक्ये से। सिया व त अठ निवटेया सिया पुना नो। हिदलोकिके चेव से। इय पुना धममगले अकालिक्ये। हचे पि त अठ नो निटेति हिद अठ पलत अनत पुना पवसति। हचे पुन त अठ निवतेति हिदा तनं उभयेम लधे होति हिद चा से अठे पलत चा अनत पुना पसवति तेना धममगलेना।'

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा बोला—मनुष्य कई तरह के मगल कार्य करता है। बीमारी में, विवाह में, पुत्र होने पर, बाहर जाने के समय और ऐसे ही दूसरे अवसरों पर बहुत मगल कार्य किये जाते हैं। इन अवसरों पर माताएं बहुत से, कई तरह के, तुच्छ और निरर्थक मगल करती हैं। मङ्गल-कार्य तो अवश्य करने चाहिए। परतु ये थोडे फल को देनेवाले होते है। किन्तु धर्म-सबधी मगल बहुत फल को देते हैं। क्योंकि इनमें दासों (गुलामों) और नौकरों के साथ अच्छा बर्ताव किया जाता है, गुरुओं की पूजा की जाती है, प्राणियों के प्रति सयम (अहिंसा) किया जाता है, भिक्षुओं और ब्राह्मणों को दान दिया जाता है। ये और ऐसे ही अन्य कार्य धर्म-मगल हैं। इसका उपदेश पिता, पुत्र, भाई, मालिक, मित्र और जान-पहचानवाले के द्वारा भी किया जाना चाहिए कि 'यह श्रेष्ठ है, यह धर्ममगल उस कार्य की समाप्ति तक करना चाहिए। ऐसा मैं करूँगा।' इससे भिन्न दूसरे प्रकार के सभी मगल सशयपूर्ण होते हैं। उनसे कार्य की सिद्धि हो या न हो। वे इसी लोक के लिए होते हैं परतु धर्ममगल हर समय के लिए उपादेय है। यदि इस लोक में कार्य की सिद्धि न करे तो भी वह परलोक मे बहुत फल देता है। और यदि इस लोक मे भी उद्देश्य की सिद्धि कर दे तो इस धर्ममगल से दोनो लाभ हो जाते हैं—इस लोक में कार्य-सिद्धि होती है और परलोक मे अनंत पुण्य प्राप्त होता है।)

दसवाँ लेख

"देवानपिये पियदसा लजा यसो वा किति वा नो महथावा मनति अनता य पि यसो वा किति वा इछति तदत्वाये अयतिये चा जने धमसुसुषा सुसुषातु मेति धंमवत वा अनु विधियंतु ति। धतकाये देवानपिये पियदसि लाजा यसो वा किति वा इछ। अ चा

केछि लकमति देवनंपिये पियदपि लजा त पव पालंतिक्याये वा किति सकले अपपलापवे पेयाति ति। एपे चु पलिसवे ए अपुने। दुकले चु खो एपे खुदकेन वा वगेना उपटेन वा अनत अगेना पलकमेना पव पलितिदितु। हेत चु खो उपटेन वा दुकले।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा यश या कीर्ति को विशेष महत्त्व का नहीं समझता। जो कुछ यश और कीर्ति वह चाहता है वह केवल इसलिए कि वर्तमान में और आगे भी लोग धर्म-वाक्यों को सुनें और धर्मव्रत का अनुकरण करें। इसीलिए देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा यश या कीर्ति की इच्छा करता है। जो कुछ उद्योग देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा करता है वह सब परलोक के लिए ही है, जिससे सब लोग अधोगति से बच जायँ। यह अधोगति ही पाप है। परन्तु बिना प्रबल उद्योग के और बिना सब कुछ त्याग किए छोटे या बड़े आदमी के लिए यह कार्य करना बड़ा कठिन है। बड़े आदमी के लिए तो यह कार्य अत्यन्त ही दुष्कर है।)

ग्यारहवाँ लेख

"देवानंपिये पियदपि लाजा हेव हा। नथि हेडिसे दाने अदिप धमदाने। धमसंविभगे। धमसंबधे। तत एपे दासभटकसि। सम्यापटिपति मातापितिसु सुसूसा। मितस, धुतनातिक्यान समनाबभनाना दाने पानान अनालभे। एपे वनविये पितिमा पे पुतेन पि भातिना पि सवामिकयेन पि [illegible] अवा पटिवेसियेना इय साधु इय कटविये। से तथा कलत हिदलोकिक्ये च क आलधे होति पलत चा अनत पुना पसवति तना धमदानेना।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा इस प्रकार बोला—धर्मदान (धर्मोपदेश) करने के समान कोई दान नहीं और न धर्म के साथ परिचय या सबध करने के समान कोई परिचय या सबध है। इसलिए दास (गुलाम) और नौकरों के साथ उचित बर्ताव करना, माँ-बाप की सेवा करना, मित्रों, जान-पहचानवालों, रिश्तेदारों, ब्राह्मणों और श्रमणों (भिक्षुओं) को दान देना तथा जीवों की हिंसा न करना उचित है।

'यह श्रेष्ठ है, यह करना चाहिए'— ऐसा पिता को, पुत्र को, भाई को, मालिक को, मित्र को, जान-पहिचानवाले को और पडोसी को भी कहना चाहिए। ऐसा करनेवाला इस लोक को सुधारता है और उस धर्मदान से परलोक में भी अटूट पुण्य प्राप्त करता है।)

बारहवाँ लेख

"देवानापिये पियदसि लाजा सवपापंडानि पवजितानि गहथानि वा पुजेति दानेन विविधये च पुजाये। नो चु तथा दाने वा पुजा वा देवानपिये मनति अथा कित शालावढि शियाति शवपाशडान। शालावढि ना बहुविधा। तश चु इन मुले अ वचगुति किति नि अतपशड वा पुजा वा पलपाशंडगलहा व नो शया अपकलनशि लहका वा शिया तगि तशि पकलनशि। पुजेतविय चु पलपाशडा तेन तेन अकालन। हेव कलत अतपाशडा बढं वढियति पलपाशड पि वा अपकलेति। तदा अनथ कलत अतपाशड च छनति पलपाशड पि वा अपकलेति। ये हि केछ अतपाशड पुनाति पलपाषड वा गलहति। पवे अतपाषंडभतिया वा किति। अतिपाषंड दिपयेम पे च पुना तथा कलत। बाढतले उपहति अतपापंडपि। षमवाये वु साधु किति। अंनमनपा धम। शुनेयु चा पुपुषेय चाति। हेव हि देवानपियषा इछा किति सवपापड। बहपुना चा कयानागा च हुवेयुति। ए च तत तत पषना तेहि वतविये। देवानापिये नो तथा दान वा पुजा वा मनति। अथ किति षालावढि शिया पवपाषडति। बहुका चा एतायाठाचे वियापटा धममहामाता इथिधियखमहामाता वचभुमिक्या अने वा निक्यापा। इय च एतिपा फले। य अतपाषडवढि चा होति धमप चा दिपना।"

(देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा सब धर्मवालों को, सन्यासियों को और गृहस्थों को दान से और अनेक प्रकार के सत्कार से पूजता (आदर करता) है। परन्तु देवताओं का प्यारा सब धर्मवालों की तात्त्विक उन्नति के बराबर किसी भी दान या पूजा को नहीं समझता। यह तात्त्विक उन्नति कई प्रकार की है। पर इसका मूल वाणी का सयम है, क्योंकि इससे अकारण अपने धर्म की स्तुति और दूसरे के धर्म की निंदा नहीं होती। ऐसा किसी विशेष अवसर पर ही किया जा सकता है। पर ऐसे अवसर पर दूसरे धर्मवालों के मतों का आदर करना चाहिए। ऐसा करने से (मनुष्य) अपने ही पथ की उन्नति करता है और दूसरे पंथों का भी उपकार करता है। इससे विपरीत करने से अपने पंथ की हानि होती है और दूसरों की भी। यदि कोई अपने पथ की भक्ति के कारण या अपने पंथ की उन्नति की इच्छा से अपने धर्मवालों को पूजता है और दूसरे धर्मवालों की बुराई करता है तो ऐसा करने से वह अपने ही पथ पर कठोर प्रहार करता है। अतः मेल-मिलाप ही अच्छा है, क्योंकि इससे अन्य धर्मानुयायी भी दूसरों के धर्म को सुन सकते हैं। देवताओं के प्यारे (राजा) की ऐसी इच्छा है कि सब पंथवाले पूरी तौर से जानकार और भले हों। प्रत्येक धर्म के माननेवालों से कहना चाहिए—देवताओं

का प्यारा (राजा), सब धर्मवालो की तात्त्विक उन्नति तथा व्यापक दृष्टिकोण के बराबर किसी दान या पूजा को नही मानता।' इसी के लिए बहुत से धर्ममहामात्र (धर्म के उपदेश करनेवाले अधिकारी), स्त्री-अध्यक्ष महामात्र (स्त्रियो की देखभाल करनेवाले अधिकारी), व्रज भूमिक (गोचर भूमि के अधिकारी) तथा दूसरे अधिकारी वर्ग नियत किए गए हैं। इसका फल अपने-अपने पथ की वृद्धि और धर्म की उन्नति है।)

तेरहवाँ लेख

"अठवसा भिसितसा देवानपियस पियदसिने लाजिने कलिंगा विजिता। दियढमिने पानसतपहाणे ये तफा अपवुढे शतसहसमिने तत हते बहुतावतके वा मैटे। ततो पछा अधुना लधप कलिंगेषु तिवे धमवाये धमकामता धमानुथपि चा देवानपियसा। पे अथि अनुपये देवानपियसा विजिनितु कलिंगानि। अविजित हि विजिनमने। ए तता वध वा मलने वा अपवहे वा जनसा। पे बाढ वेदनियमुते गुलुमुते चा देवानपियसा। इय पि चु ततो गलुमतसले देवानपियसा य तता वसति बाभना व समवा अने वा पाशड गिहिथा वा येशु विहिता एष अनरभिपुपुसा माता पितिपुपुसा गलुपुसा मितसयुतसहायनातिकेषु दाशभटकसि चमयापटिपति दिढभतित तेष। तता होति उपघाते वा वधे वा अभिलतान वा। विनिखमने येष वा पि पुविहितान पिनेहे अविपहिने ए तान मितशथुतसहायनातिकय वियसन पापुनात तता पे पि तानमेवा उपघाते होति। पटिभागे चा एष सवमनुषान गुलुमने चा देवानपियसा। नथि चा पे जनपदे यता नथि इमे निकाया आनता योनेषु बह्मने चा समने चा नथि। चा कुवापि जनपदसि यता नथि मनुषान एकतलसि पि पाषडसि नोनाम पसादे। पे अबतके जने तदा कलिंगेषु लधेषु हते चा मटे चा अपवुढे चा ततो पते भागे वा सहसभागे वा अज गुलुमते वा देवानपियसा।

···नेयु। इछ··· सवभु · षयम समचलिय मदव ति। इयं वु मु ·· देवान पियेसा ये धमविजये। षे च पुना लधे देवानपि···· च सवेषु च अतेषु अपसु पि योजनसतेषु अत अतियोगे नाम योनलाजा पल चा तेना अतियोगेना चतालि। लजाने तुलमये नाम अतेकिने नाम मका नाम अलिकसुदले नाम मिच चोडपडिया अव तंबपनिया हेवमेवा। हेवमेवा हिदा लाजविशवसि योनकबोजेषु नाभकनाभपतिषु भोजपितिनिकयेषु अधपालदेषु षवसा देवानपियसा धमानुषधि अनुवतति। यत पि दुना देवानंपियसा नो यंति ते पि सुतु देवानपिनंय धमवुत विधन धंमानुसथि धम अनुविधिवम

अनुविधियिमअ चा। ये मे लधे एतकेना होति सवता विजये पितिल्से मे। गधा सा होति पिति पिति धमविजयपि। लहुका वु खो सा पिति। पालतिक्यमेवे महफला मनति देवेनपिने। एताये चा अठाये इय धंमलिपि लिखिता किति पुता पपोता मे असु नवं विजय म विजयतविय मनिषु पयकपि नो विजयपि खति चा ल। हुदडता चा लोचेतु तमेव चा विजय मनतु ये धमविजये। पे हिदलोकिक्य पललोकिये। पवा च क निलति होतु उयामलति। पा हि हियलोकिक पललोकिक्या।"

(आठ वर्ष से अभिषिक्त देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने कलिंग को विजय किया। इसमें डेढ़ लाख मनुष्य पकड़े गए, एक लाख मारे गए और इससे भी अधिक नष्ट हो गए। उसके बाद अब जीते हुए कलिंग देश में देवताओं के प्यारे राजा के द्वारा धर्म का सम्यक् पालन, धर्मकार्य तथा धर्मोपदेश किया जाता है। देवताओं के प्यारे को कलिंग जीतने का परिताप है। जब एक अविजित राज्य को जीता जाता है तब युद्ध में मानवों का वध, मृत्यु और बंधन होता है। यह पीड़ाजनक है, अत: देवताओं का प्यारा इसे बहुत दु:खद एवं संताप-दायक समझता है। पर इससे भी अधिक खेद की बात यह है कि वहाँ (विजित देशों में) ऐसे ब्राह्मण, भिक्षु, अन्य पंथवाले या गृहस्थ रहते हैं जिनपर बड़ों और वृद्धों की सेवा का, माता-पिता की सेवा का, गुरुओं की सेवा का तथा मित्रों, जान-पहचानवालों, सहायकों, संबंधियों, दासों और नौकरों के प्रति अच्छे बर्ताव और श्रद्धा का उत्तरदायित्व रहता है। उनका युद्ध में नाश या क्षति होती है, अथवा उन्हें अपने प्रिय लोगों से पृथक् होना पड़ता है। साधारण जीवन निर्वाह करनेवाले भलेमानुसों के प्यारे मित्र, जान-पहचानवाले, सहायक तथा संबंधी दु:ख में पड़ते हैं। वह दु:ख भी उन्हीं भलेमानुसों का क्लेश बन जाता है। उन भद्र-पुरुषों के भाग्य का यह प्रतिघात देवताओं के प्यारे के लिए बड़े संताप का विषय है।

यवनों के अतिरिक्त[1] ऐसा कोई अन्य राज्य नहीं है जहाँ ब्राह्मण और श्रमण साधु न रहते हों। इन राज्यों में ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ के निवासियों का किसी-न-किसी धर्म में अनुराग न हो। कलिंग में जितने आदमी मारे गए नष्ट हुए और पकड़े गए उनका सौवाँ या हजारवाँ भाग भी अब देवताओं के प्यारे के लिए असह्य है। बुराई करनेवाला भी यदि क्षमा के योग्य है तो उसे क्षमा-प्रदान करना ही देवताओं के प्यारे

१. यवन-राज्यों से तात्पर्य भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर स्थित यूनानी (ग्रीक) राज्यों से है। वहाँ की धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति भारत से भिन्न थी।

को अभीष्ट है। जगली के निवासियो को भी क्षमा किया जाता है जो देवताओ के प्यारे के शासन मे है। उन लोगो को खेद प्रकाश करनेवाले देवताओ के प्यारे का महान् सदेश बताया जाता है। इससे वे लोग (अपने दुष्कर्मों के लिए) लज्जित होगे और मृत्यु से बच जायँगे। देवताओ का प्यारा सब प्राणियो का क्षेम, सयम (आत्म-निग्रह), समान भाव तथा सुख चाहता है।

देवताओ के प्यारे के द्वारा धर्मविजय सब विजयो मे मुख्य समझी जाती है। यह विजय देवताओ के प्यारे के द्वारा यहाँ प्राप्त की गई है तथा सीमावर्ती राज्यो मे छ: सौ योजन पर्यन्त भी (प्राप्त की गई है), जहाँ अतियोक नामक यवन राजा[1] है। और उस अतियोक के आगे जो चार शासक है—तुरमय, अतिकिन, मग तथा अलिक-सुदर[2]—उनके राज्यो मे भी। उसी प्रकार नीचे चोड, पाड्य तथा ताम्रपर्णी[3] तक मे। और इसी भाति राजाओ के शासनातर्गत यवन, कबोज, नाभक, नाभपति, भोज, पितिनिक, आध्र तथा पुलिद लोगो मे सर्वत्र देवताओ के प्यारे की धर्मसबधी शिक्षाओ का पालन होता है। जहाँ देवताओ के प्यारे के दूत नही जाते वहाँ के लोग भी देवताओ के प्यारे के धर्म-प्रवचनो, नियमो और आज्ञाओ को सुनकर धर्म का पालन करते है और करते रहेगे।

इस प्रकार सब स्थानो पर जो धर्मविजय प्राप्त होती है वह प्रेमभाव को उत्पन्न करनेवाली है। धर्म-विजय के द्वारा वह प्रेमभाव मुझे प्राप्त हुआ है। वह प्रेम देखने मे साधारण हो सकता है, परतु देवताओ का प्यारा उसे परलोक मे निश्चय ही महान् फलदायक मानता है।

इसीलिए यह धर्मलिपि लिखाई गई है कि मेरे पुत्र और प्रपौत्र किसी दूसरी नवीन विजय को प्राप्त करने की चेष्टा न करे। यदि वे किसी विजय को पसद ही करे तो वह

१. यह अंतियोक (Antiochos) सीरिया का यूनानी शासक ऐंटिओकस द्वितीय (ई० पू० २६१-२४६) था। इसका उल्लेख दूसरे शिलालेख में भी हुआ है।

२. ये चारो भी ग्रीक (यूनानी) शासक थे। तुरमय (Ptolemy II, Philadelphos) मिस्र का शासक (ई० पू० २८५-२४७) था। अंतिकिन (Antigonas Gonatas) मेसीडोनिया का राजा (ई० पू० २७८-२३९) था। मग (Magas) मिस्र के पश्चिम में राज्य करता था (समय ई० पू० ३००-२५८) तथा अलिक सुंदर (Alexander) एपीरस का शासक (ई० पू० २७२-२५८) था।

३. चोड़ और पांड्य भारत के धुर दक्षिण के राज्य थे। ताम्रपर्णी से तात्पर्य सिंहल या लंका से है।

क्षमा एवं लघु दंड होना चाहिए। और उन्हे यह समझना चाहिए कि जो धर्मविजय है वही वास्तविक विजय है। वह इस लोक मे तथा परलोक मे लाभकारी है। धर्म की प्रीति ही शासन की वास्तविक प्रीति है। वह इस लोक और परलोक के लिए हितकारी है।)

चौदहवाँ लेख

"इय धमलिपि देवानपियेना पियदसिना लजिना लिखापिता अथि येवा सुखितेना अथि माझमेना अथि विथटेना। नोहि सवता सवे घटिते। महालके हि विजिते बहु च लिखिते लेखापेशामि चेव निक्य। अथि चा हेता पुन पुना लपिते तप तपा अथपा मधुलियाये येन जने तथा पटिपजेया। पे पाया अत किछि असमति लिखिते दिपा वा पवेये कालन वा अलोचयितु लिपिकलपलाधेन वा।"

यह धर्मलेख देवताओ के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने लिखवाया है, कही सक्षेप से, कही मध्यम भाव से और कही विस्तार से। क्योंकि सब स्थानो पर सबकी आवश्यकता नही है। मैंने बहुत बडा भाग जीता है। बहुत-सा लिखवाया है और आगे भी बहुत-सा लिखवाता रहूँगा। इसमे विषय की मधुरता के कारण बहुत-सी बाते बार-बार लिखी गई है, जिससे लोग उन्हे प्रयोग मे लाएँ। यदि कहीं कुछ अधूरा लिखा गया हो, तो ऐसा स्थान-विशेष के कारण या कुछ छूट जाने के कारण अथवा लेखक की त्रुटि के कारण समझा जाय।)

शब्दानुक्रमणिका

अ

अग (राज्य)—१, ८०, ८२
अगिरस (ऋषि)—९९
अगुलिमाल—८६, ११३, १५३, २४२
अजन वन—५८
अनलिकित—२७८
अनिकिन (ऐटिगोनस)—३१७
अनियोक (ऐटिओकस)—३१७
अध वन—१२०, २४२
अबगाम—२५०
अबटक वन—५५
अबट्ठ—९३
अबपालि वन—९१
अबपाली—९१
अबरीध—८
अबलट्ठिका—९०
अबाला—२३५, ३०१
अकबर—२९५
अग्गालपुर—१३
अग्गालव चेतिय ग्राम—५
अग्गिक भरद्वाज—१०१, १०४
अग्निदत्त (राजा)—७८
अञ्ञात कोडञ्ञ (दे० कौडिन्य)—५६
अजातशत्रु—२, ३, १५, ६८, ८९, ९०, १०८, २६०
अजितकेशकम्बलिन—१८
अजिरवती (नदी)—२४५
अट्ठक (ऋषि)—९९
अतरजी (नगर)—१३, २५४
अनत्त लक्खन सुत्त—५४, १५३
अनागरिक धर्मपाल—२५३
अनाथ पिण्डिक—५, ६, ६८, ७०, ७१, १०७, १२१, १२८, १८५, २४२, २७०
अनिरुद्ध—३४, ६६, ८८, ९४, ११९, १६८, १८५, १९१
अनिरुधवा (ग्राम)—२६४
अनुपिय—११, ६६
अनोमा (नदी)—११
अपरगोदान—२९
अफगानिस्तान—२०८, २७७, २९८
अबटाबाद—३०१
अभय (राजकुमार)—८१, ८२
अभिधम्म—८
अमरावती—२६, २५१
अमितोदन—६७
अयोध्या—४, ५, ७, ८, २०, १९९, २०८, २११-१४, २३९-४०
अरिन्थ (भिक्षु)—१४७
अर्जुन—३९
अल्लकप्प—२६०
अलिकसुदर—३१७

अवध—१, ४
अवंती—१, ८, ५६, ७८, ८०, ११४, २२२
अवलोकितेश्वर—२३४-३५
अशोक—११, ७९, १९५-९७, २०१, २०३, २०४, २२१, २३४, २३७, २४३-४४, २४८-४९, २५१, २५५, २६१-६२, २७१, २७५-७७, २७९, २८७, २९१, २९४-९५, २९८-३०६
अशोकाराम—१९६, १९९
अश्वघोष—८०, २०६, २१२, ३०२
असंग—१९५, २३८-४०
असम—२३८
अस्मक—१, ८८
अस्सजी (अश्वजित्)—३, ५५, ६१
अस्सलायन—१०३
असित ऋषि—१८, ३५, ५६
असीरिया—२७६
अहिच्छत्रा—२३५, २३७, २८१, २९१-९२
अहिंसक (ब्राह्मण)—१०४, ११३
अहोगग (स्थान)—१९६

आ

आंध्र देश—१९५, ३०१, ३१७
आवला (तहसील)—२९२
आजीवक—१८
आतुमा (ग्राम)—५
आत्रेय—८१
आनन्द—३४, ५६, ६६-६७, ७५, ८८-९२, ९४, ११४, १२८, १६४, १८५, १९०, १९६, १९८-९९, २०१-२०३, २३४-३५, २५८-५९, २६४, २७१, २८६, २९१
आनन्दपुर (ग्राम)—२२२
आपण (स्थान)—८५
आम्रवन—९१, ९३, १०५-६
आम्रपाली—८२
आर्यदेव—२३६, २४०
आलवक (यक्ष)—७९
आलार कालाम—१८, ४४, ५२
आलवि (आलवी)—५, ८, १३, १४, १७, ७९, १९२
आलिका—१७
आविवा—८

इ

इंद्र—८, ६५, ७४, १००, २४९
इंद्रगुप्त—१९६
इच्छानगल (ग्राम)—५, ९५, ९६
इक्ष्वाकु—४, ३१, २५७
इक्षुमती (नदी)—२५४
इटावा—८
इत्सिंग—२०४, २०७, २२२, २३३, २६२-६३
इलाहाबाद—८, १२, १३, ७८, २०७, २४०, २७५, २९३
इसिदत्त—११२
इसिपत्तन—३, २४, ५३, ११९, १५५, १६०, १७३, १७६

ई

ईरान—२७५-७६

ईशान—१००

उ

उबरदत्त (यक्ष)—१६

उक्कट्ठ (ग्राम)—५, ९५, ९६

उज्जेनी (उज्जैन)—१२, २३, ७८, ८८, २०१

उजुञ्ञा (ग्राम)—५

उड्डीयान (प्रदेश)—२०८

उत्तर माणव—८६

उत्तरकुरु—२९

उत्तरानन्द माता—८४

उद्दक रामपुत्त (रुद्रक रामपुत्र)—१८

उदयन (उदेन)—९, ७६, ७७, ९२, १०७, ११३-१४, २४०

उदय (ब्राह्मण)—१०४

उदय (बुद्धदेव का शिष्य)—२०५

उदय माणवक—१६६

उद्दालक (आरुणि)—९, १५

उदायी (उदायि)—६४, १०६, १९८

उदुम्बर (स्थान)—१३

उदुम्बरिकाराम—८२

उन्नाव—७, ८, १२, १४, २३८

उपनन्द—१७६, १९०, २८४

उप्पल गंध—१०९

उपसिव माणव—१६८

उपगुप्त—१९५, १९८-२०४, २३५, २४८, २५१, २६१, २९८, ३०३

उपालि (गृहपति)—६६, ६८, ८२, ८८, १८५, २३४-३५, २४३

उपावन—९३

उरुवेलकप्प महावन—११

उरुविल्व (ग्राम)—४५

उरुविल्व काश्यप—६०

उरुमुण्ड (पर्वत)—१९७

उरुवेला—४६

उशीनर (राज्य)—१

उसिरद्धज (पर्वत)—३०, १९७

ऋ

ऋषिपत्तन, मृगदाव (दे० सारनाथ)—२५, ५५, ५७, २४५

ऋतुपर्ण—४

ए

एकनाला (ग्राम)—७७

एकसाला (ग्राम)—५, ९५

एटा—२५४

एपीग्रफ—३१७

ओ

ओतला (नगर)—१९९

ओपसाद (ग्राम)—५, ९५, ९७

औ

औरंगाबाद—१२

क

कठक—४३, १९९

कदरमसक (योगी)—८८

कम्बोजिका (दे० कमुइअ)

कबिल (शाक्य)—६६, १८५

कम्बोज—१, १३७

ककुट्ठा (नदी)—९३
कजंगल (नगर)—३०
कट्ठवाहन (नगर)—५
कट्ठहार (ब्राह्मण)—१०४-५
कटरा केशवदेव—२८६
कनकमुनि—२४३-४४, २७९
कनिष्क—२०६, २६८, २७८-२८५, २८८, २९१
कनौज (दे० कान्यकुब्ज)
कपित्थ (दे० माकाश्य)—२३७, २५५
कपिलवस्तु—१, १३, १४, २३, २४, ३४, ३५, ४३, ५५, ५६, ६८, ७१, ७३, ७४, ७९, २२२, २४३-४४, २४७-४८, २६०, ३००
कपिलमुनि—३१
कपिशा—२०८
कमलशील—२२५, २२८
कमुइअ (कम्बोजिका)—२८६
कर्ण (चेदि राजा)—२५२
कर्णसुवर्ण—२२२
कर्नूल—३०१
करेरमण्डलमाला—६
कलकत्ता (भारतीय सग्रहालय)—२७४, २८०
कलचुरी—२६३
कलिंग—२९८-९९, ३१६
कश्मीर—१९५, १९७, १९९-२०४, २०८, २११-१३
कस्सप (कश्यप)—८७
कापिल्य (कपिल्ल)—११
कात्यायनी पुत्र—७६, २११-१२
कानपुर—२९३
कान्यकुब्ज (कण्णकुज्ज)—८, ११, १३, ७८, २०८, २३७, २५२, २५४, २७३
काबुल—२९३
कामदेव—२८१
कायमगज—११
कालसी—२९८, ३०१, ३०४
काली (नदी)—२५४
कासगर—२०८
काश्यप (जटिल)—५९, ६२
काश्यप (अग्निदत्त)—६३
काश्यप बुद्ध—२४३, २४६
काशिग्राम (दे० कार्शी)
कार्शी (दे० बनारस)—१-४, २२, २५०-५३
काशीपुर—२३६
कासपुर—२४१
किटागिरि—३, १३ १८६ १८९
कुती (यक्षी)—१७
कुक्कुटाराम—९, २९७
कुत्ता—२०८
कुब्जा (राजकुमारी)—२३८
कुबेर—२८३-८४
कुमारदेवी—२५२, २९७
कुमार काश्यप—२७१
कुमारगुप्त—२०७, २५२
कुमारामात्य—२६७
कुररघरपपात—७९
कुरु—१, ११, ११४

कुरुक्षेत्र—१२
कुश—२५७
कुशध्वज—२५४
कुशीग्राम (दे० कुशीनगर)
कुशीनगर (कुसीनारा)—१०, १३, २३, २४, ८८, ९३, ९८, २४४-४५, २५६-६९, २८२, २९१-९३
कूटदन्त (ब्राह्मण)—८३
कूटागारशाला—८७ ९२
कृशा गौतमी—४१
कृष्ण (भगवान्)—११, २८४ २८६
कृषि भरद्वाज—७७
केकय (राज्य)—१
केनिय (कैनेय ऋषि)—८५, ८६
केरलपुत्र—३०६
केसपुत्त—५, १०७
कोकनद—११५
कोकालिक (भिक्षु)—८९
कोट्ठक—६
कोटमरक तिस्स (भिक्षु)—८०
कोटिग्राम—९१
कोरखत्तिय (योगी)—८८
कोलिय—१, ९, ३०, ३१, ४३, ७४, २६०
कोशल (अवध)—१-४, ७, ८ १२, २३, ३०, ६९ ७१, ८६, ९५, ९६, १०४, १०८, १११, ११३, ११६, १२१, १७५-७६, १७९, १८५, १९९, २४७, २६९-७१
कोशलदेवी—२
कोसंब कुटी—२७३
कोसेन्सु-नोस—२५३
कौडिन्य—२५१, २९५
कौशल्य आश्वलायन—४
कौशाम्बी (कोसंबी)—८-१४, २०, २३, ७६, ७७, ८८, ९३, ११३-१४, १५७, १८४-८५, १८७-८९, १९२-९३, २०६, २०८, २३९-४१, २५८, २७०, २७५, २७८, २९१, २९७, ३०१-२
ककुच्छंद (बुद्ध)—२४३-४४

ख

खरपल्लान—२८८-८९
खरोष्ट—२०४
खरोष्ठी—२८६
खलनस्स—२०५
खानुमत (ग्राम)—८३
खीजरी—२६९
खुज्जुत्तरा—११८, १२०
खेमा—१११
खेमियंब वन—३
खोमदुस्स (ग्राम)—१०,१०४

ग

गंगा—२२२, २३६, २३८
गंडक नदी—४, २५७
गंधकुटी—२७१
गंधार—१, ८०, ८३, १९५, १९७, २०१-०२, २०८, २६८, २७९-८०, २८५, ३०९
गग्ग—८६ ११३

गणक मोग्गलान—१२५, १२९
गर्दभ (यक्ष)—१७, २८३
गया—२४, ३०४
गयाशीर्ष (पहाडी)—४४, ५९
गया काश्यप—६०
गाहड़वाल (वश)—२५२, २९६
गिजकावसथ (ग्राम)—९१
गिरनार—३०१
गुजर्रा (स्थान)—२९९, ३०१, ३०५
गुणप्रभ—२३६
गुणमति—२११, २४७
गृध्रकूट (पर्वत)—८७
गोंडा—२, ९५, २६९
गोतमक—९२
गोदावरी (नदी)—१२, ८८
गोनद्ध (गोनर्द)—१२, २३, ८८
गोप (भिक्षु)—२४१
गोपा (दे० यशोधरा)—३८, ३९
गोपालपुर (ग्राम)—२०९
गोमती (नदी)—४
गोरखपुर—९५, २५६
गोविशन (गोविषाण)—२०८, २३५-३७
गोविदचन्द्र (राजा)—२५२
गौतम बुद्ध—२५, १४८, २४८

घ

घटिक—१७
घाघरा (नदी)—१२
घोषक—२११, २१७, २१८-१९
घोषक सेट्ठि—११४
घोषित (सेट्ठि)—९
घोषिताराम—९, १५७, २४०, २९७

च

चड प्रद्योत—७८, ८१, १०४
चडालकप्प (ग्राम)—५, १०५
चदनमाला—६
चंद्रकीर्ति—२२८, २३०
चद्रगुप्त—२६८
चंद्रमणि—२६९
चम्पारन—३०१
चबल (नदी)—११
चम्पा—२०, ८२, ८५, ९३, २०८, २५८, २७०
चकराता—३०४
चटगाँव—२६९
चष्टन (राजा)—२८५
चातुमा—१०
चातुम्महाराजिक—१२२
चापाल चेटिय (चैत्य)—९२
चारुवाकी—३०१
चालिय गिरि—७९, ८०
चिंचा माणविका—७३, २४२-४३
चित्तलद्रुग—२९८
चित्तगहपति—१२०, १८७
चीन—१९५, २३३, २५३
चुड—९३, २४४, २५९, २६२
चुडा (देवी)—२९०
चुनार—२७५, २७७, २९१
चेदि—२५२
चोल—३०६, ३१७

चौखंडी—२५५, २९५
चौबारा—२८६

छ

छदक—३४, ४३, ६४, ६६, ६८
छडगाँव—२६४
छन्न (भिक्षु)—९, १८७

ज

जगतसिंह—२०६, २५३, २९५
जटाभरद्वाज—१०४
जटिग रामेश्वर—३०१
जैटिलक—१८
जनक—१, २, ८, १५
जनपद सेट्ठि—२२
जनवद—२५४
जमालपुर—२८६
जम्बुद्वीप—२९, ७६
जम्बुग्राम—९२, २५९
जयगुप्त—२३६, २६८
जयचन्द्र—२५२
जयसिंहपुरा—२८६
जयभट्टा—२८६
जलालाबाद—२७७
जातुकर्ण्य—१
जानुस्सोणी—८७, ९५
जावा—२०८
जीवक—८०, ८१, १७९
जेट्ठक (ज्येष्ठक)—२०, २१
जेत (राजकुमार)—६, ७०, ७१, २७०, २७१
जेतवन—५, ६, ७०, ७१, ७३, ८७, १०७, ११२, १८५, १८६, १९६, २४१, २४२, २७०-७३, २८२
जेतवनाराम—२०६
जेन्त—३१
जौगढ—२९९, ३०१
जौनपुर—१४

त

तण्हकर—२५
तातपुर—२७९
तमसुरी (यक्षी)—१७
तलिस्सर—२५७
तक्षशिला—२०, ८२, ८३, ८६, २७८, २९४
ता-च्यग-टेग—२६३
ताम्रपर्णी—३०६, ३१७
तारा (देवी)—२६३, २९०
तारानाथ—२०१, २०८
तारुक्ख—९५, १०२
तिब्बत—२५३, ३००
तिमिमिका (यक्षी)—१७
तिलौरा कोट—२४७
तिस्स—१२८
तुरमय—३१७
तुषित स्वर्ग—२८
तेदण्डिक—१८
तोदेय्य—९५, १०५, १०६
तोपरा—३०१
तोरणवत्थु—११०
त्रपुस—५१
त्रयस्त्रिंश स्वर्ग—८, ३४, ७५, ७६, ८०

थ

थाना—३०१
थानेश्वर—२०८
थुल्लनन्दा—८९
थूण—३०

द

दण्डकप्प—५, ९५
दण्डपाणि—३८, ३९, ८९
दब्ब—२५८
दशरथ—४, ३०४
दाऊजी—२८५
दामसेन—२६८
दिघावु—२
दिल्ली—३०१
दीघकारायण—१११
दीघीति—२, ४, १८५
दीपकर—२६
दीपवती—२६
दुट्ठगामनि—२७१
देवदत्त—९, ३४, ३९, ६६, ६७, ८८ ८९, ९०, २४२, २४३, २७१
देवदह—१०, २४८
देवरिया—१०, २५६
देवशर्मा—७६, २११, २१२, २४१
देवहित—१०४
देवानपिय तिस्स—३०६
देहरादून—२१८, ३०१, ३०४
द्रोण—२५९, २६०
द्रोणवस्तु—५५, ५६
द्रोणोदन—६७

ध

धनजनी—१०५
धनञ्जय—७, २१, ८४
धनवती—२०५
धम्मदिण्ण (उपासक)—११९
धर्मेख (स्तूप)—२९५
धर्मजात—२१७
धर्मज्ञान—२१८, २१९
धर्मक—२११
धर्मपाल—२४१
धर्मालोक—३१
धवली—२७५, ३०१
धृतराष्ट्र—२

न

नगरक—१०, १११, २०५
नद—६६, ६७, १२८, १७३, २८०
नदमाता—८४
नदनगढ—२९६
नन्दोपनन्द (नागराज)—३४
नदिय—१८५
नकुल पिता—१२४
नकुल माता—१२३
नगरहार—२९४
नगरविन्द—५, ९५, १९९
नट—११७
नटा—१७
नटभट—२००, २३५
नडदियाक—२०४
नदीकाश्यप—६०
न्यग्रोध—४६, ६४, ८२

नरदत्त—३५
नर्मसिंहगुप्त—२१३, २१४
नवकर्म्मिक भरद्वाज—१०४, १०५
नवदेवकुल—२३८
नई दिल्ली—२८१, २९२
नागार्जुन—१४८, १४९, १९५, १९९, २४०
नागसेन—२०५
नागराजमहाकाल—१९६
नागार्जुनी—३०४
नागराज कलिक—४७
नादिका (दे० गिंजिकावसथ)
नाभक—३१७
नाभपति—३१७
नालक—५५, ५६
नालकापन (ग्राम)—५
नालन्दा—२३, ६२, ८२, ९०, २४१
नालागिरि (हस्ती)—८१, २१०
नालिजघ—१०९
निगंठ नाटपुत्त—१८ ८२, ८३, ८४, ८७, १२३
निगलीवा—२७५, २७९, ३०२
निग्रोध—१९५
निचक्षु—८.९
नीलकंठ—२१०
नीलभूति—१९८
नेपाल—२७५, २७९
नेरंजना (नदी)—४५, ४७
नौगढ—२४७
नौतनवाँ—१३, २४७

प

पकधा (ग्राम)—५
पचकगठपति—११९
पचाल—११, १५, २३, २९२
पजाब—२३३
पडुलोहितक—१८६
पडुपुर (ग्राम)—५
पकुद्ध कच्चायन—१८
पखना (बिहार)—२५४-५६, २९३
पच्चनीकसान—१०४
पटना—१३, २७६
पतिट्ठान—१२, ८८
पयागतित्थ—१३
परमार्थ—२०७, २११
परिवेण—६
परवम (ग्राम)—२८०, २८३
पर्यटि—२०८
पश्चिमी एशिया—३००
पाइय—३०६, ३१७
पाडव—३०
पाचीन वसदाय (ग्राम)—१८५
पाटलिगाम—९०
पाटलिपुत्र—१९६-९७, २०१-३, २१४, २४५, ३००, ३०२
पाटिकपुत्त—८८
पाणिनि—२२
प्रादेशिक (अधिकारी)—३०७
पार्वती—२६३
पारिलेय्यक (वन)—७६-७७
पार्श्वनाथ—२८४

पावा—१०, ११, १३, २३, ८८, ९३, २५६, २५९, २६०-२६२
पावारिक अबवन—९, ९०
पिगिय—८८
पिडोल भरद्वाज—९, ७३, ११८
पितिनिक—३१७
पिप्रावा (स्तूप)—९५
पिप्पलिवन—२६०
पियदस्सि (महाथेर)—२७१
पीलीभीत—२३६
पीलोशन्-न—२३५, २३७
पुक्कुस मल्लपुत्त—९३
पुण्णा—४६
पुण्णवड्ढन—८४
पुद्गलवाद—२२२
पुनब्बसु—३
पुब्बाराम—५, ६, १२२
पुलिद—३१७
पुष्करसाति (पुष्कर सारि)—८१, ८३
पुण्यबुद्धि—२०६
पूर्ण (पुण्णजी)—५८
पूरणकस्सप—१०७
पूरण—५८, ११२
पूर्णभद्र—१७
पूर्ण मैत्रायणीपुत्र—५६, २३४
पूर्व विदेह—२९
पेशावर—२०४, २१३, २३९, ३०१
पैठन—१२
पोक्खर सादि—९६, ९७, ९९, १०२
प्रजापति—१००
प्रज्ञापारमिता—२३४
प्रतीत्य समुत्पाद—१४६
प्रद्योत (पज्जोत)—९, ३०
प्रमोद वन—२४७
प्रयाग—२०८, २३९-४०, २७५, २९१, ३०१
प्रवाहण जैवलि—१५
प्रसेनजित् (पसेनदि)—१-४, ६, ७, १०, १२, २४, ७०-७३, ८४, ९५, ९७, १०७-१३, १७६, १८१, १९२, २४२, २४७, २७०-७३

फ

फर्रुखाबाद (फतेहगढ)—८, ११, ७६, २५४, २९३
फर्रुखसियर—३०१
फाहियान—५, १३, २०७, २३३-३८, २४१-४५, २४८, २५२-५४, २६१, २७२, २८६, २९९
फीरोज तुगलक—३०१

ब

बगाल—२९८
बधुल—२५८
बबई—३०१
बडौदा—२८३
बदायूं—११
बनस्पर (क्षत्रप)—२८८-८९
बनारस (दे० काशी)—३, ९, ११-१४, २२, २४, २५, २९, ५२, ७८, १५५, १७२-७३, १७६-७७, १९७, २०४, २५१, २८९-९०, २९५

बयाना—२७९, २८७
बरेली—११, २८१, २९२
बल (त्रिपिटकाचार्य)—२०६, २७२-७३, २७९, २८८-८९, २९१
बलराम—२७४, २८४
बलरामपुर—२६९, २७४
बलिया—१
बलदेव (स्थान)—२८५
बलोचिस्तान—२०४, २९८
बस्ती—९५, २९५
बहराइच—५, १२, ९५, २६९
बहुपुत्तक चेटिय (चैत्य)—६२, ९२
बहुवीति भरद्वाज—१०४
बालकलोणाकार (ग्राम)—१८५
बालादित्य—२१३-१४ २३९
बावरी—१२, ८७
बिंबिसार—२, २१, ५२, ६०, ८०-८४, ८९, ९७, १०७, १११, १७४
बिमहरीदेवी—२५५
बुंदेलखंड—२९२
बुद्धघोष—१४६, १४९, १७९, २५९
बुद्धदास—२४०
बुद्धदेव—२०५, २१२, २१९-२०
बुद्धमित्र—२०५-७, २१३, २८८
बुद्धिल—२०५
बुधगुप्त—२५२
बुलि—२६०
बुस्तन—२२२
बेदा (यक्षी)—१७
बेसनगर—१२, २७८
बैराट—३०१
बोधगया—२४७, २७१, २७७, २८१-८२, ३००
बोधि राजकुमार—९, ७६, ११४
बोधिसत्व—२५, २८, २९-३९, ४२, ४४-४७, ४९, ५०, ६६
ब्रह्मगिरि—३०१
ब्रह्मदत्त—२
ब्रह्मदेश—२६९
ब्रह्मा—८ ८४, १००, २५३
ब्रह्मायु—८६

भ

भग्ग—१, ११५, ११८
भगवा—८३, ८६
भगीरथ—४
भगु—९९
भट—१९८
भट्टा—१७
भण्डग्राम—२३, ९२, २६९
भण्डीर—१६
भद्र (बिहार)—२३८
भद्राकापिलेया (भद्रा कपिलानी)—६२, ६४
भद्रामुरियवच्चसा—८४
भद्दिय—५५, ६६, ६७, ८४
भरद्वाज—९९
भल्लिक—५१
भार्गवी—२५५
भारहुत—२७१, २७७, २८०, २८८

भावविवेक—२४१
भास्करवर्मा—२३८
भिक्खक ब्राह्मण—१०४
भीटक—२५५
भीटा—२१३
भुसागार—५
भेलसा—१२
भोगनगर—११, १३, ८८, ९२, ९३, २५१
भोज—३१७
भोणुक—२८५

म

मक्खलि गोसाल—१८, १०७
मक्करकट वन—७८
मकुल (पहाड़ी)—७५
मजुश्री—२३४, २३५
मजुवर—२१०
मडावर—२३६
मतानी—८६
मदगिरि—३०१
ममूरी—३०४
मकुटबधन चैत्य—२६२, २६४, २६६, २७१
मग—३१७
मगध—१, ७, ७१, ८३, १७५-७६, १८८, २०३, २६०
मगधराज—२६०
मघा (यक्षी)—१७
मच्छिकामण्ड—३, १८७
मज—२०५
मत्स्य—१, २
मनिपुर—२३६
मथुरा—११, २०, ३०, ७८, १९७-२०८, २२१-२२, २३३-३५, २५१-५६, २६५, २६७, २७२, २७६-९७
मध्यान्दिन—१९८-९९
मध्यातिक—१९७, १९९, २०३
मध्य एशिया—१९१, २०८
मध्यदेश—२०८
मधुरा—११, १३
मनसाकट—५, २५
मर्कट—५६
मल्ल—१, १०, ४३
मल्लिका—७, १०८, १०९, २५८, २६५, २७१
मल्लिकाराम—७
मल्लराष्ट्र—२६१
महमूद गजनवी—२८७
महाकप्फिन—८५, १८५
महाकात्यायन—७८, ९७, १८५, २२२
महाकाश्यप—६२, ६४, १६०, १७८, १८५, २६२, ३००
महाकोटिठल—१८५
महाकोशल—२
महाकौस्थिल—७६, २११
महाक्षत्रप—२४०
महागधकुटी—६
महाचुड—१८५
महाथेर पियदस्सि—२७१

महादेव—१९६
महाप्रजापति (गौतमी)—३५, ४२, ४३, ६४, ६६, ६७, ७४, ७५, १८५, २४२-४३, २४९
महामाया—३२, ३४, ३५, ७६, २४५, २६२
महामोग्गल्लान—१८५
महायान—२६, ८३, ८८
महाराम—१० ५५ १०८, ११७-१८, २७१
महालि—८७
महावीर (तीर्थंकर)—१०
महावीर (भिक्षु)—२६९
महासगति—३००
महासंघिक—२०७
महासम्मत—३०, १९७
महासाल—३०, ९५-९८
महासुदर्शन—२५७-५८
महिन्द—७८, ११६, ३००
महिसासक—२०४
महेत—२७३-७४
महोवा—२११-१२
माट (स्थान)—२८५
माधाता—१२
मागडिया—७७, ११४
माणविका—२४३
माणिभद्र—१६, २८३
मातुपोसक—१०४
माथाकुँवर—२६७
मानकुवार—२०७, २९३
मानत्थक—१०४
मानवविग्रह—१६
मानसेहरा—३०१, ३०४
मायादेवी—२४८, २४९, २६६
मारीची—२९०
मास्की—२९९, ३०१
माहिस्मती (माहिष्मती)—१२, २३
मिगार (सेट्ठि)—८४
मिगार मातुपासाद—६, ८४, १२२, १२५, १६१, २४२
मिगसाला—११२
मिथिला—३०, ८६
मित्रसेन—२३६
मिर्जापुर—१
मिस्र देश—३००, ३१७
मुचुलिंद—५१, २८४
मुजफ्फरनगर—१
मुण्डश्रावक—१८
मुद्गल पुत्र—२३४-३५
मुहम्मद गोरी—२५२
मृगदाव (विहार)—२४५-५०
मृगधर—२१
मृगवन—७
मेखला (यक्षी)—१७
मेघमाणव—२६
मेडक—२१, ८४
मेदलुम्प (उलुम्प)—१०
मेधकर—२५, १११
मेनाडर (मिलिंद)—२०१, २०५
मेरठ—३०१

मेसीडोनिया—३१७
मैनपुरी—२५४
मैनेय—४३
मैसूर—३०१
मैत्रेय (बोधिसत्व)—१४७, २३९, २४५, २९०, २९२
मोग्गलिपुततिस्स—१९५-९६, २०४, २२३, ३००
मोटा (स्टेशन)—२५४
मोहेंजोदडो—२८०
मौद्गल्यायन (मोग्गलान)—६, १८, ६१, ६२, ६८, ७६, ७८, ८५, ८९, २११, २३४, २३५, २४३, २७१

य

यमकभिक्खु—१६१
यमुना (नदी)—२३३-३४, २८५-८६, ३०४
यवन—३०९, ३१७
यश (थेर)—३, १३, २१, ५७, ५८, १७३
यशोद—५७
यशोधरा (दे० गोपा)—४३, ६६, ६७
यशदिन्न—२८६
यशोमित्र—२०५, २११, २२३, २३९
यष्टिवन (लट्ठिवन)—६०
यामतिग्ग—९९
युक्त (अधिकारी)—३०७
युधिष्ठिर—१६
यूनान—२७५, ३१६
यूफोच्चू—२६९
यूसुफजाई (तहसील)—३०१
येरंगुडि—३०१
योन-कंबोज—१०३

र

रम्मक—२७
राजक त्रिदडक—४४
राजकाराम—५, ६
राजगह (राजगृह)—१२-३, २०, २१, २३, ४४, ६२, ६४, ६८, ६९, ७१, ७२, ७७, ८०, ८२, ८३, ८८, ९०, ९३, २४५, २५८, २७०
राजगिर—(दे० राजगह)
राजञ्ञामहामाल—९९
राजप्रासाद—३२
राजस्थान—३०१
राजुक—३०७
राजोद्यान (लुम्बिनी)—२४७
राजुल (राजुवुल)—२०४, २०५, २७७, २८६
राज्यश्री—२२१, २३८
राप्ती (नदी)—५, १२
राम (बनारस का राजा)—९
रामग्राम—२४३-४४, २६०
रामपुर—२३६
रामपुरवा—२७५, ३०१
रामाभार—२६३, २६६
राहुल—४१, ६६, ६८, १२९, १३०, १५३, १७३, १८५, २०३, २३४, २३५

रुद्रक रामपुत्र (उद्दक रामपुत्त)—४४, ५२
रुम्मनदेई (लुबिनी)—२४७
रुहेलखण्ड—११, २३६
रूपदेई (लुबिनी)—२४७
रूपनाथ—३०१
रूपवास—२७९, २८९
रेवत (थेर)—१३, १८५
रेवती—१७
रैवतक—४४
रोहिणी (नदी)—७४
रोहित—४

ल

लका—३०६, ३१७
लक्ष्मीदेवी—१७
लखनऊ—२६८, २७४, २७८, २८०, २८६, २९२
लव—२६९
लिच्छवि—८७, ९१, २६०
लुबिनी—१०, ३४, ३५, २४३, २४७-४९, २७५, २८२, ३००-३
लुखयापूरण—१०४
लोका—१७
लोहिच्च (ब्राह्मण)—९७
लौरिया—३०१

व

वक्कालि—८७
व्याघ्रपज्ज—३१
वज्रघट—२९०
वज्रपाणि—२४५, २६१-६२
वज्जि—१
वजिरा—३, १०९
वज्जिपुत्तक—२०४
वत्स (वस)—१, ८, ३०
वनमाह्वय—१२
वप्प—५५, ६१
वरुण—१००
वरुणा (नदी)—५७, २४५, २५३
वलभी—२२२
वशिष्ठ (वसिट्ठ)—२३, ९८
वसतपाल—२२५
वसुधारा—२९०
वसुबधु—१४९, १९५, २०७, २११-१४, २१७-२०, २२३, २३६, २३८, २३९
वसुमित्र—७६, २०४, २११, २१४, २१८-१९, २२३
वाजिदपुर—२९३
वामक—९९
वामदेव—९९
वाराणसी—२०, ५३, ५६, ५७, ९३, ११९, १६०, १७६, १८८, २०८, २२२, २४५, २७०
वामभगाम—३
वामभग्वत्तिया—१०, १०८, १०९
वासवदत्ता (वासुलदत्ता)—९, ११४, २००
विडूडभ (विरुद्धक)—१०, १०९, १११, २४२-४३ २७१,
विदिशा—१२, २३, ८८

विदेह—१, ८६
विंध्य (पर्वत)—१५६
विंध्य प्रदेश—३०१, ३०५
विनीतदेव—२०४, २२०, २२३
विमल—५८
विमल मित्र—२३६
विशाखा—६७, ८४ १२२, १२३, १७५-७६, १८०, १८५, १८९, २४१-४२, २७१-७२
विशोक—२२२, २४१
विश्वामित्र—३६
वीर्यसेन—२३८
वु-कुग—२४९
वेठद्वीप (विष्णुद्वीप)—२६०
वेनागपुर—५, ९५
वेरज—१३, ७७, ७९
वेरहच्चानि (ब्राह्मणी)—९९
वेलकटकी—८४, १२०
वेलट्ठिपुत्त—६१
वेलुगाम—९७
वेलुद्वार—५, ९५
वेलुवन—५७, ६१
वेस्सामित्त (ब्राह्मण)—९९
वैरंभ—१९९
वैशाली—१३, २०, २३, ३०, ४४, ७३, ७४, ८८, ९१—९३, १८७-८८, १९९, २२२, २४५, २५९-६०, ३००

श

शकर—२६३
शतानीक—२, ९
शतानीक सत्रजित्—२
शशाक—२२८
श्वेतकेतु—२, १५
शांतरक्षित—२२३-२५, २२८
शाक्य—२६०
शाक्यमुनि—६९, २४६
शाणकवासी—१९९, २००
शालवन—९३, २४५, २५७, २६२-६४, २९१
शाहबाजगढी—३०१, ३०४
शिकोहाबाद—२५४
शीलभद्र—२४०
शुद्धोधन—४, ३१, ३२, ३५, ३८, ४२-३ ५५, ६४-६७, ७४, १०८, १७३
शूरसेन—१, ११, २३, १९७
शूलपाणि—१६
शेरशाह—२९५
शोडास—२७७
श्रावस्ती—(दे० सावत्थी)
श्रीराम—४, २६९
श्रोण कोटिकर्ण्य—७९
श्रोणकोटिविंश—८१, ८२, १७६

स

सकस्स (दे० साकाश्य)
सगरव—१०४-५
सघभद्र—१९७, २१२-१३, २३६
सवमित्रा—७९, १९६, ३००
सघाराम—३०२

सजय (वेलट्ठपुत्त)—१८, ६२
सभूत—१९९
सक्खर—१०
सच्चक—८७
सतकणिक—३०
सतम्बक—९२
समण गोतम—९६, ९७
सम्मितीय—२०३, २०७
समुद्रगुप्त—३०१
सरस्वती—२९०
सर्वास्तिवादिन—३०, २०३-४, २०६-७
सरयू (नदी)—४
सलालघर—६
सलालवती (नदी)—३०
सहजाति—१७
सहसराम—३०१
सहेत-महेत—५, १२ २४१, २६९-७० २७३-७४
साकाश्य (सकस्स)—८, १३, १७ ३६ ३८ २३५-३७, २५४-५५ २७५ २९१-९३
साची—२५१, २६० २७३-८० २८८ २९४ २९६ ३०२
साकेत—५ ७ १२ २०, २२, ३१ ५८, ८४ ८८ ९३, ११० १७८, १९०, १९९ २१२, २३८-३९, २४१-४२, २५८ २७०
सागल—६३
सातिरपुत्र—३०६
साधुका—५
सानकवासी—१९७, २०३-४
सामगाम—१०
सामावती—७७, ११४
सारनाथ—२०, ५३, २०४, २०६-७, २२१, २४६, २५०-५२, २६७, २७२ २७५-८४, २८७-९०, २९३-९६, ३००, ३०२
सारिपुत्र—५, ६, ५६, ६१, ६२, ६६, ६७-७१, ७६, ८४, ८५, ८९, ११० १६०-६१ १७३ १८५, १९०, २११, २३४-३५, २४२-४३, २७०-७१
साल—५
सालवतिका—५
सालावती (सिलावती)—१०, ८० ९५
सावत्थी (श्रावस्ती)—३-८, १२-१४, २०, २३-२५ ७०-७४, ७९-८०, ८१, ८७, ९३, १०१, १०३, १०७-८, ११०-१२, ११९, १२५, १२९, १५५ १६१-६२, १७१-८१, १८५-९३, १९९, २०४, २०६, २३२, २४१-४३, २५८, २६९-७४, २७८-७९, २८२, २८९-९१, २९७ ३००
सिंध—२२२
सिंहनाद अवलोकितेश्वर—२९२
सिंहल—१९६, २७१, ३०६ ३१७
सिद्धपुर—३०१ ३०४

सिद्धार्थ (गौतम)—१, ११, २४, ३४-३७, ५५-५७, ६४, ६६, ८८, २०६, २४३-४४, २४८
सिद्धैकवीर—२९०
सिल्यृकम—३०६
सीतावन (चैत्य)—६९
सीरध्वज—२५४
सीरिया—३०६, ३१७
सीलोन—३०६
सीह—८७
सुदरिक भरद्वाज—१०४
सुदरिका (नदी)—४
सुदरी—२४२
सुसुमारगिरि—७६, ११५, ११८
सुकुला—१०९
सुजात—३१
सुजाता—४७, १२४
सुजानकोट—७, १२
सुदत्त—६९, २७०-७१
सुदस्सन (विहार)—२७
सुधम्म (भिक्षु)—१८७
सुधिक भरद्वाज—१०४
सुनक्खत्त—८८
सुप्पबुद्ध—६७, ८९, २४७-४८
सुपार्श्व—२८४
सुबाहु—३०, ५८
सुभनोदेय्यपुत्त—१०३, ११६
सुभद्द—९४, २४५, २५९-६४, २९१
सुमना—१२१
सुमात्रा—२०८
सुमित्र—३०
सुमेध (ब्राह्मण)—२६, २८
सुमेर—२७६
सुरप्रिय—१७
सुरम्बर—१६
सुलतानपुर—१४
सुवर्णप्रभास—४७
सेतव्य—५, १३, २३, ९५
सेनहस्ति—१८५
सेनानी—४६
सेल (शैलऋषि)—८४, ८५
सेला—८
सोणदण्ड—८५
सोपारा—३०१
सोम—१००, १०९
सोरेय्य—१३, ७८
सौदरानन्द—३९
सौराष्ट्र—३०१
स्थानेश्वर—२३५-३६
स्थिरपाल—२५२
स्थिरमति—२११, २४१
स्रुघ्न—२३५-३६

ह

हजारा—३०१
हत्थक—८, १२०, १९१
हमीरपुर—२९२
हयमुख—२०८, २२२, २३९-४०
हर्षवर्द्धन—२०३, २०५, २२१, २३७-४०, २५२, २६२
हरिबल—२६५, २६८, २९१

हरिद्वार—२३६
हरिश्चन्द्र—४
हस्तिग्राम—२३, ९२, २५९
हस्तिनापुर—८, ३०, २९३
हस्तिपालक—११४
हारीति—२८३-८४
हिंदूकुश—२९८
हिमवत (हिमालय)—२६, २९८
हिरण्य (पर्वत)—२२२
हिरण्यनाभ—४
हिरण्यवती (नदी)—२४५, २५७
हीनयान—८३
हुएनसांग—५, १९६-९७, २०७, २२१-२२, २३३-४८, २५२-५५, २५७, २६१-६२, २७२-७३, २८६, २९५, २९९
हुमायूं—२९५
हुविष्क—२०५, २२१, २८५
हेरुक—२९०
हेलियोदोर—२७८
हैदराबाद—१२, २९९, ३०१
हैरण्यनाभ कौशल्य—४

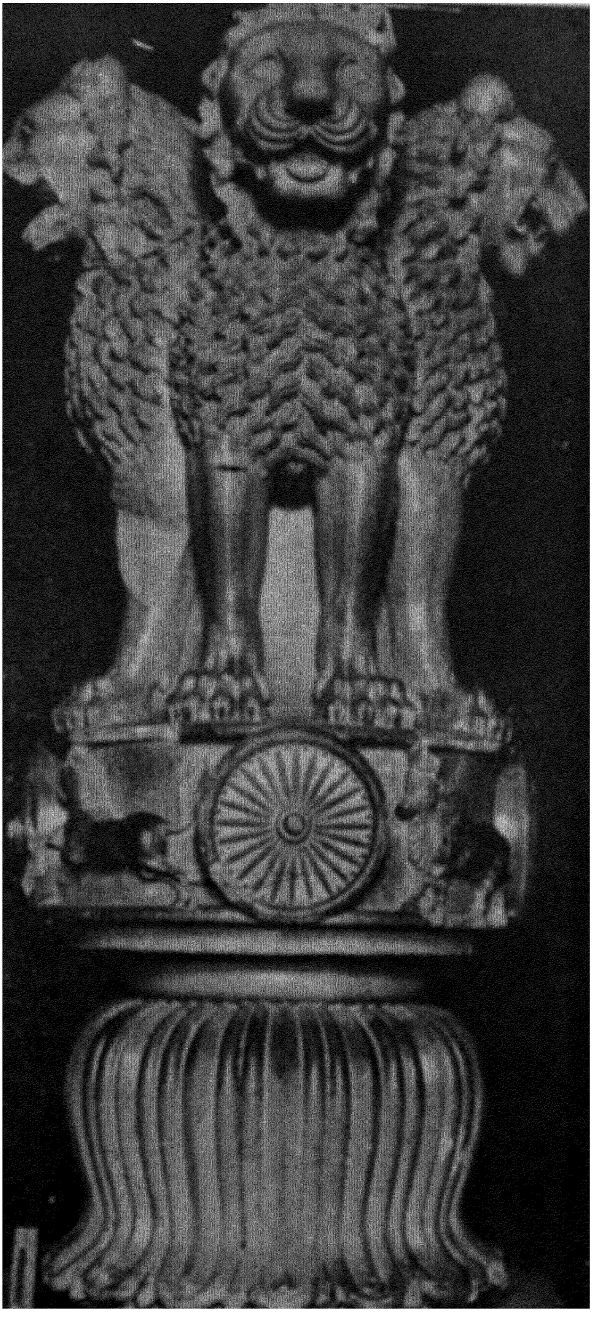

फलक १

सारनाथ में अशोक-स्तम्भ के ऊपर का ओपयुक्त शीर्ष (परगहा) जिस पर सिंहों तथा अन्य पशुओं का कलापूर्ण चित्रण है। ई० पू० तीसरी शती।

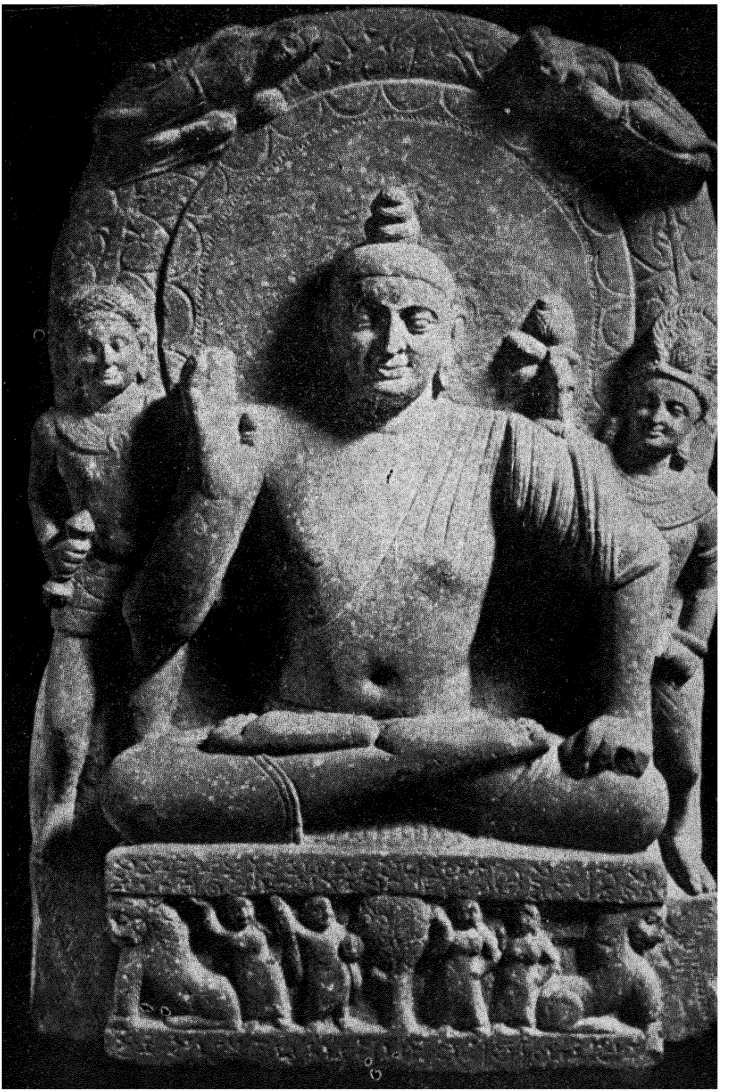

फलक २

अभयमुद्रा में बुद्ध की सर्वांगपूर्ण मूर्ति जिसकी चौकी पर ई० दूसरी शती का ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। मथुरा शैली की लाल बलुए पत्थर की प्रतिमा
आहिच्छत्रा (जि० बरेली) से प्राप्त। (राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली)

फलक ३

बाएं हाथ में अमृत-घट लिये हुए प्रभामंडल सहित बोधिसत्व मैत्रेय की प्रतिमा।
संभवतः ईसवी तीसरी शती, मथुरा शैली, अहिच्छत्रा से प्राप्त।
(राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)

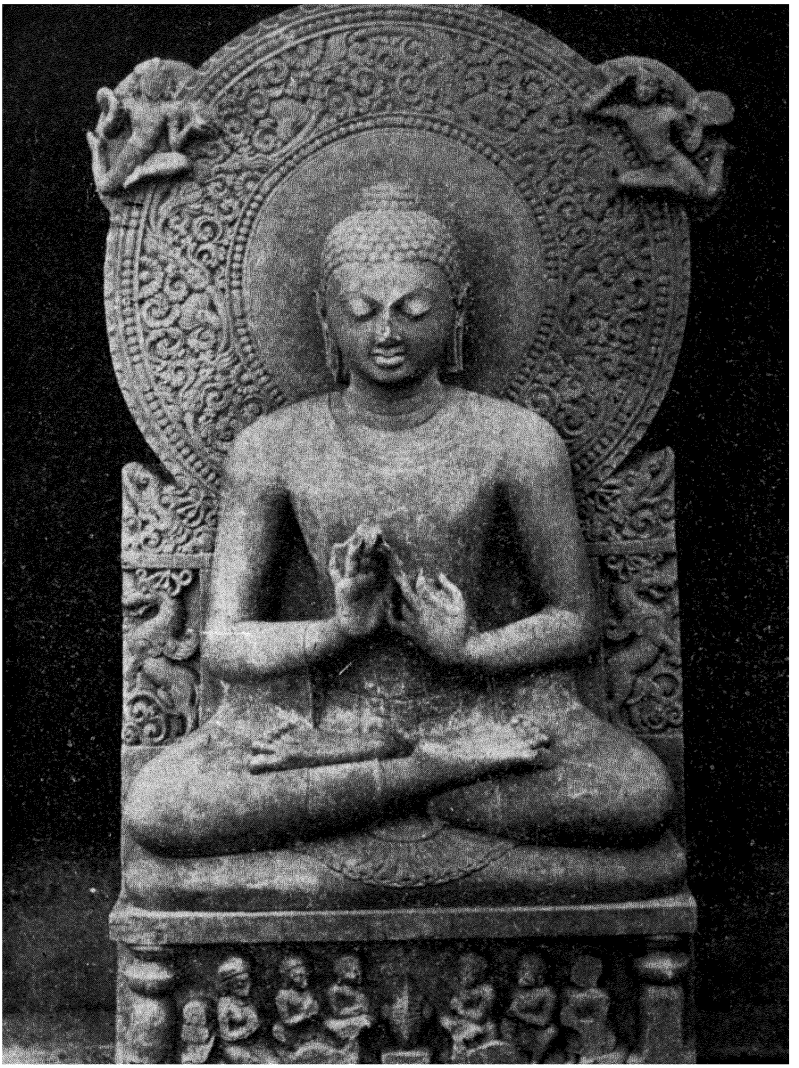

फलक ३

धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में स्थित बुद्ध का अमरावती कलाशैली पाँचवीं शती (सारनाथ संग्रहालय)

फलक ५

अलंकृत प्रभामंडल सहित बुद्ध की खड़ी हुई मूर्ति। समय ६०० पाश्चात्य
शती। मथुरा से प्राप्त। (राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली)

फलक ६

सिंहनाद अवलोकितेश्वर । समय ई० १०वीं शती महोबा से प्राप्त
(राजकीय संग्रहालय लखनऊ)

फलक ७

बौद्ध देवी वज्रतारा की प्रतिमा, ९-१० वीं सदी
(सारनाथ संग्रहालय)